हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

(संयुक्ताङ्क)

भाग ३०	जनवरी-दिसम्बर
अङ्क १-४	सन् १६६६ ई०

प्रधान सम्पादक

बालकृष्ण राव

●

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्तांक १० रुपया वार्षिक : १० रुपया

अनुक्रम

प्रतिपत्तिका

★

भावाभिव्यक्ति का सर्जनात्मक भाषिक रूप

सुरेशचन्द्र मिश्र

सर्जन की सापेक्षता में काव्य-भाषा और सर्जनात्मक भाषा एक ही है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की काव्य-विषयक परिभाषा और विवेचना इसी दृष्टि से की गई है। डॉ० चतुर्वेदी ने काव्य-भाषा के अन्तर्गत कविता की भाषा और गद्य की भाषा, दोनों को समाहित किया है। यही नहीं, उन्होंने प्रत्यक्षतः यह निर्दिष्ट किया है कि काव्य-भाषा का अर्थ मात्र कविता की ही भाषा से नहीं है। काव्य-भाषा विषयक इस सम्पूर्ण विवेचन को पाश्चात्य साहित्य के क्रम से जोडा जा सकता है। अंतर यह है कि वहाँ काव्य-भाषा का वह अर्थ नहीं है, जो यहाँ लिया जाता है। वस्तुतः वहाँ काव्य-भाषा को सर्जनात्मक भाषा का एक भेद माना जाता है। ओवेन वारफील्ड के जिस मत को 'भाषा और संवेदना' में उद्धृत किया गया है, वह मत काव्य से ही सम्बद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण पुस्तक में गद्य का कोई भी उदाहरण नहीं है और लेखक का यह मन्तव्य भी नहीं मालूम पड़ता। डॉ० चतुर्वेदी ने जिसे काव्य-भाषा के रूप में उद्धृत किया है, उसे काव्य-भाषा की परिभाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वारफील्ड की दृष्टि में महत्व विशिष्ट पद्धति का है, जिसे शब्द-संघटना कहा जा सकता है। उनके अनुसार 'जब शब्दों का चुनाव' और उनका संघटन इस रूप में किया जाय कि उनका अर्थ सौन्दर्यात्मक कल्पना के रूप में जाग्रत हो उठे, तो उसे काव्य-रीति (पोयटिक डिक्सन) कहते हैं।'[1] यद्यपि वारफील्ड ने अपने सम्पूर्ण पुस्तक में भाषा विषयक विवेचन पर बल दिया है, लेकिन वह काव्य-भाषा को एक मूल्य के रूप मे मान्यता नहीं देता। यदि उसके इस मत को काव्य-भाषा से सम्बद्ध मानकर उद्धृत किया जाय तो 'विशिष्ट पद रचना रीति' जैसे सिद्धान्त को भी मान्यता मिलनी चाहिये। वस्तुतः काव्य-भाषा में काव्य शब्द ही भ्रम का कारण बनता है, यही कारण है कि काव्य-भाषा से तात्पर्य प्रायः काव्य नामक विशिष्ट साहित्य-रूप से जोड़ लिया जाता है।

काव्य-भाषा और सामान्य भाषा में गुणात्मक भेद होता है। सामान्य भाषा सूचनात्मक सीमित तथा निश्चित अर्थों को ही देती ह उसका सम्बन्ध प्राय अनुभूतियों से न

संस्थानों (पैटर्न्स) से होता है। सामान्य भाषा बोलचाल की भाषा के रूप में ग्रहण की जाती है। साहित्यिक स्तर पर प्रयुक्त भाषा और बोलचाल की भाषा में भाषा-वैज्ञानिकों तथा भाषा-दार्शनिकों, दोनों ने अन्तर किया है। सामान्य भाषा का लक्ष्य होता है—किसी निश्चित अर्थ को बोधगम्य बनाना। इस भाषा में प्रयुक्त शब्द एक निश्चित अर्थ रखते हैं और वे शब्द समाज की इकाइयों के पारस्परिक विचार-विनिमय और तर्क-वितर्क में हैं। सामान्य भाषा में प्रतीक का नहीं, चिन्हों का प्रयोग होता है। कुछ ऐसे प्रतीकों, जिनका प्रयोग होता भी है, को प्रतीक न कहकर चिन्ह ही कहना ठीक होगा। इसलिए कि जब प्रतीक का अर्थ रूढ़ हो जाता है तो वे स्वयं चिन्ह बन जाते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा के कई स्तर तो होते हैं लेकिन इन सभी स्तरों पर भाषा का प्रयोग एक निश्चित रूप में ही किया जाता है। इस भाषा में यथातथ्यता के गुण निहित रहते हैं। काव्य-भाषा का सम्बन्ध प्रतीकों से होता है। अनुभूतियों से सम्बद्ध होने के कारण शब्द के निश्चित अर्थ को ही न सम्प्रेषित कर, उसके अनुभूतिगत अर्थ को भी काव्य-भाषा अभिव्यक्ति देती है। काव्य-भाषा की दृष्टि से शब्द अमूर्त होते हैं, जबकि सामान्य भाषा की दृष्टि से मूर्त। विन्टेमेस्टाइन के मतानुसार, 'काव्य-भाषा शब्दों के अर्थ को प्रयोग-सापेक्ष मानती है, जबकि सामान्य भाषा व्यवहार सापेक्ष।'[1] काव्य भाषा में शब्दों का विकास प्रतीक से बिम्ब की ओर होता है, सामान्य भाषा में प्रतीक से चिन्ह की ओर। काव्य-भाषा में शब्दों को या तो उनके चरम अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है या प्रतीक के रूप में उनके किसी सीमित अर्थ को प्रयुक्त किया जाता है, जबकि सामान्य भाषा में शब्द को उनके प्रचलित अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। काव्य-भाषा के मूल में सौंदर्यमूलक विचारधारा तथा सर्जन के व्यक्तित्व का महत्व होता है, सामान्य भाषा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। डॉ० विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में 'सामान्य भाषा का प्रयोजन सूचना देना है और सूचना देकर इसकी उपयोगिता चुक जाती है। इसके विपरीत काव्य-भाषा अपने आप में स्वयं प्रयोजन है, जो बार-बार पढ़ी जाकर और बार-बार आस्वादित होकर भी कुमारी और नई बनी रहती है। काव्य का आस्वादन शब्दों के निष्पीड़न से होता है। वस्तुतः सहृदय व्यक्ति उसी कविता को बार-बार पढ़ता है और आस्वादन करता है। एक बार प्रतीत हो जाने पर भी काव्यपंक्ति अपना मूल्य नहीं खोती, जबकि सामान्य भाषा में ठीक इसके विपरीत यह नियम लागू होता है कि जिन चीजों का उपयोग हो गया है, वे प्रयुक्त हो जाने के बाद हेय हो जाती है।'[2] डॉ० रामकुमार सिंह ने अपने 'आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा' नामक शोध-प्रबन्ध में काव्य-भाषा और सामान्य भाषा का विस्तृत रूप से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सामान्य भाषा लोक-व्यवहार की भाषा है। उसका मुख्य लक्ष्य होता है जिस किसी भी प्रकार बोधगम्य रूप में अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करना और इस प्रकार दैनिक जीवन के तर्कपूर्ण कार्यों का संपादन करना। वह बौद्धिक एवं

---

१. विन्टेमेस्टाइन के शब्दों की छानबीन—देवकीनन्दन द्विवेदी, क ख ग, भाषा अङ्क।

२. 'रस सम्प्रदाय' : एक टिप्पणी—डॉ० विद्यानिवास मिश्र, कल्पना, जुलाई १९६७।

तर्कपूर्ण संकेत वाले तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करती है। उसमें बोधात्मकता, सरलता, सहजता, सप्राणता, व्याकरण-सम्यकता आदि मूलभूत गुण होते हैं। इस आधार पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामान्य भाषा यथातथ्य कथन की ही प्रवृत्ति से समन्वित होती है, जिसे सभी उसी रूप में समझते हैं। वह वस्तुनिष्ठ एवं सूचना-मूलक होती है, किन्तु काव्य-भाषा व्यक्तिनिष्ठ एवं उत्तेजनामूलक होती है। उसमें यथातथ्य कथन की बात न होकर, अतिरंजित कथन की प्रणाली मात्र होती है। सामान्य भाषा में अनुभूति इतिवृत्तात्मक रूप में प्रतिष्ठित रहती है किन्तु काव्य-भाषा में अनुभूति को आनन्दात्मक रूप में प्रयोजित करने की क्षमता होती है। सामान्य भाषा में कोशगत अर्थ की ही महत्ता रहती है, काव्य-भाषा में शब्द और अर्थ को समान एवं विशिष्ट महत्व प्राप्त होता है। काव्य-भाषा का एक लक्ष्य भावचित्रों को उभार कर सौन्दर्य की सृष्टि करना भी होता है, किन्तु सामान्य भाषा में ऐसा नहीं होता। सामान्य भाषा जहाँ वर्ण्य का केवल बोध कराती है, वहाँ काव्य-भाषा वर्ण्य के साथ-ही-साथ उसकी रसात्मक अनुभूति भी कराती चलती है। काव्य-भाषा कवि की भावात्मक स्थिति से अनुशासित होती है और विषय तथा काव्यरूप से नियंत्रित होती है तथा युग एवं परिस्थिति के अनुसार अपना रूप सँवारती है, किन्तु सामान्य भाषा में इसकी कोई महत्ता नहीं होती।'[1] डॉ० रामकुमार सिंह की कई बातों से सहमत नहीं हुआ जा सकता। वे काव्य-भाषा को उत्तेजनामूलक मानते हैं, जबकि उत्तेजना सामान्य भाषा का लक्षण है। काव्य-भाषा को अतिरंजित कथन की प्रणाली मानकर उन्होंने विषय की अनभिज्ञता प्रकट की है। अतिरंजित कथन का संबंध लोक-गीतों और परियों की कहानियों से है। काव्य-भाषा जैसी गुणात्मक मूल्य से उसे जोड़ना निरा भ्रामक है। काव्य-भाषा को विषय तथा काव्य-रूप से नियंत्रित एवं एकाकी भावात्मक स्थिति से उसे अनुशासित मानकर उन्होंने परम्परा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है, जबकि काव्य-भाषा विषय एवं काव्य-रूप तथा कवि की भावात्मक स्थिति को स्वयं नियंत्रित और अनुशासित करती है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस विषय पर विचार करते हुए निश्चित रूप से कुछ महत्वपूर्ण अंतर निर्धारित किया है—'सामान्य भाषा और काव्य-भाषा का अन्तर इस बात में है कि सामान्य भाषा शब्दों के साथ उनके सुनिश्चित अर्थ होने को उचित और वांछनीय समझती है, जबकि काव्य-भाषा के लिए यह सुनिश्चितता सह्य नहीं है। वह शब्दों के रूप को बार-बार अमूर्त करती है। जैसे ही यह अनुभव होता है कि किसी शब्द के साथ कोई विशिष्ट अर्थ बहुत अधिक सम्बद्ध हो गया है, कवि बलपूर्वक उसे अलग कर लेना चाहता है। अर्थ की स्थूलता को तोड़कर उसकी अमूर्त और उन्मुक्त प्रकृति को पुन स्थापित करता है।'[2]

सामान्य भाषा और काव्य-भाषा के अन्तर को एक दूसरे रूप से भी देखा और समझा जा सकता है। वह अन्तर यथार्थ के संगठन और विस्तार का है। सामान्य भाषा में प्रथम तो यथार्थ की अनुभूति ही नहीं हो पाती और यदि हुई भी तो वह बिखरी और विश्रृंखलित होती

---

१. डॉ० रामकुमार सिंह—आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा, पृ० १८४।
२ डॉ० चतुर्वेदी भाषा और संवेदना, पृ० १४

है। काव्य-भाषा का महत्वपूर्ण गुण है—यथार्थ से सम्बद्ध अनुभूति को इस रूप में अभिव्यक्त करना कि वे अनुभूतियाँ परस्पर एक दूसरे से कटी हुई न मालूम पड़ें। जहाँ तक सांस्कृतिक संघात का प्रश्न है, इस ओर डॉ० चतुर्वेदी ने महत्वपूर्ण संकेत किया है, 'सामान्य भाषा मे सामाजिक परिस्थितियों का संघात अपेक्षया कम है, पर काव्य-भाषा के क्षेत्र में सांस्कृतिक चेतना का महत्व अप्रतिम है। काव्य-भाषा का अपने कर्त्ताओं की संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वस्तुतः उसका स्वरूप एक बड़ी सीमा तक सांस्कृतिक आधार पर गठित होता है। प्रतीकों तथा भावचित्रों के विधान में काव्य-भाषा अपने सांस्कृतिक परिवेश से अनिवार्यतः जुडी रहती है।'[1]

सर्जनात्मक भाषा के कविता और गद्य-रूपों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने दो अन्तर निर्धारित किये हैं और ये दोनों अन्तर भाषा की प्रयोगविधि से सम्बद्ध हैं। प्रथम अन्तर इस बात का है कि कथा-साहित्य में जहाँ शब्दो के चरम अर्थ को अभिव्यंजित किया जाता है, वहाँ कविता में शब्दों के किसी ऐसे अर्थ को लिया जा सकता है जिसकी तुलना हम परमाणुयांत्रिक (न्यूक्लियस) से कर सकते हैं। दूसरा और कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण अन्तर प्रतीकों और बिम्बों का है। कविता की भाषा का सम्बन्ध प्रतीक और बिम्बों से अधिक होता है, जबकि कथा-साहित्य की भाषा रूपक, लक्षणा और व्यंजना से अधिक सम्बद्ध होती है। कविता की भाषा मे रागात्मक तत्व की संगति होती है, कथा-साहित्य की भाषा में बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान होता है। कविता की भाषा में बोलचाल की भाषा अथवा लोकजीवन की शब्दावली प्रायः पायी जाती है, जब कि गद्यभाषा का स्तर इस प्रकार गठित एवं कसा हुआ होता है कि उसमे इसकी कमी रहती है। कथा-साहित्य की भाषा में सर्जक को किसी शब्द मे कभी-कभी नवीन अर्थ भी भरना पड़ता है परन्तु शब्द के सन्निहित अर्थ को उससे बलात् खींच भी लिया जाता है। गद्य और कविता की भाषा के अन्तर को स्पष्ट करते हुये बिम्ब गठन को महत्वपूर्ण कारण माना गया है। वस्तुतः सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से कथा-साहित्य की भाषा का प्रत्येक शब्द ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वह शब्द न होकर एक व्यक्तित्व हो। प्रत्येक शब्द खराद पर चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। कविता की भाषा में उन्मुक्तता होती है, विस्तार होता है, सहृदय या पाठक की दृष्टि से एक खुलापन होता है, जबकि कथा-साहित्य की भाषा मे एक कसाव और संकोच होता है। हरबर्ट रीड[2] ने गद्य और पद्य की भाषा में वर्णनात्मकता के आधार पर ही अन्तर निर्धारित किया है। उन्होंने गद्य का सम्बन्ध यथार्थ के निकट जोड़ा है। गद्य और पद्य के अन्तर को निर्धारित करते हुये मीडिल्टन मरी का कथन है कि 'गद्य का विशिष्ट गुण यह है कि वह विवेचनात्मक होता है और यही वह महत्वपूर्ण गुण है जो कविता में नहीं होता।'[3] यदि यह गुण कविता में भी हो तो उसे काव्य न कहकर छन्दों मे रचित गद्य कहा जा सकता है। कविता और गद्य की भाषा का अन्तर मात्र शब्दावली का ही

१. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—भाषा और संवेदना, पृ० ४६।

२. हरबर्ट रीड—द फार्म्स आफ थिंग्स अननोन, पृ० ४०।

३ मिडिल्टन मरी—द प्राबलेम आफ स्टाइल, पृ० ६०।

न होकर भाषा प्रयोग-विधि का भी है। कविता में शब्दों का प्रयोग जिस ढंग से होता है उस प्रकार कथा-साहित्य मे नहीं होता। इसका कारण मानव-मस्तिष्क है, जो संयोजन का कार्य करता है। हम जिस भाषा में सोचते और अनुभव करते है और जिसमें अभिव्यक्ति करते है उन दोनों में अन्तर होता है। एक में बिम्ब और प्रतीक सक्रिय रहते हैं और दूसरे में निष्क्रिय। 'आँगन के पार द्वार' और 'अपने अपने अजनबी' की मूल प्रवृत्ति प्राय: एक ही है और दोनों में ऐतिहासिक क्रम भी एक ही है, फिर भी इनकी भाषा में महत्वपूर्ण अन्तर है और यह अन्तर मात्र इन्हीं दो में नहीं है। 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि 'बावरा अहेरी' या 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'आँगन के पार द्वार' की कविताओं में है। 'आँगन के पार द्वार' की भाषा बिम्बात्मक तो है, परन्तु रूपक का भी प्रयोग है। भाषा का रूप इतना उत्तम है कि सम्पूर्ण कथ्य सम्प्रेषित हो जाता है। 'अपने अपने अजनबी' की भाषा में अनगढ़पन है, रूपकों की कमी है, लोक-जीवन की शब्दावली भी नहीं है फिर भी किसी उच्च दार्शनिक की कृति मालूम पड़ती है।

काव्य-भाषा के विवेचन से ही सम्बन्धित प्रश्न भाव और भाषा के उद्गम तथा उसके पारस्परिक संबंध का है। यह प्रश्न प्राचीन काल से ही बड़ा जटिल रहा है। टी० एस० इलियट से पूर्व पाश्चात्य साहित्य में भाषा के महत्व को स्वीकार किया गया था, लेकिन उसे भावों का अनुगामी ही माना गया था। इलियट ही वह प्रथम व्यक्ति है जो यह कहने का साहस कर सका कि भाषा भावों की अनुगामिनी नहीं वरन् वही सब कुछ है। भारतीय काव्यशास्त्र मे भी अभिधावादी विचारक भाषा को महत्वपूर्ण स्थान देते थे। डॉ० देवराज उपाध्याय के अनुसार तो 'मुझे यह कहने की इच्छा हो रही है कि भाषा को ही कविता समझने वाले जिन पाश्चात्य आलोचकों की चर्चा ऊपर की गई है, उन्हें हम संस्कृत साहित्य के देहात्मवादियो के साथ मिलाकर देखें तो कैसा रहेगा। मेरा विचार है कि इनमें आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। शब्दार्थौ सहितौ काव्य।' भाव और भाषा का यह प्रश्न दोनों के उद्गम से जुड़ा है। भाषा और भाव में कौन सबसे पहले है और कौन किसके बाद, अथवा दोनों साथ ही साथ हैं, यही तीन स्थितियाँ संभव हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक कथा आती है, जो इस विवाद के एक पहलू का प्राचीनतम रूप कही जा सकती है। एक बार मन और वाणी में यह विवाद छिड़ा कि दोनो मे बड़ा कौन है। वाणी अपने को बड़ी कहती थी और अपना अस्तित्व मन से पहले बताती थी। मन का कहना था कि मैं बड़ा हूँ और मेरा अस्तित्व तुमसे पहले है। संघर्ष इतना बढ़ा कि देवताओं में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं हो पाया। परिणामत: वाणी और मन के समर्थन मे अलग-अलग दो दल बन गए। अन्त में अनिर्णय की स्थिति में वे समवेत रूप में ब्रह्मा के पास गए और ब्रह्मा ने अपना निर्णय मन के पक्ष में दिया[2]। पतंजलि ने इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा कि वस्तुत: भाव और भाषा का उद्गम एक ही है। भाव के संबध में केवल यही एक वास्तविकता कही जा सकती है कि उसका संबंध विचारों से है और

१. डॉ० देवराज उपाध्याय—साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ८०।

२ शतपथ ब्राह्मण, ४-८ १०।

ये विचार तभी उठते हैं जब हम किसी वस्तु के प्रति सचेत रहते हैं। हम भाव की सत्ता इसी स्थिति में मान सकते हैं। बाह्य संसार हमारे भाव या विचारों के आश्रित रहता है, उसी सीमा तक, जिस सीमा तक हम स्वयं उसके प्रति सचेत रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भावों के उद्गम के लिए किसी-न-किसी आब्जेक्ट का होना आवश्यक है। जो भी आब्जेक्ट होगा, वह उस वाह्य संसार से सम्बद्ध होगा, जिसे हम भाषा में अभिव्यक्त करते हैं और इस दृष्टि से भावों के उद्गम के लिए इनसे इतर किसी वस्तुस्थिति की आवश्यकता है। शब्द में जो अर्थ निहित रहता है, वास्तव में वह भाव ही है। उस अर्थ की सत्ता को उस शब्द के पूर्व का नहीं माना जा सकता और न माना जाना चाहिए। कारण यह है कि जो कुछ भी हम सोचते-विचारते हैं, उससे हमारे मस्तिष्क पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। भावों की यह एक सहज स्थिति होती है कि वे जब कभी की उद्भूत होते हैं तो प्रायः भाषिक ही होते हैं। यह दूसरी बात है कि वे लिपिबद्ध नहीं होते या उच्चरित नहीं होते। चूंकि वह आंतरिक भाषा मात्र ग्राह्य है, इसीलिए शीघ्र विश्वास नहीं होता। प्रतीक-निर्माण की सहज प्रक्रिया के कारण मानव मस्तिष्क कुछ इस प्रकार का रूप धारण कर चुका है कि वर्तमान विकसित संदर्भों में भाषा के बिना उसके मानस में भाव उस रूप में नहीं उठ सकते, जिस कारण वह मनुष्य कहा जा सके। भाव और भाषा का उद्गम अस्तित्व के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इलियट ने भावों के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रेडले की इस बात का समर्थन किया है कि भावों की तरफ उन्मुख हुआ जा सकता है। उसके अनुसार, 'भाव वस्तु का एक भाग या वस्तुओं का सम्मिश्रण होता है, जिसे पुनः उद्भूत किया जा सकता है। आनन्द की भी यही स्थिति है और शायद इसी कारण आनन्द और भाव का सम्बन्ध भी माना जाता है।' डॉ० चतुर्वेदी ने इस समस्या को प्रतीक दर्शन के आधार पर हल करने का प्रयास किया है। 'प्रतीक दर्शन का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य का सम्पूर्ण चिंतन, मनन, संवेदन आदि प्रतीकों में होता है, 'कवि जिन अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है, उसके पूर्वरूप को उसने भाषा के ही किसी रूप में सोचा होगा। इस दृष्टि से काव्य-सृजन के पूर्व ही उसका संवेदन किसी भाषा में उसे उपलब्ध हुआ होगा। उस अंतर्मंथन की भाषा का रूप क्या है? क्योंकि वह तो रचना सृष्टि के पूर्व ही उसके व्यक्तित्व में अवस्थित है[1]।' भाव और भाषा के प्रश्न को व्यक्तित्व और मानस के प्रश्न से अलग करके देखना भ्रामक है, क्योंकि भूमिका वही है और जब यह सिद्ध हो चुका है कि मानस और व्यक्तित्व प्रायः भाषा से ही निर्मित है या भाषा से ही अस्तित्ववान है तो भाव या संवेदना की भाषा का प्रश्न सहज ही हल हो जाता है। जब अनुभूतियों की ही भाषा व्यक्ति के उस संपूर्ण भाषिक संघटन से सम्बद्ध है तो भाव का उद्गम उस भाषिक संघटन से सापेक्ष होगा। इन्हीं संदर्भों मे भाषा के द्वारा शब्दों के नियंत्रण के प्रश्न को भी समझा जा सकता है। डोनोवन ने भाव और भाषा के सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए यह महत्वपूर्ण बात कही है—'बहुत से प्रकृति प्रेमी तब तक यह महसूस नहीं कर सकते कि वे प्रकृति के किस प्रदेश में वर्तमान हैं अथवा किन के साथ उनका सम्पर्क है। प्रकृति के उन सभी वस्तुओं के

१. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—भाषा और संवेदना, पृ० ९८।

नाम, जैसे फूलों के नाम, पेड़ों के नाम, आदि से परिचित हुए बिना उनके मानस में वास्तविक और सघन अनुभूतियाँ नहीं हो सकतीं[1]।' एडवर्ड सेपीर ने भी प्राकृतिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार का मत व्यक्त किया है, 'ऐसा लगता है कि वास्तविक संसार प्राथमिक रूप में शाब्दिक है और जैसे कि कोई प्रकृति के साहचर्य को बिना प्राकृतिक पदार्थों से संबंध स्थापित किए ही अद्भुत रूप से वर्णन की टैरीमीनोलोजी को बिना जाने हुए प्राप्त नहीं किया जा सकता।[2]'

भाषा और भाव के सम्बन्ध में विचार करते हुए भाषा की रूपकात्मकता की भी बात आती है। 'हमारी भाषा वास्तव में रूपकमय है, जिससे इच्छा बोध तथा संवेदन की क्रिया-प्रतिक्रियाओं से संपादित मानसिक जगत की प्रतिच्छवियाँ रूप ग्रहण करती रहती हैं। इस रूप-ग्रहण की प्रक्रिया में समता, विभिन्नता तथा संयोगात्मक-आसन्नता के मनोवैज्ञानिक नियम कार्य करते हैं। मानवीय इतिहास में भाषा की रूपकमयता व्यवहार और उपयोगिता के कारण धीरे-धीरे समाप्त होती गई है। कवि तथा रचयिता अपनी सर्जन प्रक्रिया में भाषा की इसी रूपकमयता को अपने स्तर पर पुनः प्रतिष्ठित करने का उपक्रम करता है।[3] डॉ० रघुवंश के इस कथन में उनका संकेत आदिम युग की भाषा की ओर है। आदिमयुग की भाषा में रूपकमयता अधिक है। उस युग के लोगों का जीवन प्रायः अनुभूतियों को व्यक्त करने का था। उस समय भावों को सीधे अभिव्यक्त किया जाता था। इसके कई कारण थे। मनुष्य ने प्राकृतिक वस्तुओं और पदार्थों को अपनी जैविक आवश्यकताओं की सापेक्षता में नाम दिया और बाद में उस भाषा से तत्कालीन युग के व्यक्तियों ने अनुभूतियाँ भी ग्रहण कीं और उसे अभिव्यक्ति दी। इसीलिए उस युग की भाषा में मिथ और रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है। जब डॉ० रघुवंश सर्जन प्रक्रिया में रूपकमयता के पुनर्थापन की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य भाव, अनुभूति, रूपक, प्रतीक तथा बिम्ब आदि के पारस्परिक संश्लेषण से रहता है। केन्द्रित और सघन अनुभूतियों के लिए वाक्य नहीं, शब्द ही महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे रूपक या बिम्बों में होते हैं। भाव की स्थिति में बिम्ब और रूपक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके सम्बन्ध में विचार करते हुए जेंडलीन ने यह मत निर्धारित किया है कि 'हम जिस अर्थ को महसूस करते हैं, वह महसूस अर्थ किसी प्रतीक को नियोजित करता है। यदि उसके लिए कोई उचित शब्द न मिला तो भाषा में रूपकमयता आ जाती है।'[4] रूपक अपने में एक टेक्नीक है। किसी अनुभूत अर्थ के लिए जब भाषा का विवरणात्मक स्तर काम नहीं करता तो प्रतीकों में से संयमन और नियमन द्वारा एक ऐसा प्रतीक प्राप्त किया जाता है जो उस अनुभूत अर्थ को सही अर्थों में आत्मसात् करा सके। भाव के उत्पन्न होने और भाव की स्थिति दोनों में अन्तर है। स्थिति और उसका अनुभव भाषा के बिना असम्भव है।

---

१. सूसन के लेंगर—'फिलासफी इन ए न्यू की' में उद्धृत, पृ० ४८।

२. एडवर्ड सेपीर—लैंग्वेज, पृ० १५७।

३. डॉ० रघुवंश—नाट्य-कला का मनोवैज्ञानिक आधार, कल्पना, जनवरी १९६१।

४ ई० टी० जेंडलीन—एक्सपीरिएंसिंग एण्ड मीनिंग, पृ० १५७।

सर्जनात्मक भाषा की अनेक गतियाँ और कई आयाम हैं और इन सबका एक समन्वित आयाम भी है। बिम्ब इनमें सबसे महत्वपूर्ण आयाम है। बिम्ब का सम्बन्ध मानवीय चेतना से होता है। चेतना गहरे स्तर पर प्रतीक, बिम्ब, रूपक आदि से सम्पृक्त है। इसका कारण मानव विकास और भाषा का पारस्परिक सम्बन्ध कहा जा सकता है। भाषा से बिम्बों का संबंध आदिम युग से ही रहा है लेकिन मध्यकालीन स्थितियों में भाषा से बिम्बो आदि का पर्याप्त निष्कासन हुआ। सर्जनात्मक स्तर पर बिम्ब फिर भी विद्यमान रहे, परन्तु सामान्य बोलचाल की भाषा और सर्जनशील भाषा का अन्तर बढ़ गया। बिम्बों का सम्बन्ध सर्जनात्मक भाषा से ही रहा और इन्हीं अर्थों में कविता आदि को आदिम युग की भाषा के रूप में रखा गया है। बिम्ब की दो स्थितियाँ हैं—एक तो उसे बड़े वृहत् रूप में लिया गया है, जिसे स्केल्टन[1] आदि ने स्वीकार किया है और दूसरा तकनीकी अर्थ है, जिसे बिम्बवादी विचारक शिसिर डे लीविस, एजरा पाउंड और इलियट आदि ने माना है। दोनों विचारधाराएँ परस्पर टकराती हैं, लेकिन प्रथम विचारधारा अति की सीमा को छूती है। स्केल्टन ने बिम्बों के दस प्रकार माने हैं। इन दसो बिम्बों को उसने पर्याप्त विस्तार दिया है, जिसमें साधारण बिम्ब से लेकर संश्लिष्ट बिम्ब तक है। इनके द्वारा निर्धारित बिम्ब सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण अर्थ रखते हुए नहीं जान पड़ते। सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से बिम्ब मानवीय चेतना को बहुत ही गहरे स्तरों पर आंदोलित करने वाले माने जाते हैं। बिम्ब का कार्य चेतना को सम्पूर्ण यथार्थ से इस प्रकार सम्बद्ध कर देना है, जिससे वह महत्वपूर्ण यथार्थ अनुभूति का विषय बन सके। कुछ बिम्ब-प्रयोग वृत्तियों के कारण इस प्रकार की जड़ता प्राप्त कर लेते हैं कि वे प्रायः कविता का क्षेत्र छोड़कर कथा-साहित्य में चले जाते हैं।

काव्यात्मक बिम्बों के संबंध में शिसिर डे लीविस की मान्यता है कि काव्यात्मक बिम्ब कम या अधिक रूप में प्रायः ऐसे भावनायुक्त शब्द-चित्र हैं, जो कुछ सीमा तक अपने संदर्भ में मानवीय भावनाओं और ऐंद्रिक संवेदनाओं को लिए हुए रूपकात्मक होते हैं, फिर भी ये बिम्ब पाठक में विशिष्ट काव्यात्मक भावनाएँ और ऐंद्रिय संवेदनाओं को उत्पन्न करते हैं।[2] गद्य के बिम्ब पद्य के बिम्ब से अपेक्षाकृत कुछ कम संश्लिष्ट होते हैं। मिडिल्टन मरी के साक्ष्य पर अखौरी व्रजनंदन प्रसाद का कथन है कि 'गद्य और पद्य के बिम्बों में पार्थक्य दृष्टिगत होता है।'[3] 'वस्तुतः गद्य और पद्य के बिम्बों का यह पार्थक्य सर्जक की अनुभूति से सम्बद्ध है। संरचनात्मक कल्पना में बिम्ब आधारभूत तत्व हैं। विस्तृत अर्थों में बिम्ब को प्रतीक कहा जा सकता है, लेकिन जिस प्रकार मिट्टी और घड़े में भेद है, उसी प्रकार इन दोनों में भी अंतर है। बिम्ब प्रतीक हो सकते हैं या कहे जा सकते है परन्तु सभी प्रतीक बिम्ब नही हो सकते। प्रतीक को बिम्ब के स्तर तक ले जाना या बिम्ब का स्तर प्रदान करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यही कारण है कि प्रतीक तो बहुत मिलते हैं लेकिन स्पष्ट बिम्बों की संख्या कम

---

१. **स्केल्टन—पोयटिक पैटर्न, पृ० ९।**

२. **शिसिर डे लीविस—पोयटिक इमेज, पृ० २२।**

३ **अखौरी　　　　बिम्ब, पृ० ५८**

होती ही रहती है। सूसन के लैंगर[1] ने बिम्ब-निर्माण को अव्याहत विचार प्रक्रिया के एक कारण तथा आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है और कहानियों को इसकी प्राथमिक उत्पत्ति माना है। आदि युग में किसी भी वस्तु के प्रति मनुष्य जो प्रतिक्रिया करता था और उस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके मस्तिष्क पर जो विभिन्न चित्र बनते थे, सीमित अर्थों में ये बिम्ब ही थे। जैसा कि हरवर्ड रीड ने कहा है, 'प्रकृति, जिसे हम रूपाकारों में देखते हैं, उस रूपाकार को जब हम अपने मस्तिष्क पटल पर अंकित करते हैं तो वस्तुतः उसे हम बिम्ब कहते हैं। बिम्ब उन शब्दों और चिन्हों से, जिसे हम भाषा में प्रयुक्त करते हैं, पूर्णतया अलग हैं। वे वस्तुतः प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से स्वचालित क्रियात्मकता द्वारा निर्मित होते हैं और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिन्हें केवल वैयक्तिक और संवेदनात्मक ही कहा जा सकता है और ऐसे बिम्ब जब आनन्द प्रदान करते हैं उस अवस्था में इन्हें सुन्दर और निर्वैयक्तिक भी कहा जा सकता है।'[2]

बिम्बवाद की धारणा ने बुद्धि को महत्वपूर्ण स्वीकृत दी, जिसके फलस्वरूप कृत्रिमता को प्रश्रय मिला, परन्तु बिम्बवादी भाषा को सहज और सामान्य रूप में लाने के वैसे पक्षपाती थे, जिस प्रकार प्रयोगवादी या नये कवि। 'उपयुक्त शब्द' पर उनका विशेष बल था। 'उपयुक्त शब्द' का यही प्रयोग अज्ञेय ने 'सही शब्द मिल जाय तो', इस रूप में किया है।[3] भाषा की सर्जनशीलता की दृष्टि से इन सामान्य शब्दों के द्वारा बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रयोग के आधार पर यह क्रिया संपन्न हो सकती है। सर्जनात्मक भाषा में बिम्बों के महत्व की चर्चा करते समय साहित्य के गद्य और पद्य नामक असंगत विभाजन पर भी दृष्टि जाती है और इस विभाजन को मानने से ही बिम्ब के दो स्थूल विभाजन भी मानने पड़ते हैं—पहला गद्य का बिम्ब और दूसरा पद्य का बिम्ब। वस्तुतः यह विभाजन ही गलत है। सर्जनात्मक भाषा को दृष्टि से साहित्य की प्रत्येक विधा की भाषा सर्जक की अनुभूति और उसके मानस की उत्पति मानी जानी चाहिए। कथा-साहित्य और आधुनिक कविता के अध्ययन से इस बिम्बात्मक रूप को समझा जा सकता है। उपन्यासों में बिम्बों का प्रयोग हुआ है और उस प्रयोग में जो अर्थ सम्प्रेषित होता है, वह अन्य किसी स्थिति से संभव नही था। कविता मे बिम्ब कई अर्थों और कई अनुभूतियों को सम्प्रेषित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं और कथा-साहित्य में भी बिम्ब की यही स्थिति है। अन्तर मात्र इतना है कि उपन्यासों में मानस जिस रूप में सक्रिय होता है, वह रूप कविता की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत होता है। भाषाबद्ध या शब्दबद्ध जो कुछ होता है और वह जिस चित्र का सम्प्रेषण करता है, बिम्ब उससे सम्बद्ध न होकर उससे और आगे हैं। इसीलिए लैंगर ने बिम्ब का सम्बन्ध भाषा से न मानकर भाषा के समान ही माना है।

उपन्यासों की भाषा का गठन कविता की भाषा से भिन्न होता है। उसका कारण

---

१. सूसन के लैंगर—फिलासफी इन ए न्यू की, पृ० ११८।

२. हरबर्ट रीड—द फार्म्स आफ थिंग्स अननोन, पृ० ५१।

३ अज्ञेय धर्मयुग, २१ अगस्त, १९६६।

तीव्र भावानुभूति और विचार परंपरा से जोड़ा जाता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। सर्जक जब अपने परिप्रेक्षक के किसी एक आब्जेक्ट से तीव्र रूपाकारों को अनुभूति के रूप में अंतर्निहित करता है तो उच्छेदन और विक्षोभ की विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण उसका व्यक्तित्व इतना सांद्र हो जाता है कि उसका संपूर्ण व्यक्तित्व ही अनुभूति में अपने को रूपांतरित कर लेता है। रूपांतरण की इस प्रक्रिया के कारण उसके मन में जो तनाव पैदा होता है, उससे विरहित होने के लिए वह उन्हें उसी में उच्चरित करना चाहता है, जिस रूपाकार के आधार पर अपने व्यक्तित्व को मिलाकर उसने एक आंतरिक शब्दग्राम का निर्माण किया है। सर्जक संपूर्ण आंतरिक भाषा के स्ट्रक्चर को स्वचालित प्रक्रिया से विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं तक गुजारकर क्रमशः रूपक और भावचित्रों में उसे उच्चरित कर लिपिबद्ध करता है। इस प्रकार की लिपिबद्ध भाषा को ही सर्जनशील भाषा की कोटि प्रदान की जा सकती है। बिम्ब-निर्माण में यह प्रक्रिया महत्वपूर्ण है। उपन्यासों में सर्जक का परिवेश विस्तृत रहता है। वह यथार्थ के विभिन्न स्तरों से गुजरा रहता है और इस सब की जटिल अनुभूति उसके अवचेतन में पड़ी रहती है। परिणामतः उपन्यासों में आयाम इतना विस्तृत रहता है कि संपूर्ण जीवन को ही एक गेस्टाल्ट के रूप में अभिव्यक्त करने का उपक्रम किया जाता है। इसीलिए इसमें सचेतनता और सक्रियता पाई जाती है। सर्जक विभिन्न व्यक्तित्वों को अपने व्यक्तित्व के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, परिणामतः भाषा में एक सचेत गठन और चरम अर्थाभिव्यक्ति होती है। उपन्यासों में बिम्ब या भाव-चित्र आ सकते है, परन्तु वे मनःस्थिति विशेष में किसी उत्कट अनुभूति के द्योतन के लिए ही आएंगे और वहाँ वह उसी रूप मे आएँगे, जिस रूप मे काव्य में आते हैं। इस आधार पर सर्जनात्मक भाषा के बिम्बात्मक रूप को काव्य में तो प्रतिमान माना ही जाता है, उपन्यासों के अध्ययन में भी इसे महत्वपूर्ण मापदण्ड के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिए। बिम्बों की दो स्थितियाँ विद्वानों ने स्वीकार की हैं। कुछ बिम्बो का संबंध विचारात्मक होता है और कुछ का संबंध भावात्मक। इन दोनों का ही सम्बन्ध सर्जक की अनुभूति से होता है। अनुभूति से परे बिम्ब का कोई अर्थ नही है। साहित्य में ये दोनों ही बिम्ब मिलते हैं। वर्तमान कथा-साहित्य और काव्य दोनो में ये बिम्ब प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है परन्तु मात्र इनकी उपलब्धि ही वांछनीय नहीं है। महत्व अनुभूति के सम्प्रेषण में बिम्बों के योगदान का है। कथा-साहित्य में बिम्ब तो मिलते हैं लेकिन बिम्ब-मालाएँ कम मिलती हैं, जबकि काव्य में बिम्ब-मालाएँ ही अधिक मिलती है। बिम्बात्मक भाषा से तात्पर्य अनुभव की भाषा से है। भाषा जितनी ही बिम्बात्मक होगी, अनुभूति उतनी ही प्रबल और सत्य होगी। बिम्बात्मक भाषा संपूर्ण व्यक्तित्व का रूप होती है और इन्हीं अंशों में वह मानवीय व्यक्तित्व से सम्बद्ध होती है।

भावाभिव्यक्ति की भाषिक स्थिति का संबंध रचना प्रक्रिया से होता है और रचना प्रक्रिया भाषिक संघटन से सम्बद्ध होती है। प्रेमचन्द और अज्ञेय के उपन्यासों को यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इसका पता चल सकता है। प्रेमचन्द में अप्रस्तुत का प्रयोग मिलता है। लेखक ने स्वयं चरित्रों के विषय में प्रकाश डाला है- जबकि अज्ञेय में चरित्र स्वयं अपनी नियति पर निभर हैं उनका अपना व्यक्तित्व ह और इसका कारण उनकी भाषा ही है शब्द

जितने ही अधिक अनुभूति की आँच में पकते हैं अथवा अनुभूति जितनी ही अधिक शब्दों की आँच में पकती है, व्यक्तित्व से जितने अंशों में सम्पृक्त होती है, भाषा को उतनी ही सीमा तक सर्जनशील होना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो यही सर्जक के व्यक्तित्व की कमजोरी और कृति के गौड़ स्थान प्राप्त करने का कारण है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अश्लीलता की समस्या को बहुत कुछ भाषा के स्तर पर ही आधारित माना है। उनके इस विचार से असहमत होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि सर्जनात्मक भाषा में सर्जक प्रयोग के आधार पर शब्द से उसके सम्पूर्ण परिवेश और परंपरागत अर्थ को काटकर अलग कर देता है। भावाभिव्यक्ति की भाषिक स्थिति इस प्रकार की भाषा में चाहे जैसी भी हो, वह इस रूप में होती है कि सामान्य शब्दावली में उसे हम अश्लील कहते हैं। वह मानवीय अनुभूति से जुड़ जाती है। प्रतीक के विस्तृत अर्थों में मिथ आदि सभी आत्मसात् हो जाते हैं परन्तु इसके बावजूद मिथ का अपना अलग महत्व होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अपने चिंतन को व्यवस्थित करते हुए हरबर्ट रीड ने मिथ और प्रतीक को अचेतन और सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध मानकर सर्जनात्मक साहित्य में उसकी महत्ता को स्वीकृत प्रदान की है। मिथ आदिम अवस्था में प्रयुक्त होने वाले ऐसे प्रतीक थे जो कुछ निश्चित भाव-संवेदनों को जाग्रत करते थे। प्रारंभिक युग में मनुष्य जब किसी वस्तु को देखता था, उससे जो अनुभूति उत्पन्न होती थी, अनुभूतियों और संवेदनों के आधार पर अथवा उनमें से किसी सशक्त अनुभूति के आधार पर उस वस्तु का नामकरण करता था। मानव अपनी दैनिक इच्छा, दर्शन एवं आचरण की सापेक्षता में अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर एक कथा का निर्माण कर लेता था, जो मिथ कहे जाते हैं। जब मनुष्य अपने दैनिक क्रिया-कलापों को कल्पना शक्ति द्वारा किसी विशिष्ट देवता पर आरोपित करता है तो यही क्रम कुछ काल पर्यन्त लोक-मानस में सतत प्रयत्न से मँजता हुआ मिथ का रूप धारण कर लेता है। मिथ के निर्माण में कल्पना और यथार्थ का, अध्यात्म और परंपरा का कुछ ऐसा समन्वय होता है कि वह एक सृष्टि के रूप में परिणत हो जाता है। ईश्वर से सम्बद्ध विभिन्न नाम प्रायः उन प्राकृतिक शक्तियों के द्योतक हैं जिनसे आदिमयुगीन मानव ने क्रिया-प्रतिक्रिया की होगी। वैदिककालीन रुद्र आँधी और तूफान के, विष्णु सूर्य के, सोम सोमरस के प्रतीक हैं। पौराणिक आख्यान प्रायः सभी तो नहीं, लेकिन अधिकांश जिन विचारों और भावनाओं के प्रतीक हैं वे प्रकृति और मानव की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के आघात-विघात से सम्बद्ध हैं। साधारण जन प्रकृति के विभिन्न शक्तियों पर ईश्वरीय शक्ति का आरोप करते हैं और इस शक्ति के समर्थन में लोक-मानस कुछ कल्पनाओं (फैन्टेसियों) का निर्माण करता है। यही मैथोलोजी या पौराणिक आख्यान के नाम से जाने जाते हैं। मिथ-निर्माण का संबंध मनुष्य के अचेतन मस्तिष्क से भी जोड़ा जाता है। फ्रायड के अनुसार मानव विभिन्न कल्पनाओं का निर्माण करता रहता है। वे कल्पनाएँ अचेतन से सम्बद्ध होते हुए भी सचेतन के धरातल पर निर्मित होती हैं। विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में जब धर्म का प्राधान्य था तब तात्कालिक पुरोहित वर्ग जनता को अभिप्रेरित करने के लिए विभिन्न आख्यानों का निर्माण करता था। वे आख्यान उस व्यक्ति की तात्कालिक प्रतिक्रिया की पूर्ण प्रतीकात्मक उपलब्धि ही नहीं बल्कि धर्म से सम्बद्ध होते थे। मैथोलोजी और भाषा का कुछ जनटिक सम्बन्ध है कुछ विद्वान मैथोलोजी से भाषा का निर्माण मानव

है और कुछ भाषा से मैथोलोजी का। यह भी धारणा रही है कि मैथोलोजी से उनके परिवेश और धर्मगत अर्थ के नष्ट हो जाने से भाषा का विकास हुआ। कैसीरस का कथन है कि भाषा और मिथ अभिन्न और मौलिक रूप से एक दूसरे से सहचरित होते रहते हैं। वे जिससे उत्पन्न होते हैं, वह उद्गम स्थान एक ही है, लेकिन दोनों अलग-अलग तत्वों के रूप में पैदा होते हैं। दोनों एक ही पिता की दो भिन्न संतानों के रूप में हैं। प्रतीक-निर्माण की एक ही संवेदना से दोनों स्फुरित हैं। साधारण संवेदनात्मक अनुभावों की एकाग्रता और अतिशयता से युक्त एक ही आधारभूत मानसिक क्रियाशीलता से व्युत्पन्न हैं। भाषा के शब्द-समूह और मिथ के अलंकार में एक ही आंतरिक क्रिया विद्यमान रहती है। वे दोनों आंतरिक तनाव व व्यक्तिगत प्रतिनिधि और निश्चित वस्तुगत रूपाकारों व अलंकारों में निबद्ध हैं।[1] 'भाषा के रूपकात्मक प्रयोग से ही मिथों का निर्माण होता है।

आधुनिक युग में स्थिति कुछ बदल गई है। मिथों का निर्माण अब कम होता है, लेकिन जहाँ तक नए अर्थ के सम्प्रेषण के लिये मिथों के प्रयोग का प्रश्न है, पाश्चात्य साहित्य में उसका प्रयोग विभिन्न भावनाओं, अनुभूतियों तथा विचारों के लिये किया गया है। कवियों, कथाकारों एवं नाटककारों ने भाषा की सर्जनात्मक अभिवृद्धि के लिये मिथ को उसके परिवेश से अलग करके उसे नये परिवेश में ढालकर प्रयुक्त किया है। हिन्दी साहित्य में, विशेष रूप से कविता के संदर्भ में, इसका प्रयोग हुआ है, लेकिन इस संदर्भ में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी भारतीय और विदेशी मिथ-प्रयोगों में अन्तर करते हैं। वे कहते हैं कि 'भारत में मिथो का प्रयोग उस रूप में सम्भव नहीं, जिस रूप में विदेशों में होता है।'[2] इसके विपरीत केदारनाथ सिंह ने तीसरे तारसतक के अपने वक्तव्य में कहा है, 'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं तथा अन्तर्विरोधों को व्यक्त करने के लिये लोक-साहित्य, धर्म, पुराण तथा इतिहास के खण्डहरों में बहुत से ऐसे अज्ञात तथा अदृश्य बिम्ब पड़े हुये हैं, जिनकी खोज करके नवलेखन का पथ और भी प्रशस्त किया जा सकता है।[3]' युंग ने सामूहिक अचेतन से कविता को सम्बद्ध मानते हुये आद्य रूप प्रतीकों को बड़ी महत्ता प्रदान की है। उसने उसे समग्र मानवीय अनुभूति से जोड़ते हुये कवि के जातीय अचेतन तथा उसके अभिव्यक्तीकरण के आधार पर निर्वैयक्तीकरण का अर्थात् विशिष्टीकरण के बाद सामान्यीकरण का अपूर्व सिद्धान्त प्रचलित किया। 'आद्य रूप प्रतीक किसी जाति विशेष की समग्र सांस्कृतिक अनुभूति का सांद्र प्रकाशन होता है और ये आद्य रूप, प्रतीक मिथों के रूप में उपलब्ध होते हैं[4]।' रिचर्ड चेज[5] ने पुरा-कथाओं को मात्र कला स्वीकार करते हुये मिथ-निर्माण को सर्जनात्मक भाषा का महत्वपूर्ण स्तर माना है। पाश्चात्य साहित्य में सर्जनात्मक भाषा की

१. अर्नेस्ट कैसीरस-लैंग्वेज एण्ड मिथ, पृ० ८८।

२. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—भाषा और संवेदना, पृ० ९२।

३. केदारनाथ सिंह—तीसरे तारसप्तक की भूमिका, पृ० १८२-८३।

४. कार्ल युंग—माडर्न मैन इन द सर्च आफ सोल, पृ० ६०।

५. रिचर्ड चेज—द क्वेस्ट फार मिथ, पृ०११०।

दृष्टि से मिथों के प्रयोग मिलते हैं। गेटे और इलियट आदि ने मिथ के अनन्त प्रयोग किये हैं. हिन्दी-साहित्य में भी मिथों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। ओवेन बारफील्ड ने मिथ के सम्बन्ध मे विचार करते हुये अत्यन्त संतुलित रूप से इमर्सन के मत के साक्ष्य पर तथा अन्य विचारकों के मतों की तुलनात्मक परीक्षा करते हुये अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त की है, 'प्रकृतिवादी मिथ को जब प्राकृतिक विधानों से जोड़ते हैं तब तो वे ठीक हैं लेकिन जब वे मिथों को मात्र प्राकृतिक विधानों से ही रूढ़ कर देते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं। मनोविश्लेषक मिथ का सम्बन्ध आंतरिक अनुभूतियों से जोड़कर सत्य के पर्याप्त निकट होता है, परन्तु मात्र उससे ही सम्बद्ध मानकर भ्रम में पड़ता है। पौराणिक आख्यान या मैथोलोजी ठोस अर्थो का एक भयकर समुदाय है। प्राकृतिक वस्तुओं के बीच ऐसे सम्बन्धों के, जो आज रूपक के रूप मे समझे जाते हैं, पहले तात्कालिक वस्तुस्थितियों से सम्बन्ध थे।'[1] बारफील्ड प्रत्यक्षतः मिथो का सम्बन्ध प्रकृति और आन्तरिक अनुभूति दोनों से मानते हैं। मानव विचार और वस्तुओ के बीच का यह एकात्म अभिभाषण भाषा में एक सशक्त सौन्दर्य का सर्जन करता है।

सर्जनात्मक भाषा मात्र प्रत्ययांकन न होकर प्रतीकात्मक होती है। प्रत्ययात्मक अर्थ का महत्व होता है परन्तु यदि इसके साथ-ही-साथ प्रतीकात्मक अर्थ की अनुभूति होती है तब इसे भाषा की सार्थकता माना जाता है। प्रतीकों के प्रयोग का अर्थ है गहन अनुभूति, तीव्र मूल्यांकन की उत्कट इच्छा, मूल्यानुभूति और सशक्त विचार। रहस्यवादी ग्रंथों में तथा विचारपूर्ण एवं मूल्यवान उपन्यासों में प्रायः प्रतीकों का प्रयोग अधिक मिलता है। मिथ और यज्ञ आदि से सबंधित प्रक्रियाएँ, विभिन्न पौराणिक नाम और आरकान आदि प्रतीक ही हैं। अन्तर इतना है कि प्रयोग के कारण वे रूढ़ बन गये अथवा उनका अर्थ बदल गया और उन्हें धार्मिक मान्यताओं के घेरे में इस प्रकार जकड़ लिया गया कि उनका प्रतीकात्मक अर्थ, जो विस्मय, विचार, चिन्तन या प्रीति से अभिप्रेरित था, बदल गया। हरबर्ट रीड ने मानसिक और सौन्दर्यात्मक प्रतीकों में अन्तर बताते हुये सर्जन में दोनों का महत्व स्वीकार किया है। प्रतीक शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग-अलग अर्थ रखता है। स्वयं प्रतीक शब्द ही अपने आप में प्रयोग के आधार पर नए अर्थ का प्रेषण करता है। रीड का कथन है कि 'शब्द स्वयं ही प्रतीकबद्ध है और इस प्रकार भाषा और प्रतीक एक समानान्तर श्रेणीक्रम है। प्रतीक केवल तभी बोधात्मक रूप से निश्चित और संवेदनात्मक रुप से प्रभावशाली हो सकते है जब वे सुन्दर रूपाकार रखते हैं। प्राकृतिक रूपाकार और सौंदर्यात्मक रूपाकारों में भी अन्तर होता है। सौंदर्यात्मक रूपाकार मानवीय व्यक्तित्व से सम्बद्ध होते हैं, परन्तु जहाँ तक प्रतीकों का संबध है, यह कहा जा सकता है कि सर्जन प्रक्रिया में दोनों रूपाकारों की क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से एक नवीन भाषा में प्रतीकबद्ध होना पड़ता है, जो बहुत सीमा तक सौंदर्यात्मक प्रतीकों से सम्बद्ध होता है। युंग के मतों को उद्धृत करते हुए उसने यह भी कहा है कि कलात्मक प्रतीक अचेतन की गहराइयों के ही राग (लिबिडो) से प्रभावित होकर उठते हैं।'[2]

---

१. ओवेन बारफील्ड—पोयटिक डिक्सन, पृ० ९२।

२ हरबट रीड—द फाम स आफ थिंग्स अननोन, पृ० ५१।

भारतीय साहित्य में अप्रस्तुत विधान सर्जनशील भाषा की एक विशिष्टता के रूप मे प्रयुक्त होता रहा है। अलंकारों में उपमा और रूपक को अधिक महत्व प्रदान किया गया। उपमा में उपमानों की योजना से विषय की स्पष्टता, अनुभूति की सम्प्रेषणीयता और यथार्थ का कुछ अधिक उद्घाटन हो पाता था, लेकिन उपमान योजना और अप्रस्तुत विधान अतिशय प्रयोग के कारण भाषा के केवल बाह्य रूप से ही सम्बद्ध रह गए। यह भाषा अनुभूति की भाषा न रहकर अनुभूतियों के सम्प्रेषण की भाषा बन गई। अधिक उपमान योजना के कारण संवेदना का खण्डन होता है, इसलिए कि उनके विस्तार का आधिक्य हो जाता है। एक ही अनुभूति को विस्तृत करने के लिए प्रचलित तथा अप्रचलित कई उपमानों के संग्रथन से अनुभूति की सत्यता और तीव्रता दोनों प्रायः विखण्डित हो जाती हैं, जबकि रूपकों से ऐसा नहीं होता। रूपक से संवेदना खण्डित न हो कर समग्र हो जाती है। बिम्ब और प्रतीक इसीलिए उपमान योजना से आगे की स्थिति माने जाते हैं, क्योंकि इनसे संवेदना खण्डित न होकर समग्रता की ओर उन्मुख होती है। व्यक्तित्व का साक्ष्य प्रतीकों और बिम्बों में ज्यादा मुखर होता है, जब कि उपमान योजना मे व्यक्तित्व के प्रति ईमानदारी स्थिर नहीं रह पाती। उपमान अप्रस्तुत विधान की विशिष्टता के पीछे अलंकरण की प्रवृत्ति का हाथ रहता है। डॉ० चतुर्वेदी ने अप्रस्तुत विधान और उपमान योजना को भाषा की बाह्य स्थिति से जोड़ते हुए अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—'अप्रस्तुत विधान कविता में, उपमानों का प्रयोग एवं संघटन है, भाषागत संघटन की दृष्टि से यह काफी ऊपरी स्थिति है। दूसरी ओर ध्वनि है जिसका प्रयोग काव्यशास्त्रीय भाषा में व्यंग्यार्थ (अर्थ की मौलिक विवेचना) के लिए होता है। भारतीय काव्य-शास्त्र की यह बहुत महत्वपूर्ण व्यवस्था है, पर प्रतीक या भावादिक का इससे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।'[१]

अलंकृत भाषा और अलंकरण की भाषा में अन्तर है। ये दोनों दो प्रकार के प्रश्न हैं और इनका उत्तर भी अलग-अलग दिया जाता है। अलंकृत भाषा रचना की भाषा से सम्बद्ध है और अलंकरण की भाषा भावों तथा विचारों की भाषा के सौंदर्यात्मक पहलू से जुड़ा एक व्यापक प्रश्न है। एक उपपत्ति है तो दूसरी प्रक्रिया। अलंकरण से तात्पर्य है कि क्या भाषा को सायास या अनायास अलंकृत किया गया है? लेखक जब किसी आब्जेक्ट को देखता है, उसे देखने के बाद उसके मन मे जो सौंदर्यानुभूति होती है, वह उसमें पाठक को भी अपना साथी बनाना चाहता है, परिणामतः इन दोनों प्रक्रियाओं की जटिलता में वह अपने निजी अनुभव से भी प्रतिक्रिया करता है और इसे उस रूप में अनुभव करता है कि अपने आप ही उसमें सौंदर्य का पुट आ जाता है। सुरेन्द्र बारलिंगे ने वस्तु में ही रस की सत्ता स्वीकार की है। विषय जब वस्तु बनता है तो उसमें कुछ न कुछ विशिष्टता आ जाती है और यह विशिष्टता वस्तुतः रूप से ही सम्बद्ध है।[२] अलंकरण अलंकृत करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु अलंकरण की यह स्थिति बहुत सीमा तक सर्जन-

१. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—भाषा और संवेदना, पृ० १२८।

२ सुरेन्द्र रसतत्त्व पृ० १६८।

शील भाषा से कटी हुई है। कारण यह कि सर्जन एक ऐसी रासायनिक प्रक्रिया है कि उसमें सर्जन के पश्चात् कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता। पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में अलंकारो को 'वाणी की आत्मा' कहा है। वस्तुतः पंत जी का तात्पर्य यहाँ अलंकरण की वस्तुगत स्थिति से है। अलंकारों के संबंध में, जिनका आधार शब्द ही है, भारतीय साहित्य-शास्त्र मे गंभीर चिंतन हुआ है और उसका तत्व आनन्दवर्द्धन की "अलंकार ध्वनि" में निहित है। आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों को आंतरिकता से ही सम्बन्धित माना है। वे अलंकारों को कभी भी बाह्य रूप में स्वीकार नहीं करते। अलंकरण विस्तृत रूपों में, जैसा कि उन्होंने कहा है, 'अलंकार बाह्यारोपित' आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलंकार है, इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलकार है।[1] पंत जी का अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं, भावों की अभिव्यक्ति के द्वारा भी है। वह भाषा की पुष्टि के लिए राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार व्यवहार, रीति और नीति है। पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न चित्र हैं, जैसे वाणी की झंकार किसी विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हो, विशेष भावों के झोकें खाकर बाल लहरियों, तरुण तरंगों में फूट गई हो। कल्पना के विशेष वहाव मे पड़े आवर्तों में नृत्य करने लगी हों; वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक और हावभाव हैं।[2] पंत जी ने ऐसा कहकर अलंकारो को भाषा की सर्जनात्मकता से जोड़ा है। सर्जन प्रक्रिया में रचना का जो स्वरूप निर्मित होता है उसमें विभिन्न अवयव इस प्रकार मिले रहते हैं कि रचना के बाद सायास किसी भी अलंकार को नहीं जोडा जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति होने पर सम्पूर्ण गेस्टाल्ट ही छिन्न-भिन्न हो सकता है। जिसे हम भाषा का शिल्प कहते हैं वह सर्जक के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण आवर्त है। सर्जन के क्षण के बाद शिल्प का महत्व कुछ नहीं। वस्तुतः हम किसी अनुभूति को अपनी बनाने के बाद आत्म-विस्तार की सापेक्षता में उसे नया रूप देने लगते हैं तो संपूर्ण अनुभूत अर्थ या रूपाकार उच्चरित होने के लिए जिस भाषा की माँग करता है, अभिव्यक्ति के स्तर पर वह अपने आप अलंकारों का प्रश्रय लेती है। भाषा वस्तुतः उन सभी प्रक्रियाओं को अपने में समेटने के बाद ही निर्मित होती है। रूपक और उपमा अलंकारों की चर्चा करते हुए मिडिल्टन मरी ने उसके बाह्य रूप को सर्वथा अनुपयुक्त कहा है : 'भाषा में प्रयुक्त वास्तविक रूपक की स्थिति आभूषण की भाँति नितान्त बाह्य और पृथक नहीं है। रूपक तो एक प्रकार से जुडा होता है। उपयुक्त विशेषणों के अभाव में रूपक और उपमा का प्रयोग सहज और अनिवार्य हो जाता है। भाव और विचारों की अभिव्यक्ति में दोनों अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है।'[3] आधुनिक विचारक रेनवेलेक ने अलंकारों और भाषा के संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए उसका सम्बन्ध भाषा की आंतरिकता से जोड़ा है। वह कहता है कि, 'कुछ भावनाएँ मात्र रूपक से ही व्यक्त हो सकती हैं। सच तो यह कि पाश्चात्य साहित्य में अलंकारो

---

१. आनंदवर्द्धन— ध्वन्यालोक ३।२८।

२. सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव की भूमिका, २७–२८।

३ मिडिल्टन मरी—द प्राबेल्मस आफ स्टाइल, पृ० ९७।

का विवेचन रचना के अनिवार्य तत्व के रूप में हुआ है।[१] आई० ए० रिचर्डसन ने भी 'रूपक को भाषा में सर्वत्र व्याप्त नियम' 'के रूप में स्वीकार किया है।[२]

रचना प्रक्रिया में मिथों और प्रतीकों का बिम्बात्मक प्रयोग महत्वपूर्ण उपलब्धि का द्योतक है। मिथों का बिम्ब के रूप में प्रयोग मिथ के प्रतीक के बिम्ब रूप में संक्रमण की क्रिया सहचरित है। सुदर्शन चक्र आदि का प्रयोग मानवीय अनुभूतियों के व्यापक संदर्भों में किया गया है। वर्तमान परिवेश के सम्बन्ध में मानव अनुभूतियों की जटिलता एवं संश्लिष्टता का अनुमान करना सहज ही है। एक ही क्षण में व्यक्ति विभिन्न स्तरों पर जीवन को जीता और भोगता है। ये भोगी गई अनुभूतियाँ जब अभिव्यक्त होती हैं तो बिम्बों की आवश्यकता पड़ती है। मिथों और प्रतीकों के बिम्बात्मक रूप में प्रयोग करने से अनुभूतियों की माला भाषा के सूक्ष्म रूप से ही संयमित हो पाती है और इसे ही सिलवटों वाली भाषा कहा जाता है। 'अर्थों की स्तरात्मकता' जिसे इलियट सार्थकता के अनेक स्तरों के रूप में ग्रहण करता है, इसी धारणा से सम्बद्ध है। प्रतीकों और मिथों का भावार्थ भौतिक उत्थान मे सर्जनशील भाषा की गुणात्मक परिणति है। यदि प्रतीकों और मिथों का उपयोग बिम्बों के रूप में नहीं हो पाता तो प्रायः कथानक रूढ़ियाँ या रूढ़िबद्धता आ जाती है। प्रतीकों का रूढ़िबद्ध होना साहित्य के हित में नहीं माना जाता। मिथ, जो कि निश्चित मूल्यों से जुड़े होते हैं, का प्रयोग विघटित मूल्यों के संदर्भ में बिम्बात्मक रूप में ही सम्भव है। भारतीय पुराकथा शास्त्र में उर्वशी आदि अनेक ऐसे मिथ हैं जो बिम्ब के स्तर पर भावनाओं को उद्वेलित करने में समर्थ हैं। साहित्य में ऐसे प्रयोग कम उपलब्ध होते हैं और इस से साहित्य में कभी-कभी अवरुद्ध सर्जनशीलता की स्थिति आ जाती है। इसका एक बहुत बड़ा कारण प्रतीकों आदि का बिम्बात्मक रूप में प्रयोग न हो पाना भी है। उपमानी योजना का बिम्बात्मक रूप में सफल प्रयोग असम्भव है। सर्जनात्मक भाषा में उपमान योजना का महत्व भाव-चित्रों की दृष्टि से ही नहीं, अन्य दृष्टियों से भी गौड़ है। अज्ञेय जब 'अफराए डांगर' का प्रयोग रेलगाड़ी के लिए करते हैं तो वह प्रतीक का एक बिम्ब के रूप में सफल प्रयोग इसलिए कहा जाता है कि उसमें रेल की चाल, ग्रामीण वातावरण में औद्योगिक स्थिति का विकास तथा अफराए डांगर की एक अलग अनुभूति होती है। बिम्ब-विधान मूर्त और अमूर्त दोनों होता है। अमूर्त बिम्ब-विधान अत्यन्त ही सजग सर्जक की माँग करता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध ऐसी मानवीय अनुभूतियों से होता है, जो अपनी सम्पूर्णता में अत्यन्त सूक्ष्म होती है। लेकिन मूर्त बिम्ब-विधान स्थूलोन्मुखी होता है। प्रतीकों का बिम्बात्मक प्रयोग काव्य में अधिक लेकिन कथा-साहित्य में अल्प रूप से पाया जाता है। इसके लिए बौद्धिक सजगता और भावात्मक एकतानता की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि शब्दों को व्यक्तित्व प्रदान करना, उनको नियोजित करना और नया अर्थ प्रदान

---

१. रेनवेलेक—थियरी आफ लिटरेचर, पृ० १९८।

२ आई० ए० रिचर्ड्स—द फिलासफी आफ रिहेटरिक पृ० १९२।

करना एक कला है। मिथों का बिम्ब के रूप में प्रयोग कठिन है लेकिन इस कठिनाई के बाद भी उपलब्धि अत्यन्त सराहनीय है। मिथ का बिम्ब के रूप में प्रयोग करने के लिए उसकी आंतरिक उर्जा का ज्ञान आवश्यक है परन्तु जिस स्थिति में, जिस अनुभूति के स्तर पर उसे प्रयुक्त किया जा रहा हो, उसके स्वरूप और सम्प्रेषण की क्षमता तथा सर्जनात्मकता का ज्ञान भी आवश्यक है। रहस्यवादी सर्जकों ने आध्यात्मिक स्तर पर मिथों के प्रयोग बिम्ब के रूप मे किए हैं। अखौरी ब्रजनन्दन प्रसाद का कबीर आदि के आधार पर ऐसा निश्चित मत है। लेकिन वे सभी प्रयोग बिम्बात्मक नहीं कहे जा सकते। उनमें से कुछ तो मात्र प्रतीकात्मक प्रयोग हैं। सर्जनात्मक भाषा अभिव्यक्ति के विभिन्न धरातलों पर भिन्न रूपकात्मक होती है। परिणामस्वरूप सर्जनात्मक भाषा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। यथार्थ के संगठन और विस्तार में प्रतीक महत्वपूर्ण कार्य करते है। बिना प्रतीकों के यथार्थ को उद्घाटित करना सम्भव ही नहीं हो पाता। यथार्थ को सही रूप में उद्घाटित करने के लिए प्रतीक बिम्बों के स्तर पर प्रयुक्त होते हैं, इसीलिए सामान्य भाषा की शब्दावली का बिम्बों में अधिक महत्व होता है। प्रतीकों, मिथों आदि के बिम्बात्मक प्रयोग से अनुभूति के साथ सत्यता का होना वर्तमान युग की एक विशिष्ट माँग है।

● ●

मराठी रंगमंच : एक विवेचन

●

म॒० श्री कानडे

मराठी रंगमंच महाराष्ट्रीय संस्कृति का एक सम्पन्न तथा लोकप्रिय अंग है। मराठी रसिकों तक उस समय के राजकीय तथा सामाजिक विचारों को पहुँचाकर उन्हे जाग्रत करने का और उनके सामने रसात्मक जीवन-दर्शन का चित्र रखने का महान् कार्य मराठी रंगमच ने पिछले सौ-सवा सौ साल के अपने उज्वल इतिहास में किया है। यह करते समय मराठी रगमंच ने चित्र, शिल्प, नाट्य आदि कलाओं का आविष्कार किया तथा संगीत-कला को महाराष्ट्र के जीवन का एक अविभाज्य घटक बना दिया है। वास्तव में मराठी नाट्य-साहित्य के बल पर ही मराठी भाषा सशक्त हुई है। महाराष्ट्रीय जीवन पर काफ़ी प्रभाव डालने वाले इस मराठी रंगमंच का उद्‌गम १८४३ में हुआ।

इससे पूर्व मनोरंजन के साधनों में महाराष्ट्र में 'दशावतारी खेल', 'ललित', 'भारूड', 'कठपुतली', बहुरूपी', 'तमाशा' आदि कलाएँ सदियों से चली आ रही थीं। १३ वी शती के अन्त मे पैदा हुए महाराष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ सन्त कवि ज्ञानदेव की रचनाओं में भी इनका उल्लेख है।

१८४२ ई० में कर्नाटक प्रान्त की 'भागवत' नामक एक नाट्य-मंडली सांगली के सस्थान (रियासत) में आयी हुई थी। इस मंडली के नाट्याभिनय से प्रभावित होकर सागली के उस समय के संस्थानाधिपति श्रीमन्त चिन्तामण राव उर्फ अप्पा साहेब पटवर्धन ने अपने आश्रित श्री विष्णुदास भावे नामक व्यक्ति को उसी तरह की, लेकिन अधिक कलापूर्ण नाट्य-कथा लिखने का आदेश दिया था। श्री विष्णुदास भावे ने अपने रसिक और गुणज्ञ, आश्रयदाता के आदेशानुसार एक नाट्य-कथा लिखी और १८४३ में 'श्रीमन्त' के सामने उसका प्रथम अभिनय कराया। इस नाटक का नाम था 'सीता-स्वयंवर', और यही मराठी रंगमच की गंगोत्री है। इसके बाद श्री भावे ने गणेश-स्तवन, रामायण तथा महाभारत की कथाओं पर आधारित अनेक नाटक लिखे। ये सब नाटक पद्य में ही लिखे गये थे। समय तथा प्रसग देखकर इन नाटकों की भूमिका वे गद्य में कह देते थे। इनके पद गाने का कार्य एक मात्र सूत्रधार ही करता था इनमें परदे का या नेपथ्य का अभाव था श्री विष्णु

दास भावे ने १८५१ के बाद और स्थानों पर भी इनके अभिनय कराये। पूना और बम्बई की रसिक मण्डलियों ने ये अभिनय देखकर दाँतों तले उँगलियाँ दबायीं। इससे श्री विष्णुदास को यश तथा धन दोनों का लाभ हुआ। १८६१ तक अनेक स्थानों मे ये प्रयोग होते रहे। श्री विष्णुदास भावे को काफ़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई। सभी ओर उनकी तूती बोलने लगी और अन्य स्थानों पर भी इस कला का अनुकरण होना प्रारम्भ हुआ। श्री विष्णुदास की 'सांगलीवर नाट्य-मण्डली' की तरह 'इचल करंजीकर', 'बम्बईकर', 'कोल्हापुरकर', 'अलनेकर' आदि नाट्य-संस्थाओं की बुनियाद डाली गई। इन सब संस्थाओं के नाटक पौराणिक, अद्‌भुतरम्य, अतिमानवी तथा समान ढाँचे के थे।

१८५६ में अँग्रेजी रीति पर आधारित 'फार्स' नाट्य-प्रकार का सहयोग इसे प्राप्त हुआ। उस वर्ष 'अमरचन्द वाडीकर' नाम की नाट्य-मण्डली ने मराठी रंगमंच पर पहला 'फार्स' प्रस्तुत किया। इस 'फार्स' प्रकार की दो विशेषताएँ थीं—एक, पूर्वनियोजित कथावस्तु, दूसरी, सामाजिकता। इसमें हास्य-प्रसंगों की भी एक शृंखला थी। आगे चलकर पुरवणी के समान जोड़ी हुई कथावस्तु को भी 'फार्स' नाम दिया गया। इन 'फार्सों' में प्रमुख भूमिका श्री गोपालराव दाते किया करते थे, जिन्हें उस समय काफी सफलता प्राप्त हुई थी। इसी 'अमरचन्द वाडीकर' मण्डली ने मराठी रंगमंच पर सर्वप्रथम 'परदों' और 'दृश्यों' का प्रयोग किया।

'इचल करंजीकर मंडली' तो इससे भी आगे एक पग चली गई। इस मंडली ने १८६२ ई० में वि० ज० कीर्तने द्वारा लिखित 'थोरले माधवराव पेशवे' नाटक रंगमच पर प्रस्तुत किया। यहीं से 'बुकीश' (Bookish) नाटकों का काल प्रारम्भ हुआ। मराठी मे पुस्तक रूप में प्रकाशित तथा मराठी रंगमंच पर अभिनीत स्वतंत्र साहित्यिक प्रथम नाटक 'थोरले माधवराव पेशवे' ही है। यह बहुत लोकप्रिय हुआ। इसमें माधवराव की पत्नी रमाबाई का अभिनय करने वाली श्री विष्णु बाटवे नामक कलाकार को बहुत ही यश प्राप्त हुआ था। इसी 'इचल करंजीकर' मंडली ने श्री कीर्तने के 'जयपाल' नाटक का १८६५ मे अभिनय किया। इसके दो वर्ष बाद श्री महादेव शास्त्री कोल्हटकर ने शेक्सपियर के 'आथेलो' नाटक का उसी नाम से मराठी अनुवाद किया और उपर्युक्त मंडली ने ही उसका अभिनय किया। यह घटना मराठी रंगमंच को एक नयी दिशा में मोड़ देने वाली साबित हुई। इससे पूर्व मराठी में संस्कृत के नाटकों का अनुवाद हो चुका था। श्री परशुराम तात्या गोड़बोले कृत 'उत्तर रामचरित' तथा अमरापूरकर बापट कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक १८५१ मे ही अनूदित हो चुके थे।

१८५७ ई० में बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और वहाँ संस्कृत के नाटको का अध्ययन होने लगा। संस्कृत से मराठी में नाटकों के अनुवाद का कार्य और भी तेजी से जारी हुआ। परशुराम पंत गोड़बोले कृत 'वेणीसंहार' (१८५७), रजवाड़े कृत 'मालती-माधव' (१७६१), चिपलूणकर कृत 'नागानन्द' (१७६५), लेलेशास्त्री कृत "जानकी परिणय' (१८६२) आदि नाटक प्रकाशित हुए। संस्कृत नाटकों का अध्ययन करने वाले एलफिन्स्टन कालेज के छात्रों ने तथा पूना के डेक्कन कालेज के छात्रों ने शाकुन्तल' (१८७०) वेणी

ाहार' (१८७१), तथा 'मालती-माधव' (१८७२) नाटकों का संस्कृत में ही अभिनय किया और शिक्षित व्यक्तियों के मन में नाटक-कला के बारे में रुचि उत्पन्न कर दी। संस्कृत की तरह अँग्रेजी से भी नाटकों का अनुवाद करने की परम्परा चली। वि० मो० महाजनी ने शेक्सपियर के Cembeline का तथा प्रधान जठार ने Comedy of Errors नाटको को 'तारा' और 'भ्रान्तिकृत चमत्कार' इन नामों से अनूदित कर प्रकाशित किया।

अनुवादों की तरह ही मौलिक सामाजिक नाटक लिखने का भी प्रारम्भ हुआ। सबसे प्रथम सामाजिक नाटक श्री० गो० ना० माडगाँवकर द्वारा रचित 'व्यवहारोपयोगी' (१८५६) है। इसके बाद तत्कालीन सामाजिक विचारों का प्रतिबिम्ब जिनमें देखा जा सकता है, ऐसे दो नाटकों की उस समय बहुत प्रशंसा हुई, वे है—श्री० मा० बा० चितले का 'मनोरमा' (१८७१) और अभ्यंकर शास्त्रीकृत 'स्वैर सकेशा' (१८७१)।

उस काल की एक विशेषता यह है कि केवल नाटकों के अभिनय के लिये ही नाट्यगृह बनाये जाने लगे। १८५६ में पूना में 'पूर्णानन्द' तथा १८६४ में 'आनन्दोद्भव' इन दो नाट्य-गृहो की बुनियाद डाली गई। १८७३ मे कोल्हापूरकर मंडली ने विविध दृश्यों से चित्रित परदों का प्रयोग प्रारम्भ किया। उसके बाद अन्य नाटक मण्डलियों ने भी इनका अनुकरण किया। आश्चर्यकारक दृश्यों के निर्माण का कार्य भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ।

अनूदित नाटकों के बाद नाट्य-रचना भी अतिमानवी स्वरूप को छोड़कर धीरे-धीरे यथार्थ की ओर झुकने लगी। नाटकों के पद जहाँ केवल सूत्रधार ही गाया करता था, वहाँ अन्य पात्रों के लिये भी पदों की रचना हुई। सो० बा० त्रिलोकेकर के 'नल-दमयन्ती' (१८७६) नाटक में यह योजना अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से तथा अभिनय की दृष्टि से प्रगति की ओर जाने वाला 'मराठी रंगमंच' १८७० मे एक बहुत ही महत्वपूर्ण सोपान तक पहुँच गया। उस साल मराठी रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये अण्णासाहब किर्लोस्कर के 'शाकुन्तल' अनूदित नाटक के अभिनय से मराठी नाटक ने अपने विकास की एक नयी दिशा अपनायी।

१८८०–१९००

३० अक्तूबर, १८८० के शुभावसर पर अण्णासाहब किर्लोस्कर ने कविकुल गुरु कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक को अभिनीत किया। और ठीक उसी दिन से मराठी रंगभूमि के वैभवशाली कालखण्ड का श्रीगणेश हुआ। इस नाटक में सूत्रधार की भूमिका स्वयं किर्लोस्कर जी ने की थी। उन्होंने 'शाकुन्तल' की नांदी गाकर मराठी रंगमच के आधुनिक युग की नांदी ही गायी थी। १८४३ से १८८० तक मराठी रंगभूमि की चारो तरफ से उन्नति हो रही थी। 'शाकुन्तल' उन समस्त प्रयत्नों से विकसित एक नाट्य-पुष्प था इसी नाटक से मराठी रंगभूमि की भावी उन्नति का मार्ग निश्चित हुआ था। अद्भुत-संवा तथा नाट्यवस्तु से एकरूप होनेवाला संगीत आदि इस नाटक की विशेषताएँ थीं। ये विशेषता इतनी प्रभावी सिद्ध हुई कि मराठी रंगभूमि में होनेवाली तब्दीली का स्वरूप इसी से निश्चि हुआ उस काल तक परिचित नाट्यागों का किर्लोस्कर जी न जो सहज मनोहर समन्वय कि

उसके कारण नाट्यकला को मराठी रसिकों के अन्तःकरण में स्थायी स्थान मिला। १८८२ में किर्लोस्कर जी ने 'सौभद्र' प्रस्तुत किया। 'सौभद्र' मराठी का वह सर्वांगसुंदर नाटक है जिसे अक्षय्य लोकप्रियता का वरदान मिला है। किर्लोस्कर जी के नाटकों में मोराबा वाघुलीकर, भाऊराव कोल्हटकर, बालकोबा नाटेकर जैसे श्रेष्ठ गानपटु थे। इन कलावंतों के महत्वपूर्ण कार्य का परिणाम यह हुआ कि संगीत मराठी नाटक का एक अविभाज्य अलंकार बन गया। भाऊराव कोल्हटकर जी के गंधर्वतुल्य गान में मराठी रसिक लगभग अठारह बरस झूमते रहे। अपने नाट्य-प्रयोगों से किर्लोस्कर नाट्य-मंडली ने खूब प्रतिष्ठा पायी। परिणामतः तिलक, आगरकर जैसे समाजधुरीण भी उनका स्वागत करते थे एवं उनके नाटकों को राष्ट्रीय मनोरंजन की सामग्री मानकर गौरवान्वित करते थे।

किर्लोस्कर की दृष्टि प्रेक्षकों के लिए मनोरंजन की उच्चकोटि का साहित्य निर्मित करनेवाली थी। इसी समय 'आर्योद्धारक' नाट्य-संस्था की स्थापना हुई। इस नाट्य-संस्था में नाटकों का शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया जाता था एवं सामाजिक प्रबोधन की शक्ति बढाने की ओर ध्यान दिया जाता था। शंकरराव पाटकर, देवल आदि इस नाट्य-संस्था का मार्गदर्शन करते थे। यह परम्परा गद्य-नाटकों की थी। इसी परम्परा में निर्मित 'शाहूनगरवासी' नाटक मंडली ने शेक्सपियर के अनेक नाटक रंगभूमि पर प्रस्तुत किये और उस विश्वकवि की अलौकिक प्रतिभा से मराठी रसिकों को परिचित कराया। फर्ग्युसन कॉलेज के अँग्रेजी के ख्यातिप्राप्त प्राध्यापक श्री केलकर जी ने उस संस्था के अभिनेताओं का उचित मार्गदर्शन किया। उस संस्था के गणपतराव जोशी तथा बालाभाऊ जोग अपने नाट्य-गुणों के कारण अमर हुए हैं। इनमें से गणपतराव जोशी की हैमलेट की भूमिका मराठी रंगभूमि पर एक लोकोत्तर भूमिका थी। गणपतराव की अभिनय-कुशलता तथा आवाज़ मराठी रंगभूमि का चमत्कार समझी जाती है। 'त्राटिका', 'झुंझारराव', 'मानाजीराव' आदि शेक्सपियर के अनूदित नाटक रंगभूमि पर बहुत ही लोकप्रिय थे। इन नाटकों के साथ वा. रं. शिरवलकर कृत 'राणा भीमदेव', 'पन्नारत्न' जैसे नाटक भी रंगभूमि पर सफल रहे। इन नाटकों ने प्रेक्षकों के दिलों में अपना देश, अपना धर्म, आदि विषयों में पुनीत भावनाओं के उद्दीपन का कार्य किया।

किर्लोस्कर मंडली के लिए 'रामराज्य वियोग' (१८८५) आखिरी नाटक लिखकर अण्णासाहब स्वर्ग सिधारे। उनकी परम्परा का निर्वाह उनके शिष्य देवल ने किया। इन्होंने भी वैसे ही कलापूर्ण नाटक लिखे। 'मृच्छकटिक' तथा 'शाप-संभ्रम' (१८९३) देवलजी के दो अनूदित नाटक हैं। ये नाटक बहुत ही यशस्वी हुए। इसका श्रेय मुख्यतः गानपटु भाऊराव कोल्हटकर तथा किर्लोस्कर मंडली के गुणी नट-संच को देना चाहिए। किर्लोस्कर मंडली में चितुबुवा गुरव, कृष्णराव गोरे, गणपतराव बोडस आदि लोकप्रिय अभिनेता थे। अत्यंत स्वाभाविक संभाषण, नाट्यकथा से एकरूप सरस पद तथा कल्पनारम्य वातावरण देवलजी के नाटकों का विशेष गुण है।

किर्लोस्कर का आदर्श सामने रखकर देवलजी ने भी अपने नाटकों में पद-योजना की एवं संगीत-लोलुप मराठी रसिकों को प्रसन्न किया। उनकी संगीत साधना में अलग-अलग राग

जातिरचना और साकी दिंडी आदि मात्रावृत्तो का विशेष हाथ रहा नाट्य-रचना भी किर्लोस्कर जी के नाटकों जैसी सस्कृत ढाँचे की थी।

किर्लोस्कर तथा देवल के नाटक विशेषतः नागरी संस्कृति के लिए लिखे गये थे, स्वभावतः उनका प्रेक्षक-गण शिक्षित स्तर का था। उनकी कला का मूल्यांकन करनेवाला प्रेक्षक गाँवों में न मिला। फलतः इन नाट्य-संस्थाओं के नाट्य-प्रयोग नगरों में ही हुआ करते थे। निम्न स्तरों के लोगों की दृष्टि से ये नाटक उतने उपयुक्त न थे, क्योंकि वैसी मनोरंजन की सामग्री इनमें न थी। तब यह आवश्यक था कि इन ग्रामीणों के लिए उनके स्तर की नाट्य-रचनाएँ हों। इसकी पूर्ति माधवराव पाटणकर ने की। इसलिए नाट्य-कला को निम्न स्तरों तक पहुँचाने का श्रेय श्री पाटणकर जी को देना चाहिए। पाटणकर जी स्वयं नाटककार तथा अभिनेता थे। पाटणकर संगीत मंडली ने दो नाटकों की रचना की, 'विक्रम-शशिकला' (१८८८), तथा 'सत्यविजय (१८९२), जिनका अभिनय सौ से अधिक बार हुआ। इतनी बार अभिनीत होने का कारण था सुबोध भाषा, अत्यंत आसान रचना, बिना किसी कठिनाई के समझ में आनेवाली कथावस्तु। कथावस्तु में अद्भुत रम्यता अनिवार्य रूप से हुआ करती थी। उनके नाटक पर तथा नाट्य-गुणों पर बम्बई का कामगारवर्ग बेहद खुश होता था।

जब कि एक ओर पौराणिक, कल्पनारम्य नाटक लोकप्रियता की बाढ़ में बहे जा रहे थे, दूसरी ओर, समाज की एकाध घटना को लेकर खण्डन-मण्डन करने वाले प्रमेयात्मक नाटक भी लिखे जाने लगे। यह काल १८७० का था। सामाजिक-सुधार का आन्दोलन जोर पकड रहा था। स्त्री-शिक्षा, स्त्री-स्वातंत्र्य, पुनर्विवाह इत्यादि विषयों पर बहसें होती थीं। इनकी प्रतिध्वनि नाट्य-वाङ्मय में बिलकुल स्वाभाविक थी। फलस्वरूप 'तरुणी-शिक्षण-नाटिका' 'समति-काव्यद्यार्चे नाटक आदि नाटक प्रस्तुत किये गये। इन नाटकों में सुधारकों के अति-शयोक्त चित्र पेश किये गये और साथ ही इन सुधारों का विरोध करने वाले पुराणपंथियो का पर्दाफाश भी किया गया। 'सौभाग्य रमा' लिखने वाले नाटककार श्री अ. मा. जोशी सुधारो को उत्तेजना देते रहे। जो भी हो, इन नाटकों की विशेषताओं का विचार करते हुए देखा जाता है कि यद्यपि इनमें घरेलू वातावरण है, लोकप्रियता है, तथापि इन्हें वह वाङ्मयीन मूल्य प्राप्त नहीं हो सका, क्योंकि इनमें कलात्मकता की कमी थी। यह वाङ्मयीन मूल्य तथा प्रायोगिक यश की अग्र-पूजा का भाग्य देवलजी लिखित 'शारदा' को प्राप्त हुआ, जो रंगभूमि पर १८९९ मे खेला गया। 'शारदा' अपने समय का सर्वश्रेष्ठ स्वतंत्र सामाजिक नाटक है। कहना चाहिए कि इसके पहले जो भी सामाजिक नाटक लिखे गये उनमें सामाजिक विचारो की भूमि ऊबड़-खाबड़ थी, उन विचारों के अतिरेकी दर्शन होते थे। 'शारदा' लिखकर देवल जी ने अपनी संयमशीलता तथा कलापूर्णता का जो परिचय दिया, उसके कारण सामाजिक नाटकों ने मराठी रंगभूमि पर एक महत्वपूर्ण स्थान पा लिया। जरठ कुमारी-विवाह का विरोध प्रदर्शित करने वाले इस नाटक के पदों ने महाराष्ट्र के घर-घर में प्रवेश पाया। 'शारदा' के पात्र भुजंगनाथ, भद्रेश्वर, कांचन भट आदि का प्रेक्षकों से इतना घनिष्ट परिचय हुआ कि मराठी भाषा में ये नाम विशेषणों के समान प्रयुक्त होने लगे। सामाजिक नाटकों में देवल जी के समान स्वाभाविक तथा सवाद लिखन वाला शायद ही हुआ होगा

किर्लोस्कर मंडली के अभूतपूर्व यश से प्रेरित होकर महाराष्ट्र में अनेक आधुनिक नाट्य-संस्थाओं का उदय हुआ। किर्लोस्कर-देवल के नाटकों पर उनके कर्ताओं का कोई खास नियंत्रण न था, अतः उन नाटकों के अभिनय की अनुमति किसी भी नाट्य-संस्था को प्राप्त हो सकती थी। इसी कारण इस समय भी इन नाटकों के अभिनय लगातार हो रहे हैं। 'स्वदेश हित-चिंतक' नाटक मंडली, 'गोवा संगीत मंडली', 'महालक्ष्मी प्रासादिक मंडली', 'नाट्य-कला प्रवर्तक-मंडली' आदि कई नाट्य-संस्थाएँ प्रस्थापित होकर सारे महाराष्ट्र में किर्लोस्कर की परम्परा को दृढ़मूल बनाई। किर्लोस्कर मंडली ने अपने नाटक उत्कृष्ट ढंग से प्रस्तुत किये। इतना ही नहीं, अपने नाट्य-गुणों से सम्पन्न अनेक नाट्य-संस्थाओं का निर्माण करना उसका सर्वश्रेष्ठ कार्य है। इसीकारण किर्लोस्कर मंडली समस्त नाट्य-संस्थाओं की जननी कही गई। उसके उपरांत जितनी भी नाट्य-संस्थाएँ बनीं, उन पर किसी न किसी हद तक किर्लोस्कर मंडली का प्रभाव है अथवा वे कम-अधिक रूप में उसकी परम्परा से संलग्न हैं।

इस मंडली के द्वारा श्री० कृ० कोल्हटकर ने रंगभूमि पर प्रवेश पाया। इन्होंने नाट्य-वाङ्मय में अलग किन्तु मौलिक विशेषताओं की रचना की। उनकी विशेषताएँ हैं—स्वतंत्र कल्पनारम्य कथावस्तु, बुद्धि प्रधान विनोद तथा पारसी और गुजराती रंगभूमि पर होने वाले संगीत का अनुकरण। कोल्हटकरजी ने 'वीरतनय' नामक पहला नाटक रंगभूमि पर प्रदर्शित किया। अपनी नाविन्यपूर्णता के कारण वह बहुत ही लोकप्रिय हुआ। उसके पूर्व रंगभूमि पर यशस्वी होनेवाले नाटक या तो पौराणिक होते थे या अनूदित। १९०० के आसपास अनुवाद का काल समाप्त हुआ एवं स्वतंत्र कथावस्तु का अधिकाधिक आविर्भाव हुआ।

१९००–१९३५

यह काल मराठी रंगभूमि का उत्कर्ष काल है। इस समय मराठी रंगभूमि ने अपनी गुणवत्ता का प्रसार खुलकर किया। महाराष्ट्र के नाटकों के इतिहास में उसने स्वर्णयुग निर्मित किया। अच्छे अभिनेता, नाटककार, संगीत, नेपथ्य-रचना आदि उत्तमांगों के कारण मराठी रंगभूमि भारत भर के आदर का भाजन बनी। इस काल-खण्ड में निर्मित कई नाटकों ने मराठी रंगभूमि को सम्पन्नता प्रदान की। एक तो गानाभिनय पटु कलाकारों ने रसिकों को स्वर्गीय-सृष्टि का साक्षात्कार कराया, दूसरे, नेपथ्य-रचना ने अविस्मरणीय दृश्यों की योजना की, शायद इसी कारण मराठी रंगभूमि के वैभव को नजर लग गयी, क्योंकि इसी काल के अन्त में रंगभूमि के इतिहास में वनवास-पर्व का श्रीगणेश हुआ।

पिछले कालखण्ड में अपने नाट्याभिनय से शेक्सपियर की नाट्य-कृतियों को अमरता प्रदान करनेवाले गणपतराव जोशी अब भी (१९२२ तक) उसी अभिनय-नैपुण्य से रसिकों को खुश कर रहे थे। श्री शिरवलकर जी लिखित संत चरित्रों पर आधारित नाटक भी आपने प्रस्तुत किये, तथापि वारकरी सम्प्रदाय के संत तुकाराम (१९०१) के जीवन पर आधारित नाटक इन सबमें अधिक सफल रहा। १९१० में गणपतराव के तुल्यगुणी सहकारी अभिनेता बाला-भाऊ जोग की आकस्मिक मृत्यु हुई। इसके बाद गणपतराव का अलौकिक अभिनय ही रंग-भूमि पर बचा रहा इसी काम के महाराष्ट्र नाटक मण्डली' की बुनियाद

डाली गयी (१९०४)। इस मण्डली मे व्ययवादी नौजवानो की अधिकता था उन्होंने रग भूमि की विशेषताओं को आधुनिक रूप म उपस्थित किया तथा कई अच्छे नाटक अभिनीत किये। इसी नाट्य-संस्था ने मराठी रंगभूमि को कृष्णा जी प्रभाकर खाडिलकर जैसा महान नाटककार दिया। 'सवाई माधवरावांचा मृत्यु' और 'कांचन गडची मोहना' इन दो नाटकों के जरिये खाडिलकर जी ने मराठी मे 'शोकान्तिका' नाट्य-प्रकार का उत्कर्ष दिखाया। परन्तु खाडिलकर जी की विशेषता इसी में है कि उन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में प्रचलित राष्ट्रीय भावनाओं को समाविष्ट करने का अत्यंत दुरूह कार्य कलापूर्ण ढग से निभाया। 'कीचक वध', 'भाऊबंदकी', 'सत्व-परीक्षा' जैसे नाटकों की तेजस्वी तथा धीरोदात्त स्वभाव-रेखाएँ मराठी नाट्य-वाङ्मय में अमर हुई हैं। 'कीचक वध' में सूचित प्रक्षोभक राजकीय आशय ब्रिटिश नौकरशाही के लिए एक जोरदार तमाचा था, जिससे बौखलाकर सरकार ने यह नाटक जब्त कर लिया था। गणपतराव भागवत, टिपणीस बन्धु, त्रिबकराव प्रधान आदि अभिनेता खाडिलकर जी के नाटकों मे प्रमुख भूमिकाएँ करते थे। लोकमान्य तिलक जी के विचारों को चारों ओर फैलाने का कार्य खाडिलकर जी ने अच्छी तरह से निबाहा। नाटकों की प्रमाणबद्ध रचना, ठोस स्वभाव-चित्र, उत्कट नाट्य-प्रसंग तथा वीर रस से प्लावित भाषा-शैली आदि गुणों से खाडिलकर जी के नाटक सम्पन्न हुए हैं।

खाडिलकर जी के नाटकों से गद्य रंगभूमि पर एक नये युग निर्माण हो रहा था। उसी समय संगीतभूमि पर कोल्हटकर लिखित 'मूकनायक' (१९०१), 'गुप्तमंजूषा' (१९०३), 'मतिविकार' (१९०५) और 'प्रेमशोधन' (१९१०) ये नाटक किर्लोस्कर मण्डली द्वारा अभिनीत हुये। उनमें से शराबबंदी का पुरस्कार करनेवाला 'मूकनायक' नाटक अपनी कल्पना-रम्यता के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ। परन्तु कथावस्तु की खींचा-तानी, उत्कटता का अभाव तथा संस्कृत-प्रचुरता से दुर्बोध बने पद आदि के कारण कोल्हटकर जी के नाटक जल्दी ही पिछड़ गये। उनका 'मूकनायक' इसका अपवाद है। यद्यपि कोल्हटकर जी विस्मृतप्राय से हो गये, फिर भी संगीत रंगभूमि के उन्नति के राजमार्ग पर रखा हुआ कदम पीछे नहीं हटा। इसका कारण यह है कि १९११ में खाडिलकर जी के 'मानापमान' नाटक ने संगीत रङ्गभूमि पर एक नये पर्व का आरम्भ किया। जानकी बाई, गोहरजान आदि नामवंत गायिकाओं के प्रसिद्ध 'ख्याल संगीत' को मराठी रंगभूमि पर निस्संकोच रूप से लाने का श्रेय 'मानापमान' नाटक को है। इतने से ही इसकी पूर्ति नहीं हुई, बल्कि खाडिलकर जी के नाटकों ने गोविन्द राव टेंबे, भास्करबुवा बखले, मा० कृष्णराव जैसे स्वर-मर्मज्ञों की सहायता से शास्त्रीय संगीत के प्रचार का अपूर्व पराक्रम प्रदर्शित किया। इन नाटकों एव उनके संगीत को चिरंजीवी श्रेय गायनाभिनय सम्राट् तथा शककर्त्ता बालगंधर्व को दिया जाता है। सर्वप्रथम किर्लोस्कर मण्डली में और बाद में अपनी 'गंधर्व नाटक मण्डली' में प्रमुख नायिका की भूमिका करनेवाले इस कलावंत ने अपने लोकोत्तर कला-विलास से लगभग ५० वर्ष तक मराठी रङ्गभूमि पर सम्राट् की तरह अपना रोब जमाया। उनके साथ रंगभूमि पर मा० कृष्णराव, पं० पटवर्धन जी, पंढरपूरकर जी जैसे नामवंत गायक, गणपतराव बोडस, भाडारकर, रानाडे जैसे अभिनय-विशारद तथा उस्ताद अहमदजान जैसे भारतीय कीर्ति के

तबलिय—इस प्रकार का नटसच होने के कारण प्रेक्षकों को गधव-लोक उपस्थित होन का आभास हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। खाडिलकर जी के 'स्वयंवर' (१९१६) तथा राम गणेश गडकरी लिखित 'एकच प्याला' (१९१९) नाटकों मे बाल गन्धर्व की भूमिकाएँ अमोल है। हृदयंगम शृंगार-प्रसंगों से सजा हुआ 'स्वयंवर' तथा हृदय-स्पर्शी करुण-रस से प्लावित 'एकच प्याला' मराठी रङ्गभूमि के चिरंजीव नाटक हैं।

बाल गंधर्व के साथ नाट्य-संगीत का झण्डा फहरानेवाले केशवराव भोसले, सवाई गधर्व, मा. दीनानाथ, शंकरराव सरनाईक आदि नामवंत कलाकार इसी कालखण्ड में हुए। इन गायकों में अपने प्रतिभापूरक गान के द्वारा प्रेक्षकों के दिलों में चिरकालीन स्थान पानेवाले श्री केशवराव भोसले सर्वप्रमुख हैं। मराठी संगीत-रंगभूमि के दुर्भाग्य से आपकी मृत्यु सिर्फ बत्तीस वर्षों की अल्पायु मे हो गई। वीर वामनराव जोशीकृत 'राक्षसी महत्वाकाक्षा' (१९१३), भा० वि० वरेरकर कृत 'हाच मुलाचा बाप' (१९१३) तथा 'संन्याशाचा ससार' (१९१९) और य० ना० टिपणीस कृत 'शहा-जिवाजी' (१९२१) इन लोकप्रिय नाटकों में केशवराव भोसले ने जो उत्कृष्ट गान किया, उसे गानों की बड़ी महफिल, जश्न या दावत ही समझना चाहिए। नेपथ्य-रचना में आनंदराव मिस्त्री तथा पु० श्री० काले जैसे कल्पक तथा निष्णात चित्रकारों की सहायता ने महान कार्य किया। वास्तव में नेपथ्य-योजना, रंगभूषा तथा प्रकाश-योजना आदि के बारे में केशवराव जी तथा उनके बाद मे आने वाले और उनकी संस्था चलानेवाले पेंढारकर जी ने मराठी रंगभूमि पर जितने कलात्मक तथा विविध प्रयोग किये, उतने किसी ने नहीं किये। मामा वरेरकर कृत 'सत्तेचे गुलाम' (१९२१) तथा 'सोन्याचा कलस' (१९३२), कमतनूरकर कृत 'श्री' (१९२६) इन नाटकों का अभिनय पेंढारकर जी ने सफलतापूर्वक कराया, फलतः प्रेक्षकों द्वारा चारो ओर से उन नाटकों की माँग हुई। नाटकों में गद्य-भूमिका करने वाले नानासाहब फाटक अपने प्रभावी व्यक्तित्व तथा तेजस्वी आवाज़ के कारण प्रथम श्रेणी का स्थान पाने में सफल हुए। सवाई गंधर्व ने ह० ना० आपटे कृत 'संत सखू' (१९०८), मा० ना० जोशी कृत 'स० विनोद' (१९१३), बामणगांवकर कृत 'आत्मतेज' (१९२४) इन नाटकों में अपनी संगीत कुशलता का प्रदर्शन किया। इन नाटकों में आपने अपनी गान-विद्या को इस तरह प्रकट किया कि प्रेक्षक मंत्रमुग्ध हो गये। 'बलवन्त संगीत मंडली' की रंगभूमि पर अभिनीत खरे शास्त्रीकृत 'उग्रमंगल' (१९२२), गडकरी कृत 'भावबंधन' (१९१९), वीर वामनराव जोशी कृत 'रण दुदुभि' (१९२७), इन नाटकों में प्रमुख स्त्री-भूमिका करनेवाले मा० दीनानाथ मंगेशकर के तेजस्वी पदों ने पूरे महाराष्ट्र में ख्याति पायी। मा० दीनानाथ की नाट्य-संस्था का नेतृत्व करने वाले चिंतामणराव कोल्हटकर की गद्य-भूमिकाएँ भी बहुत कामयाब रहो। उसी नाट्य-संस्था में विनोदी भूमिका करनेवाले कलाकार दिनकर ढेरे की 'भावबंधन' के 'कामण्णा' की भूमिका इतनी अद्वितीय हुई कि आगे चलकर उन्हें 'दिनकर कामण्णा' नाम से ही पहचाना जाने लगा। खरे शास्त्री लिखित 'चित्र-वंचना', गोविंदराव टेंबेजी कृत 'पट-वर्धन' नाटकों में श्री० शंकरराव सरनाईक द्वारा गाये गये पदों ने संगीत-प्रेमी रसिकों को पागल बना दिया।

१६ वीं शताब्दी के अन्त में माधवराव पाटणकर जी ने बहुजन समाज के मन में नाटक के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया। यही कार्य बाद के ८ दशकों में बाबाजीराव राणे की 'राजापुरकर नाटक मंडली' ने भी किया। इनके अधिकांश नाटक सन्त-चरित्रों पर आधारित एवं भक्ति-रस प्रधान थे। 'पुंडलीक', 'तुकाराम', 'दामाजी' आदि नाटकों के कारण भक्ति-रस को पुनः आदरपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। 'तुकाराम' नाटक प्रेक्षकों के विभिन्न स्तरों में इतना लोकप्रिय हुआ कि 'राजापुरकर नाटक मंडली' ने अलग से 'तुकाराम नाट्यगृह' की रचना की। तथापि इस नाटक के सुयश का श्रेय भक्ति-रस के उत्कट परिपोष को जितना है, उतना ही उस नाटक में तुकाराम की भूमिका करने वाले श्री० पुरुषोत्तम वामन शुक्ल जैसे विख्यात अभिनेता को भी देना चाहिए।

गद्य-रंगभूमि समृद्ध करने का कार्य अनेक संस्थाएँ बड़े उत्साहपूर्वक कर रही थीं। इनमें 'महाराष्ट्र नाटक मंडली', 'भारत नाटक मंडली', 'चित्ताकर्षक नाटक मंडली' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। १६११ के बाद महाराष्ट्र नाटक मंडली ने गडकरीकृत 'प्रेम-संन्यास' (१६११), शं० प० जोशी कृत 'विचित्र लीला' (१६१६) तथा 'खडाष्टक' (१६२७), औंधकर कृत 'बेबंदशाही' (१६२४), खरे शास्त्री कृत 'शिवसंभव' (१६१६) आदि विविध नाट्य-गुणों से सम्पन्न नाटक अभिनीत करके प्रेक्षकों के हृदय में उनको चिरस्थायी बना दिया। इन नाटकों की भूमिकाएँ केशवराव दाते, वैशंपायन, शालिग्राम, पोतनीस, औंधकर आदि गुणी कलाकारों द्वारा संपन्न हुई थीं। दूसरी ओर 'चित्ताकर्षक नाटक मंडली' द्वारा प्रस्तुत किये गये न० चि० केलकर कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (१६१४) तथा 'तोतयाचें बंड' (१६१२), मामा वरेरकर कृत 'हाच मुलाचा बाप' (१६०८) इन नाटकों में अमृत-तुल्य वाणी धारण करने वाले नानाबा गोखले, रघुनाथराव गोखले तथा रामभाऊ गोखले ये तीन कलाकर भाग लेते थे। इन सारे गद्य-नाटकों में नाट्य-गुण की प्राकृतिक देन न होने पर भी केवल अभ्यास से अग्रपूजा का मान केशवराव दाते को मिला। उनके समान अभिनय की सूक्ष्म बातों को व्यक्त करने वाला प्रभावी अभिनेता कोई नहीं हुआ। अपने अभिनय द्वारा विविध रसों का आविष्कार करने में दातेजी बेजोड़ हैं।

बाह्य-तंत्र की दृष्टि से इसी काल में मराठी रंगभूमि में बहुत सुधार हुए। १६१६ में बाल गंधर्व ने संगीत में हार्मोनियम को स्थानभ्रष्ट कर दिया, उसके बदले ऑर्गन तथा सारंगी जैसे सुमधुर वाद्यों को वह स्थान दिया गया। १६२० में 'द्रौपदी' नाटक और १६२१ में 'शहा शिवाजी' नाटक क्रमशः बाल गंधर्व मंडली तथा ललित कला मंडली द्वारा अभिनीत हुए। इनमें पौराणिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से वेशभूषा, साज-सज्जा आदि का उपयोग किया गया और वहीं से उसका प्रचलन हो चला। वरेरकर जी ने तीन-साढ़े तीन घण्टों में खत्म होने वाला 'तुरुंगाच्या दारांत' (१६२३) यह एक अंक तथा एक प्रवेश से युक्त नाटक प्रस्तुत करके एक नया मोड़ दिया। 'शहा-शिवाजी' तथा 'तुरुंगाच्या दारांत' इन नाटकों में यथार्थ दृश्य (Flatseenes) दिखाना शुरू हुआ। १६२६ में 'श्री' नाटक में रेसकोर्स का दृश्य फिल्म के जरिये दिखाने का उपक्रम ललित कलादर्श मंडली ने किया।

सारांश, नेपथ्य की दृष्टि से विभिन्न प्रयोग नाविन्यपूर्ण, कलात्मक तथा यशस्वी रूप से मराठी रंगभूमि पर करने का कार्य ललित-कलादर्श मंडली ने किया।

१९०० से १९३५ के कालखण्ड में मराठी रंगभूमि पर गानाभिनय का परमोत्कर्ष दिखानेवाला एक नाट्य-प्रयोग ८ जुलाई, १९२१ मे बम्बई के प्रेक्षकों को दिखाया गया। गंधर्व मंडली' के प्रमुख अभिनेता श्री बाल गंधर्व तथा 'ललित कलादर्श मंडली' के प्रमुख अभिनेता श्री केशवराव भोसले इनके द्वारा 'मानापमान', जो खाडिलकर ने लिखा है, 'तिलक स्वराज्य फंड' के लिए खेला गया। यह नाटक दोनों नाट्य-संस्थाओं की ओर से अभिनीत हुआ था। इन कलाकारों ने अपनी गान-कुशलता से तथा नाट्याभिनय नैपुण्य से मराठी रसिकों को वर्षों रिझाया था। तथापि दोनों को एकत्र अभिनय करते हुये देखने का सुअवसर प्रेक्षकों को इसी नाटक में प्राप्त हुआ था। क्या आश्चर्य यदि सारे महाराष्ट्र के नाट्यप्रेमी रसिक उपर्युक्त नाटक का रसपान करने दौड़ पड़े हों। इस नाटक के ५) से १००) तक के टिकट चालीस मिनटो मे खत्म हो चुके थे। नाटक में दोनों अभिनेताओं ने अपने कला-विलास की परिसीमा प्रस्तुत की। तथापि केशवराव भोसले आगे रहे। नाट्य-प्रयोग से प्राप्त १६०००) की रकम 'तिलक फंड' में दे दी गयी।

इस कालखण्ड के कतिपय उल्लेख्य विशेषताओं का निर्देश करना चाहिए। इसी समय बाल-रंगभूमि की स्थापना हुई तथा वह लोकप्रिय भी हुई। बाल-नटों की जो अनेक नाट्य-संस्थाएँ है, उनमें 'आनन्द संगीत मंडली' यथार्थतः सम्पन्न है। इस नाट्य-संस्था की ओर से 'गोकुलचा चोर' के हजार से अधिक प्रयोग प्रस्तुत किये गये। इसके अतिरिक्त 'बाल शिवाजी', 'सोन्याची द्वारका', 'आंशीची राणी' आदि नाटक इसी नाट्य-संस्था ने अच्छी तरह अभिनीत किये। लोगों ने भी उन्हें पसन्द किया। यथार्थ दृश्य-योजना, पार्श्व-संगीत तथा आवश्यकतानुसार कुछ नाट्य-प्रसंगों का चित्रपटों के जरिये दर्शन आदि कारणों से उस समय 'आनन्द संगीत मंडली' का चारों ओर बोलबाला हो गया। तथापि इन सारी बातों का श्रेय उस संस्था के मालिक श्री शामराव शिरगोपीकर जी को है। परन्तु चूँकि इनके नाटकों का लक्ष्य प्रेक्षकों का केवल मनोरंजन ही था, अतः वैचारिक दृष्टि से इनका रंगभूमि के इतिहास में विशेष महत्व नहीं है। फिर भी हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि श्री शिरगोपीकर जी ने व्यवसायगत मर्म जानकर चित्रपट के आगमन के साथ ही उसका नाट्य-कला मे अन्तर्भाव किया।

चित्रपटों से लोहा लेने का एक और ही तरीका श्री अ० ह० गद्रे ने अपनाया। अपने 'नाटिका' सम्प्रदाय के लिए गद्रेजी ने दो-ढाई घण्टों मे खत्म होने वाली नाटिकाएँ लिखी। यह उपक्रम आपने १९३० ई० में शुरू किया। उनकी 'प्रेम देवता' (१९३०), 'कुमारी' (१९३१) ये नाटिकाएँ सफल रहीं। 'कुमारी' का अभिनय १०७ बार हुआ। केवल वाङ्मयीन नाटकों से परिचित मराठी प्रेक्षकों को ये नाटिकाएँ, उनमें वाङ्मयीन मूल्य अत्यल्प होने पर भी, अच्छी लगीं। परन्तु आगे चलकर यह सम्प्रदाय नष्ट हो गया।

फरवरी, १९२३ से प्रत्येक नाट्य-प्रयोग पर मनोरंजन टैक्स लगा दिया गया। आरंभ में इस टैक्स पर कोई प्रतिकूल मत-प्रदर्शन न हुआ परन्तु जैसे-जैसे यह टैक्स बढ़ने लगा वैसे वैसे उस पर विचार होने लगा नाटय के मार्ग में यह टैक्स रोड़े अटकाने लगा परि

णामत: आगे चल कर प्रत्येक नाट्य-सम्मेलन में प्रस्ताव पारित होने लगे कि यह टैक्स रद्द कर दिया जाय।

१९३५-४३

पिछले कालखण्डों में उल्लिखित वैभव-सम्पन्न नाट्य-व्यवसाय आगे चलकर बहुत जल्द पिछड़ गया। बाह्यत: यह घटना एकाएक घटी-सी दीखती है, अपने इस पतन के बीज उसी समय बोये गये थे, जब नाट्य-व्यवसाय अपनी वैभव-श्री से रंग भर रहा था। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहनेवाले अभिनेता व्यावसायिक दृष्टि से बेफ़िक्र थे। उसी समय महाराष्ट्र में मूकपटों का आविर्भाव हुआ। इसका फल यह हुआ कि अंदर ही अंदर खोखला बना यह नाट्य-व्यवसाय मूकपटों की लपट में आकर धराशायी हो गया। मूकपटों का अन्दाजा लेकर नाट्य-व्यावसायिकों ने मनोरंजन तथा अन्य सामर्थ्यशाली बातों का विचार कर अपने व्यवसाय में कोई परिवर्तन किया ही नहीं, अत: १९३१ में जब मूकपटों ने बोलपटों का अवतार धारण किया, तब यह नाट्य-व्यवसाय पूर्णत: नष्ट हो गया। गंधर्व, ललितकला, बलवन्त, महाराष्ट्र, यशवन्त आदि नामवंत नाट्य-संस्थाएँ एक के बाद एक बंद हो गईं। नाट्य-प्रयोगों के स्थान चित्रपटगृहों ने ले लिया। बाल गंधर्व, केशबराव दाते, गणपतराव बोडस आदि श्रेष्ठ अभिनेताओं ने रंगभूमि छोड दी और उन्होंने चित्रभूमि के मायाबाजार में प्रवेश किया। इस प्रकार नटों व नाटको के अभाव में नाट्य-सृष्टि नष्ट हुई। मराठी प्रेक्षकों की यही धारणा रही और वे भी बोलपटों की ओर आकर्षित हुए। इससे उनका मनोरंजन तो हुआ ही, आर्थिक दृष्टि से फायदा भी हुआ।

'ललितकला' के पेंढारकरजी और 'बलवन्त मंडल' के कोल्हरकर तथा दीनानाथजी ने इस नयी कलासृष्टि में प्रवेश पाकर उसके तंत्र को आत्मसात् करने की चेष्टाएँ कीं, परन्तु उसके अतरंग से अनभिज्ञ रहने के कारण दोनों ही असफल रहे। इस तरह १९३५ में मराठी रंगभूमि का वैभवशाली कालखण्ड समाप्त हो गया।

तथापि इस कालखण्ड के समारोप के साथ ही रंगभूमि के नये युग की आशा-किरण पदन्यास करती दिखायी देने लगी। अँग्रेजी नाट्य-वाङ्मय तथा नाट्य-व्यवसाय से परिचित कुछ लोग १९३० से ही नयी रंगभूमि संबंधी अपने विचार व्यक्त करने लगे थे। १९३२ में 'रेडियो स्टार्स' इस संस्था ने नाट्य-संबंधी नये विचारों को अधिक स्पष्ट करनेवाला 'बेबी' नामक छोटा-सा नाटक प्रस्तुत करके पहला कदम उठाया। यह पहला कदम क्रांति का कदम नहीं था, उत्क्रान्ति के मार्ग पर एक सीढ़ी थी। पुरानी रंगभूमि से संबंध रखनेवाले कुछ व्यक्तियों ने इस परिवर्तन का विचार कर तदनुरूप कुछ तब्दीलियाँ कीं, जिनमें नाटक का विस्तार कम करना, अंकों की रचना एक प्रवेशी करना, संगीत को मर्यादित स्थान देना, स्वगत को काट देना, नेपथ्य रचना को संपूर्णत: वास्तविक रूप देना और प्रकाश की समुचित आयोजना करना इत्यादि बातों का समावेश होता है। विशेषत: 'ललित कलादर्श' ने इस नयी दृष्टि को अपना कर अपने नाट्य-प्रयोगों में कई सुधार किये थे। परन्तु पेंढारकर, वरेरकर आदि प्राचीन व अर्वाचीन का समन्वय चाहते थे क्योंकि सम्पूर्णत नयी कल्पनाओं को लेकर नाट्य में नयी रचना करना संभव न था साथ-ही-साथ वह व्यवहार्य भी न था इस नये युग की

एक और देन यह रही कि स्त्री की भूमिका स्त्री द्वारा ही की जाने लगी और इस बात पर विशेष जोर भी दिया जाने लगा। प्राचीन काल में अनेक गायनाभिनयपटु स्त्रियाँ रंगभूमि पर आती थी। 'मनोहर स्त्री संगीत मंडली' में तथा 'बेलगांवकर नाटक मंडली' में तो पुरुषों की भूमिकाएँ भी स्त्रियाँ ही करती थीं। परन्तु इन स्त्रियों को समाजगत प्रतिष्ठा से वंचित रहना पडता था। रंगभूमि के उत्कर्ष के लिए कुलीन तथा सुसंस्कृत स्त्रियों को आना चाहिए, इस तरह के विचार व्यक्त किये जाने लगे। 'ललित कलादर्श' के पेंढारकरजी ने कुछ कुलीन गायिकाओं का सहयोग पाने की कोशिश की, लेकिन असफल रहे। इस विचार को वास्तविक भूमि तब मिली जब कि लोकप्रिय गायिका हीराबाई बड़ोदेकर ने अपनी दो बहनों के सहयोग से खुद की एक नाट्य-संस्था स्थापित की। 'रेडियो स्टार्स' ने अपने नाटकों में स्त्रियों को भूमिकाएँ देकर एक नया कदम रखा। 'रेडियो स्टार्स' के इस प्रयत्न को ठोस रूप देने का प्रयत्न 'नाट्य मन्वन्तर' संस्था ने किया (१९३३)। पार्श्वनाथ आलतेकर, केशवराव दाते, अनन्त काणेकर, ज्योत्स्ना भोले, के० नारायण काले जैसे अनेक विचारवंत तथा गुणी कलाकार इस संस्था में इकट्ठे हुए। 'आंधलयांची शाला' नाटक में यह सम्मिलित प्रयत्न सफल होता दिखायी दिया (१९३३)। लेकिन एक ही दो वर्षों की अवधि में अपने आपसी मतभेद, निकृष्ट नाटकों का चुनाव आदि कारणों से यह नाट्य-संस्था समाप्त हो गयी। 'नाट्य-मन्वन्तर' ने रंगभूमि के लिए आवश्यक नये आयोजनों की ओर ध्यान देकर उन्हें इकट्ठा करने का प्रयास किया था, किंतु इस संस्था को चिरस्थायी बनाकर एक परम्परा निर्माण करने के महान कार्य में संस्था के आधारस्तंभ नाकामयाब रहे एवं मराठी रंगभूमि की उन्नति मे रोडा पड़ा।

इस स्थिति से रङ्गभूमि को उबारने का कार्य 'बालमोहन नाटक मण्डली' ने किया। इस मण्डली ने आचार्य अत्रेजी के 'साष्टांग नमस्कार' (१९३३), 'घराबाहेर', 'उद्यांचा संसार', 'लग्नाची बेडी' आदि यशस्वी नाटकों को अभिनीत किया। १९३३ से १९४० तक का काल दो कारणों से महत्वपूर्ण है—एक तो मराठी रङ्गभूमि के प्रति प्रेक्षकों की रुचि पैदा करने का दुरूह कार्य आचार्य अत्रे ने किया, दूसरे, वाङ्मयीन व प्रायोगिक दोनों दृष्टियों से गुणसम्पन्न नाटक लिखे गए। यद्यपि इन नाटकों का ढाँचा नया था, तो भी उनका अंतरङ्ग पुराने नाटकों से मिलता-जुलता था। विशेषत: इन नाटकों की स्त्री-भूमिका बापूराव माने ने की थी, जो बहुत ही गुणी कलावन्त थे। इनके अतिरिक्त अत्रेजी के नाटकों को सफल बनाने का कार्य दामु अण्णा जोशी, छोटा गंधर्व, नागेश जोशी, धुमाल आदि कलाकारों ने भी किया।

'बालमोहन' को छोड़ अन्य कोई भी नाट्य-संस्था बोल-पटों से लोहा न ले सकी। बाल-गंधर्व बोलपटों की सृष्टि से लौट आये तथा 'गंधर्व नाटक मंडली' का पुनर्गठन करके नाट्य-कला का झण्डा फहराने का निश्चय किया। परन्तु ढलती उम्र के कारण बाल गंधर्व में अब उन नाट्य-गुणों की पहले जैसी अविस्मरणीयता नहीं रह गई थी। अत: दर्शकों की संख्या भी कम हो गयी थी। 'गंधर्व नाटक मण्डली' में प्रमुख नायक की भूमिका करनेवाले गंगाधरपंत लोंढवी ने नाटय-विषयक दिलचस्पी से प्रेरित होकर १९३९ में संगीत मण्डली' की नींव डाली इस सस्था ने कोई नया एव ख्यातिपूर्ण नाटक प्रस्तुत नहीं किया परन्तु मध के

'प्रेम संन्यास' नाटक का संगीत नाटक में रूपान्तर करके तथा अनेक प्राचीन नाटको को सफलतापूर्वक अभिनीत करके मराठी रङ्गभूमि की महत्वपूर्ण सेवा की।

श्री लोंढे के साथ अभ्यंकर, भार्गवराम, जोगलेकर, वैशम्पायन, दिनकर कामरणा आदि ख्यातिप्राप्त अभिनेता भी अपनी भूमिकाएँ प्रस्तुत करते थे। इसी बीच शंकरराव सरनाईक की सहायता से 'सौभद्र' और गणपतराव बोडस की सहायता से 'संशय कल्लोल' के यशस्वी अभिनय हुए। इस नाट्य-संस्था में स्त्री की भूमिका करनेवाले मा० नरेश ने अपने अभिनय-कौशल से अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की। श्री लोंढे का अनुसरण करके श्री चिंतामण राव कोल्हटकर ने अपने नेतृत्व में संचालित 'ललित कलाकुंज' द्वारा कुछ नये-पुराने नाटको के अभिनय कराये।

इस कालखण्ड में श्री मो० ग० रांगणेकर ने अपनी 'नाट्य-निकेतन' संस्था द्वारा सर्वाधिक चिरस्थायी कार्य किया एवं कामयाबी हासिल की। १९४१ में स्थापित यह संस्था अब भी मराठी रङ्गभूमि पर मनोरंजन का कार्य कर रही है, इससे रांगणेकर जी की व्यवहार-कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। आपने नाट्यगृहों का अभाव तथा बोलपटों का आकर्षण, इन दो बातों को लक्ष्य करके दो-ढाई घण्टों में समाप्त होनेवाले एकांकी, एकप्रवेशी तथा रंजनप्रधान नाटक लिखे। एक छोटी सी समस्या अथवा छोटी सी घरेलू कशमकश को नाट्य-रूप देकर तथा उसको हास्य-विनोद का पुट देकर पाठकों के दिल में रुचि पैदा करना, यही उनके नाटकों की आधारशिला है। नाटक दृश्य है, यह जानकर रांगणेकर जी ने चुस्त वार्तालाप लिखे। स्वयं रांगणेकरजी मालिक, दिग्दर्शक तथा नाटककार की भूमिकाएँ करते है, इसी कारण उनकी नाट्य-संस्था चिरस्थायी हुई है। उन्होंने लगभग २५ नाटक प्रस्तुत किये। इनमें से 'विद्याहरण' को अपवाद-स्वरूप छोड़ दें, तो अन्य सभी नाटक नये थे। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ। तब बोलपटों से निराश प्रेक्षक पुनः रङ्गभूमि का आश्रय खोजने आये। 'राजाराम संगीत मण्डली' और 'नाट्य निकेतन' के लिए यह बात लाभदायक हुई। रांगणेकर जी ने आधुनिकता, पुरोगामित्व, बुद्धिवाद आदि शब्दों को न दुहराकर आवश्यकतानुसार आधुनिकता को स्वीकार कर २५ वर्षों तक रङ्गभूमि की महान सेवा की है।

पुराने ज़माने में ढली हुई नाट्य-संस्थाएँ इस काल के पहले महाराष्ट्र में बड़ी शान से दमकती थीं, पर कालानुसारी परिवर्तन की ओर ध्यान न देने से वे नष्ट हो गयीं। नाट्य-मन्वंतर' जैसी संस्था काल की महिमा जानकर परिवर्तन की ओर उन्मुख तो हुई, पर व्यावसायिक तन्त्र को यथार्थ रूप से न समझ सकने के कारण वह भी टिक न सकी। आधुनिक नाट्य-संस्था, नट तथा नाटकों के स्वागत के लिए मराठी रसिक उत्सुक थे। उनकी इच्छापूर्ति करने की सामर्थ्य रांगणेकर जी तथा नाट्य-निकेतन के सिवा अन्य किसी में न थी।

१९४३-५०।

१७४० से रंगभूमि के इतिहास में पुनरुज्जीवन के तथा कालोचित नव-निर्मिति के जो

प्रयत्न हो रहे थे, उनकी लोकप्रियता बढ़ रही थी। फिर भी मराठीभाषी प्रदेश के विस्तार की दृष्टि से तथा व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं की संख्या नगण्य-सी होने के कारण रंगभूमि के पुनरुज्जीवन की तथा नव-निर्माण की कोशिशों की पहुँच कम थी, अतः समूचे महाराष्ट्र में नाटकों का प्रस्तुत करना हवा में किले बाँधना था। अमेचर (Amateur) नाट्य-मंडलियाँ शहरों में बहुत थीं, परन्तु उनके द्वारा वर्ष में एकाध नाटक ही प्रस्तुत किये जाते थे। अधिक नाटक अभिनीत करके नाट्य-संस्थाओं का प्रोत्साहन देने की ओर किसी का ध्यान शायद ही गया हो। इस स्थिति में मराठी रंगभूमि की शताब्दी मनायी गयी। पूरे महाराष्ट्र में नाटक खेले गये। इतना ही नहीं, जिन-जिन स्थानों पर मराठीभाषियों का अस्तित्व था, उनमे भी मराठी रंगभूमि की जय-जयकार गूँज उठी।

१९४० में नासिक में महाराष्ट्र-नाट्य-अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इसमें यह चर्चा चली कि महाराष्ट्र में नाट्योत्सव मनाया जाय। इस विचार को १९४१ के बम्बई अधिवेशन में अधिक गति मिली। जिस सांगली में १८४३ में विष्णुदास भावे जी ने 'सीता स्वयंवर' नाटक अभिनीत किया था, उसी मराठी रंगभूमि की जन्मभूमि में शतसांवत्सरिक उत्सव का श्रीगणेश हुआ, जिसके अध्यक्ष स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी थे—(नवंबर १९४३)। इसके उपरान्त साल भर में करांची से कलकत्ता तक और ग्वालियर से बंगलूर तक लगभग ७५ जगह यह उत्सव मनाया गया। इस उत्सव के कारण मराठी रंगभूमि को तीव्र गति प्राप्त हुई, पुनरुज्जीवन की योजनाएँ बनीं और उन पर बहसें होने लगीं। बम्बई शहर में प्रतिवर्ष नाट्योत्सव की धूम रहने लगी। इसमें अनेकानेक नये नाटकों का आविष्कार हुआ। सारांश यह कि रंगभूमि में रुचि रखनेवाले प्रेक्षक जाग उठे और नवीन नाटकों को किस तरह प्रस्तुत किया जाय, कैसे कदम उठाये जायँ, आदि बातों पर विचार-विमर्श होने लगा।

नाट्योत्सव के इस नये ज्वार का फायदा उन कलाकारों को हुआ, जो व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं के अभाव में बेकार थे। वे सारे कलाकार विभिन्न स्थानों से आ-आकर इकट्ठे हुए एवं पुराने नाटक प्रस्तुत करने का उपक्रम पुनः चल पड़ा और यह क्रम आगे भी जारी रहा। पूना-बम्बई के अनेक ठीकेदार पुराने प्रथितयश नट-नटियों को इकट्ठा करके अलग-अलग नाटकों को प्रस्तुत करने लगे। उनका यह कार्य केवल पूना या बम्बई में ही नहीं, सारे महाराष्ट्र में सम्पन्न होने लगा। इन नाटकों में अभिनय करनेवाले नट प्रयोग के ऐन मौके पर उपस्थित रहते थे, अतः नाटकों की रंगीन तालिम नहीं होती थी। नेपथ्य व वेशभूषा की ओर भी ध्यान नहीं था। उनका एकमात्र ध्येय पैसा कमाना था। ये नाटक स्वभावतः कला की दृष्टि से अत्यन्त निकृष्ट होते थे, फिर भी अधिकांश नाटक संगीत-नाटक होने से केवल प्रमुख भूमिका करनेवाले गायक कलाकारों के लोकप्रिय गीत सुनने के लिए प्रेक्षक बड़ी खुशी से आते थे। स्पष्ट है कि अभिनयादि में जो अभाव खटकता था, वह संगीत में पूरा हो जाता था और प्रेक्षक स्वयं को उसी पर संतुष्ट पाते थे। इन नाटकों के गायक तथा अभिनेता कुशल थे, परन्तु उनमें संघ-प्रवृत्ति का अभाव था, अतः लोकप्रिय होते हुए भी उन्हें ऊँचा दर्जा नहीं प्राप्त हो सका।

पुराने नाटकों को उनके यथायोग्य रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टाएँ हुईं। इन व्याव-

सायिकों में श्री गङ्गाधरपत लोंढ और उनकी राजाराम सगीत मडली चित्रपट सृष्टि के विनोदमूर्ति दामूअण्णा और उनकी प्रभाकर नाट्य-मन्दिर तथा श्री चिन्तामण राव कोल्हटकर और उनकी 'ललित कलाकुंज' नाटक-मण्डलियाँ पुराने नाटक अभिनीत करती थी। उनमें प्रायोगिक मूल्यों की ओर यथाशक्ति ध्यान दिया जाता था। इसके विपरीत 'नाट्य-निकेतन' तथा 'कला-विकास' इन व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं में क्रमशः रांगणेकरजी, नागेश जोशी कलात्मकता से सजे हुए सुयोग्य नाटकों का अभिनय कराके अपना व्यवसाय सुवस्थित करने की कोशिश कर रहे थे। 'नाट्य निकेतन' के श्री. मो. ग. रांगणेकर लिखित 'कुलवधु' (१९४२) तथा 'कला-विकास', के. श्री. नागेश लिखित 'देवमाणूस' (१९४५) नाटको ने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की। इसी प्रकार श्री. अ. बा. वर्टीकृत 'राखीचा बाग' (१९४७) और श्री. माधवराव जोशीकृत 'उधार उसनवार' (१९४७) नाटकों ने यथायोग्य गौरव पाया।

'बम्बई मराठी साहित्य-संघ' का नेतृत्व रंगभूमि के एकनिष्ठ उपासक डॉ० भालेरावजी कर रहे थे। रंगभूमि के प्रेम से तथा उसे बढ़ावा देने के उत्कट ध्येय से प्रेरित होकर भालेरावजी ने साहित्य-संघ की ओर से हर साल नाट्योत्सव मनाना शुरू किया। इस नाट्योत्सव में अनेक पुराने और नये नाटक खेले गये। ये सारे नाटक आजकल के कलाकारों द्वारा अभिनीत किये गये। श्री वि. वा. शिर वाडकर 'कुसुमाग्रज', अनंत काणेकरजी आदि नाटककारों की नयी तथा अनूदित नाट्य-कृतियाँ साहित्य-संघ द्वारा रंगभूमि पर अभिनीत की गयी हैं।

रंगभूमि की उन्नति की दृष्टि से जब ये सारे प्रयत्न हो रहे थे, तभी बम्बई सरकार ने 'सर्वोदय कला केन्द्र' नामक नयी संस्था की नींव डाली। इस संस्था द्वारा श्री मामा वरेरकर कृत 'सारस्वत', 'जिवा-शिवाची भेट', 'दौलतजादा' आदि नाटक श्री चिंतामणराव कोल्हटकर के नेतृत्व में अभिनीत किये गये। इस संस्था को स्थायी बनाने के लिए सरकार ने अत्यधिक आर्थिक सहायता प्रदान की। परन्तु सरकारी जाँच-पड़ताल और लालफीताशाही के कारण यह उपक्रम थोड़े समय के उपरान्त ही समाप्त हो गया।

इससे पूर्व के कालखण्ड में श्री प्र० के० अत्रे ने नाट्य-क्षेत्र में अपना स्थान दृढ़ तथा निश्चित किया था। आपने 'बाल मोहन मंडली' के लिए 'जग काय म्हणेल ?'(१९४६) और 'पाणिग्रहण' (१९४६) नाटकों का सृजन किया। श्री० ह० वि० देसाई लिखित 'अध्यां वाटेवर' (१९४) लगभग सौ बार प्रस्तुत हो चुका था।

इस कालखण्ड के अन्त में एक आकस्मिक घटना घटी, जिसने मराठी रंगभूमि के प्रेक्षकों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। चित्रपट-सृष्टि में लोकप्रिय परन्तु अपनी ढलती उम्र के कारण उससे निवृत्त होने वाले कलाकारों ने रंगभूमि पर पदार्पण किया। 'नाट्य-निकेतन' के 'राखीचा बाग' में अविस्मरणीय भूमिका करने वाली स्नेहप्रभा प्रधान तथा बम्बई साहित्य-संघ के नाटकों में भूमिका करने वाली दुर्गाबाई खोटे चित्रपट-सृष्टि में काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुकी थीं। परन्तु ये नेक कलाकार थीं। इनके बाद आने वाली सिने-तारिकाएँ अपनी खिसकती लोकप्रियता को बनाये रखने तथा धन-प्राप्ति की दृष्टि से ही रंगभूमि पर आयीं। उनके बर्ताव से ये बातें साफ प्रतीत होती थीं। अपनी भूमिका से ईमानदारी न रखना, मनमाना अभिनय करना, ठीकेदारों पर असाधारण बन्धन लादना, अपनी माँगों से उन्हें त्रस्त करना आदि दुष्प्रवृत्तियों के कारण नाट्य-

प्रयोगों का दर्जा घट गया। फिर भी प्रेक्षकों की भीड़ देखकर ठीकेदारों ने अलग होकर अन्य कलाकार एकत्र किये और महाराष्ट्र भर में नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत करने लगे। पुराने कलाकारो ने जीविका का अन्य उपाय न पाकर अनिच्छा ही से उन नाटकों में भूमिका की। इन नाटको मे पुरुष-भूमिका करने वाले कुछ नये-पुराने गायक भी उपलब्ध हुए थे, अतः संगीत नाटकों के लिए कभी भी प्रेक्षकों का अभाव नहीं रहा।

१९५० से १९६२

मराठी रंगभूमि के पिछले कालखण्ड के अन्त में कुछ धुँधली-सी आशाकिरण दिखायी दी। बाद में वह आशाकिरण भविष्यकालीन प्रगति की ओर अधिक प्रभावी संकेत करती दीख पड़ी। गत १५-२० वर्षों से बीहड़ रास्ते से जाती हुई मराठी रंगभूमि अब वैभवपूर्ण मार्ग का अनुसंधान करने लगी थी। जिस कालखण्ड की चर्चा यहाँ हो रही है, उसके प्रारंभ मे संयुक्तप्रयोगों की परम्परा जारी थी, और आज भी वही कायम है। अलबत्ता व्यावसायिक रंगभूमि की कई कमियाँ थीं, फिर भी इन ठीकेदारों से संचालित संस्थाओं में होने वाले नाटक प्रेक्षकों द्वारा बड़ी चाव से देखे जाते थे, क्योंकि पुराने नाटकों की सरसता एवं अभिरुचि अब तक बनी हुई थी। पूना और बम्बई के साथ ही साथ महाराष्ट्र के अन्य गाँवों में भी सौभद्र, मृच्छकटिक, मानापमान, विद्याहरण, संशयकल्लोल, स्वयंवर, पुण्य प्रभाव, भावबंधन, एकच प्याला आदि नाट्य-कृतियों के अभिनय होते थे। यह बात उस समय प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो से स्पष्ट होती थी। छोटा गंधर्व, नेवरेकर जी, राम मराठे, प्रसाद सावकार, सुरेश हलदणकर, भार्गवराम आदि प्रथितयश गायक-नट उपर्युक्त नाटकों में प्रमुख भूमिकाएँ अदा करते थे तथा मीनाक्षी, शान्ता आपटे, विमल कर्नाटकी, जयमाला शिलेदार आदि गायिका-स्त्रियाँ प्रमुख स्त्री-भूमिकाएँ करती थीं। इनके अतिरिक्त नाना साहब फाटक, मा० दत्ताराम, जोगलेकर, ललिता जोगलेकर, परशुराम सामन्त, दामुअण्णा मालवणकर, अभ्यंकर, शंकर घाणेकर आदि कलाकार भी अन्य भूमिकाएँ करते थे। लोकप्रिय गायक, अभिनय-कुशल गद्य-नट और नामवंत गायिकाएँ ये नाट्य-कृतियाँ अभिनीत कीं। इनके प्रयोगों में कलात्मक त्रुटियाँ रही होंगी, तथापि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा इन पुराने परन्तु श्रेष्ठ नाटकों की ओर प्रेक्षकों का ध्यान आकृष्ट करने का कार्य उन्होंने किया।

१९५० में 'नाट्यनिकेतन' जैसी एक ही नाट्य-संस्था थी, जो बड़ी मेहनत से प्रयोग प्रस्तुत कर रही थी। उसने अनेक नाटक पेश किये, परन्तु 'भटाला दिली ओसरी' (१९५४) नाटक ही आर्थिक दृष्टि से लाभदायी रहा। नाट्य-गृहों का अभाव और मनोरंजन-करो का बोझ देखकर किसी नाट्य-संस्था की स्थापना का साहस करना कठिन था। मगर १९५५ के आसपास इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। पूना के एक अभिनेता और लेखक श्री बाबूराव गोखले ने सहकारी पद्धति से 'श्री स्टार्स' नाट्य-संस्था की स्थापना की (१९४४)। इसमें ५-६ नाटक अभिनीत हुए। गोखले जी का स्वयंलिखित नाटक 'करायला गेलों एक' और बाल कोल्हटकर कृत 'वेगलं व्हायचयमला' (१९६०) नाटकों के आज तक ३०० बार प्रयोग हुए हैं पेंढारकर भी १९४२ से 'ललित कलादर्श मण्डली' के पुराने

नाटक कभी कभी अभिनीत करते थे। आपने १९५६ में पु० भा० भावकृत स्वामिनी नाटक का अभिनय करके नये रूप में नाट्य-व्यवसाय शुरू किया। बाद में 'ललित कलादर्श मंडली' के बाल कोल्हटकर कृत 'दुरितांचें तिमिर जावो' तथा श्री विद्याधर गोखले कृत 'पंडितराज जगन्नाथ' ये दो नाटक प्रेक्षकों को बहुत पसन्द आये। अब तक 'दुरितांचें तिमिर जाओ' के ३०० से अधिक प्रयोग हुए हैं। श्री गोपीनाथ सावकार अपने 'कला-मन्दिर' द्वारा पुराने नटों को इकट्ठा कर प्राचीन लोकप्रिय नाटक प्रस्तुत करते थे। आपने भी श्री ह० रा० महाजनीकृत 'शकुन्तला' और श्री विद्याधर गोखले कृत 'सुवर्ण तुला' (१९६०) ये दो नाटक रंगभूमि पर पेश किये। इनमें से 'सुवर्णतुला' का खूब बोलबाला रहा।

शतसांवत्सरिक महोत्सव से प्रतिवर्ष नाट्योत्सव मनाने की परम्परा का निर्वाह बम्बई के मराठी साहित्य संघ ने बड़े उत्साह के साथ चलाया था। पुराने नाटकों के साथ ही हर नाट्योत्सव में संघ द्वारा एक या दो नये नाटक प्रस्तुत किये जाते थे। इन्हीं नाटकों में एक है श्री चिंतामणि मराठे लिखित 'होनाजी बाला'। इस संगीत-प्रधान नाटक में सुरस नाट्य, मधुर संगीत तथा कुशल अभिनय इन तीनों का समावेश हुआ था, जिससे वह बहुत ही लोकप्रिय हुआ। प्रति वर्ष नये उपक्रमों को स्थान देनेवाली इसी संस्था ने १९५४ के दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य-महोत्सव में 'भाऊबंदकी' नाटक अभिनीत किया। अखिल भारत में इस नाटक ने पहला क्रमांक पाया और भारत की राजधानी में मराठी रंगभूमि की श्रेष्ठता का झण्डा फहराया। इस नाटक का दिग्दर्शन नटश्रेष्ठ केशवराव दातेजी ने किया था और श्री नाना साहब फाटक तथा दुर्गाबाई खोटे ने प्रमुख भूमिकाएँ की थीं। वास्तव में साहित्य-संघ व्यावसायिक संस्था न थी, फिर भी नाट्योत्सव में उसने यश पाया और सारे महाराष्ट्र में नये-पुराने नाटक खेले जाने की प्रथा का प्रचलन किया। इससे अच्छी बात यह हुई कि उत्कृष्ट तथा यशस्वी नाटकों को देखने का सुअवसर लोगों को प्राप्त हुआ। श्री० पु० ल० देशपांडे ने १९५७ में 'तुझें आहे तुजपाशी' नाटक लिखा, जिसने महाराष्ट्र में ख्याति अर्जित की। नाटक में 'काका जी' की पर्याप्त भूमिका श्री० दाजी भाटवडेकर ने की। उनकी सुशिक्षितता तथा नाटकों में रुचि ने पहले ही अभिनय में उन्हें प्रथम श्रेणी में बैठने का स्थान प्राप्त करा दिया। अब तक साहित्य संघ ने इस नाटक के १५० प्रयोग प्रस्तुत किये, फिर भी भीड़ बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार अनेक यशस्वी नाटक कुशलतापूर्वक रंगभूमि पर लाकर साहित्य-संघ ने बम्बई के नाट्य-जीवन में एक नये युग का निर्माण किया। नाटकों से होने वाली आय तथा सरकारी सहायता के बल पर एक अपना बड़ा नाट्य-मन्दिर बनाने का निश्चय किया है और जल्द ही वह नाट्य-मन्दिर बम्बई के इतिहास में अनेक सांस्कृतिक उपक्रमों का आश्रय-स्थान होगा।

बम्बई की एक दूसरी नाट्य-संस्था 'इंडियन नेशनल थियेटर' 'साहित्य-संघ' के साथ ही अभिनय का कार्य सम्पन्न कर रही थी। यद्यपि वह 'साहित्य-संघ' के समान न थी, तो भी श्री० आत्माराम भेंडे के नेतृत्व में इस संस्था ने अनेक नये नाटक रंगभूमि पर प्रस्तुत कर बड़ा अच्छा कार्य किया। माधव मनोहर, वसंत कामत, गो० के० भट आदि द्वारा लिखित और अनूदित नाट्य-कृतियाँ इसी संस्था ने रंगमंच पर प्रस्तुत कीं

परन्तु इनका प्रेक्षक-वर्ग मर्यादित था। प्रेक्षकों को अपनी ओर खींचने का कार्य इस संस्था के 'फार्स' जैसे पुनरुज्जीवित नाट्य-प्रकार ने किया। श्री० बबन प्रभु लिखित 'झोपी गेलेला जागा झाला' फार्स १९५८ में 'इंडियन नेशनल थियेटर' ने अभिनीत किया। इसके बाद बबन प्रभु ने 'दिनूच्चा सासूबाई राधाबाई' फार्स की रचना की। यह फार्स सौ से अधिक बार खेला गया। यह नाट्य-प्रकार श्रेणी की दृष्टि से निम्न कोटि का होता है, अतः निम्न श्रेणी के लोगों के लिए यह बहुत ही अच्छा रहा और इस नाट्य-संस्था ने उसे आकर्षक ढंग से अभिनीत कर प्रेक्षकों का दिल-बहलाव कर अपनी सुयोग्यता का परिचय दिया।

एमेच्योर नाट्य संस्था :

यहाँ इस विशेषता का निर्देश करना आवश्यक है कि 'एमेच्योर' कलाकारों ने नाट्य-विषयक आन्दोलन में बड़ा उत्साह दिखाया। वैसे एमेच्योर नाट्य-संस्थाओं की परम्परा महाराष्ट्र में बहुत पुरानी है। पिछले ७० वर्षों से 'भरत नाट्य-संशोधन मन्दिर' अपने एमेच्योर कलाकारों की सहायता से यह नाट्य-प्रकार बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत कर रही है। फिर भी १९५० के बाद एमेच्योर संस्थाओं ने इस क्षेत्र में जो कार्य किया वह, उत्कृष्ट तथा सराहनीय है।

उधर पाश्चात्य देशों में नाट्य-लेखन तथा नाट्याभिनय के विषय में अनेक परिवर्तन हुए और यथावसर उनका अनुसरण मराठी रंगभूमि की इन नाट्य-संस्थाओं ने भी किया। इन परिवर्तनों में विशेषतः नाटक की परम्परागत पद्धति में संशोधन करने वाली रचनाओं, प्रेक्षकों को उद्‌बोधित करने वाले विचारों, नेपथ्य व प्रकाश योजनाओं तथा अद्य-तन फैशनों से सम्पन्न नाटकों का समावेश होता है। मालबा केलकर, आत्माराम भेंडे, विजया खोटे, दामु केंकरे, पुरुषोत्तम दारव्हेकर आदि बुद्धिमान तथा कल्पना-संपन्न दिग्दर्शकों ने वसंत कानेटकर, विजय तेंडुलकर, शं० गो० साठे तथा गो० नी० दाण्डेकर आदि नाटककारों की कृतियों को आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न रंगभूमि पर प्रस्तुत किया। इन नाट्य-कृतियों में 'वेड्याचें घर उन्हांत', 'श्रीमन्त', 'सगल्या भिंती', 'शितू', 'जगन्नाथाचा रथ', 'ससा आणि कांसव' (१९६२), 'चंद्र नभींचा ढकला' आदि विशेष रूप से गौरवान्वित हुईं। वास्तव में इन नाट्य-मंडलियों ने विशेष श्रम से प्रेक्षकों को अपने नाटक के तंत्र-मंत्र से परिचित कराया था, फिर भी तमाम प्रोत्साहनों के बावजूद इन एमेच्योर नाट्य-संस्थाओं के प्रयोगों को कम महत्व प्राप्त हुआ, क्योंकि एक ओर इन्हें अपने जीवन-व्यवसाय का विचार रखना आवश्यक था, दूसरी ओर नये विचारों के अभिप्रेषण में अभी स्पष्टता नहीं आ पायी थी।

१९५४ से प्रतिवर्ष महाराष्ट्र (उस समय बम्बई सरकार) सरकार ने एमेच्योर नाट्य-स्पर्द्धाएँ आयोजित कीं। इन स्पर्द्धाओं में सुयोग्य अभिनेता, अभिनेत्री तथा दिग्दर्शकों को पारितोषकों से सम्मानित किया जाने लगा। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि पूरे महाराष्ट्र में एमेच्योर नाट्य-संस्थाएँ कायम हो गईं तथा पिछली नाट्य-संस्थाएँ कार्यक्षम बनीं।

नये नाटककारों के नये नाटकों में अभिनय करनेवाले नयी पीढ़ी के कलाकार उदित हुए। कुछ कलाकारों को अपवादस्वरूप छोड़ दें, तो अन्य कलाकारों का नाट्य-प्रेम वार्षिक स्पर्द्धाओं में भाग लेने के समय ही प्रकट होता था उसके बाद उन्हें शायद ही फुर्सत मिलती

थी तथापि इस उपक्रम से कलाकारों को प्रोत्साहन मिला और अल्प मूल्य में नाटक देखने का अवसर लोगों को प्राप्त हुआ।

नाटक के प्रत्येक प्रयोग पर ३३ प्रतिशत मनोरंजन-कर मराठी रंगभूमि के विकास-मार्ग पर एक बहुत बड़ा रोड़ा था। रंगभूमि के अनेक श्रेष्ठ कलाकारो, नाट्य-सम्मेलन के अध्यक्षों ने समय-समय पर बम्बई सरकार के सामने यह समस्या उपस्थित कर टैक्स कम करने की कोशिशें कीं। परिणामतः बहुत समय के उपरान्त बम्बई सरकार ने कुछ नाटकों का टैक्स एक वर्ष के लिए कम करने का वादा किया। पर टैक्स कम करने की पद्धति में कोई सुसंगति नहीं थी, और दो-चार नाटकों पर से टैक्स हटा देने से नाट्य-व्यावसायिकों की समस्याएँ हल नहीं हो सकती थीं। मराठी रसिकों ने यह माँग की कि यह टैक्स पूर्णतः उठा दिया जाय और इस आन्दोलन के फलस्वरूप १९५८ के मार्च में नाटक पर होनेवाला मनोरंजन कर रद्द कर दिया गया।

नाट्याभिनय के लिए नाट्य-गृहों का अभाव बहुत खटकता था, अतः रसिकों ने कई वर्षों से अपनी यह माँग प्रस्तुत की थी कि नगरपालिकाएँ तथा सरकार मिलकर हर जिले में कम से कम एक नाट्य-गृह बनाएँ। इसके अनुसार बम्बई सरकार ने नगर-पालिकाओं को आर्थिक सहायता देकर खुले नाट्य-गृह (Open Air Theatre) बनवाये, परन्तु ये इसलिए बेकार साबित हुए कि बारहोमास बिना झंझट के नाट्याभिनय करनेवाली नाट्य-सस्थाओं के लिए आवश्यक प्रबन्ध उनमें नहीं था। ऐसी नाट्य-संस्थाओं के लिए खुले रंगमंच नहीं चलते। इस अनुभव के आधार पर सरकार ने बंद नाट्य-गृह बनाने के लिए आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया है। इस प्रकार सारे मराठीभाषी प्रदेश में नाट्य-गृहों की एक शृंखला बन जाने पर नाट्य-व्यवसाय पुनरुज्जीवित होने की आशा रख सकता है।

नाट्याभिनय में रुचि रखनेवाले तथा उस व्यवसाय को अपनी जीविका बनाने वाले कलाकारों को नाट्याभिनय कला की शास्त्रशुद्ध शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए, इसकी नितांत आवश्यकता को सभी ने मान्यता प्रदान की है। मराठी नाट्य-सम्मेलन में इस विषय में प्रस्ताव रखने पर बहसें हुईं और अन्त में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया। 'भारत नाट्य-समाज' के जनक श्री. अनंत वामन बर्वे ने नाट्य-शिक्षा की कल्पना को ठोस स्वरूप देने की दृष्टि से स्तुत्य शिक्षाक्रम बनाकर नाट्य-शिक्षा का श्रीगणेश भी किया था। परन्तु इसका क्रम न तो जारी रहा, न उसमें किसी प्रकार का संशोधन हुआ। इसके उपरान्त १९४१ में श्री. पार्श्वनाथ आलतेकर ने नाट्य-शिक्षा-अकादमी की स्थापना कर विधिवत् अद्ययावत् नाट्य-विचारों के अध्ययन की दृष्टि से नाट्य-शिक्षा के वर्ग शुरू किये थे। आलतेकर जी की इन कोशिशों को भी कोई चिरस्थायी यश प्राप्त न हुआ। पिछले कई सालों से नाट्य-शिक्षा के विचारों से प्रेरित होकर फिर से नये सिरे से काम शुरू हो गया है।

पूना के एक नामवंत नाट्य-शिक्षक श्री. प्रभाकर गुप्ते ने 'महाराष्ट्र नाट्य विद्यालय' की नींव डाली है। इसकी सहायता से गुप्तजी ने अब तक ५-६ शिविरों की आयोजना करके नाट्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण सिद्धान्त समझाने के प्रयत्न किये। प्रत्येक शिविर १५ दिनों के लिए होता था। यह सारा कार्य गुप्तजी ने अपने अकेले की हिम्मत पर किया। बम्बई के

मराठी ग्रंथ संग्रहालय ने श्री. गुप्त तथा श्री. के. नारायण काले के मार्गदर्शन में तीन महीने का एक नाट्य-शिक्षा-वर्ग शुरू किया था। इस वर्ष वह पुनः शुरू हुआ है और सरकार ने बम्बई मे डेढ़ महीने का शिक्षा-वर्ग खोला है। इनके अलावा सुविख्यात अभिनेत्री स्नेहप्रभा प्रधान के निर्देशन में चलनेवाली अकादमी का भी यहाँ इस संबंध में निर्देश किया जाना चाहिए। नाट्य-क्षेत्र मे पदार्पण करने से पहले तद्विषयक तंत्र तथा मंत्र का अध्ययन करना जरूरी है—यह विचार अब जोर पकड़ता जा रहा है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप इस कार्य को करनेवाली एकाध स्थायी सस्था की स्थापना हो जाय तो नाट्याभिनयादि विषयक अनेक अभिलाषाओं की पूर्ति हो सकती है।

समालोचन :

१८४३ में विष्णुदास भावेजी ने 'सीता स्वयंवर' नाटक के पहले अभिनय से मराठी रङ्गभूमि के इतिहास की नांदी गायी। तब से करीब १२५ वर्षों के मराठी रङ्गमंच के इतिहास में अपनी-अपनी भूमिका निभाने वाले अनेक नट, नाटककार तथा नाट्य-संस्थाएँ बनीं एवं अपनी कला का प्रदर्शन उहोंने किया। १८८० से १९३५ तक के काल में महाराष्ट्र में एक साथ लगभग ५० नाट्य-संस्थाएँ रसिकों का रंजन तथा उद्बोधन करती रहीं। अपने कर्तृत्व से मराठी-रङ्गमंच का जो वैभवपूर्ण इतिहास उन्होंने निर्मित किया, उसे अगर संक्षिप्त रूप में भी लिखना चाहें तो ५०० पृष्ठ भी कम न होंगे। अतः इन थोडे पृष्ठों में मेरा केवल यही उद्देश्य रहा है कि उसकी एक झलक मात्र दिखायी जाय। पूरे विवेचन की तथा नट व नाटककारों की जानकारी प्रस्तुत करना असंभव होने से मराठी-रङ्गभूमि का स्वरूप प्रस्तुत करना ही इस लेख का प्रधान उद्देश्य रहा है।

१८४३ से १८८० के काल में मराठी-रङ्गमंच स्थापित होकर शनैः शनैः बढ़ रहा था। विष्णुदासी पद्धति के नाटकों के बाद आनेवाली कृतियों ने वाङ्मयीन रूप अधिक धारण किया। 'फार्स' जैसा पुराना नाट्य-प्रकार तत्कालीन सामाजिक सुधारों का खण्डन-मंडन कर रहा था। १८८० मे अण्णा साहब किर्लोस्कर ने अपनी नाट्य-प्रतिभा से रङ्गमंच को समृद्ध बनाया। तब से मराठी रङ्गभूमि का वास्तविक सर्वांगीण विकास होना आरम्भ हुआ। तथापि वास्तविकता की भूमि पर आकर भी उसका उद्देश्य रंजकता ही रहा। किर्लोस्कर जी के तुल्यगुणी शिष्य श्री देवल ने 'शारदा' लिखकर अपनी कला-सम्पन्नता का परिचय दिया एवं नयी धारा प्रवाहित की। उसी काल में उदित श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने नाटक को हास्य-रस से सजाया। किर्लोस्करजी ने दक्षिणात्म पद्धति से अपने नाट्य-संगीत को विभूषित किया तथा कोल्हटकरजी ने उर्दू तथा गुजराती संगीत के साथ रसिकों का परिचय करा दिया। बीसवीं शती के पहले दशक में राष्ट्रीय वृत्ति के नाटककार श्री खाडिलकार का प्रवेश हुआ और नाटक राष्ट्रीय भावना से भर गये, नाटक को राष्ट्रीय भावना-जागृति का यथार्थ साधन समझकर उसका उपयोग किया गया। तन्त्र की दृष्टि से प्रमाणबद्ध नाट्य-रचना का आदर्श खाडिलकरजी ने निर्मित किया। आपके संगीत-नाटकों ने उच्च कोटि के ख्याल संगीत को लोकप्रियता प्राप्त करा दी। खाडिकरजी ने ही अपने नाटकों द्वारा जीवन-प्रेरक सद्गुणों

का आदर्श समाज के सामने रखा। गणपतराव जोशी जैसे प्रतिभा सम्पन्न कलाकार ने शक्स पियर की नाट्य-कृति को मराठी रङ्गमच पर अमर बनाने का कार्य किया वरेरकरजी ने अनेक सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखे तथा नाट्य-क्षेत्र में होने वाले अनेक तन्त्रो से प्रेक्षकों को परिचित कराया। प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार रामगणेश गडकरी ने अपने अद्वितीय भाषा-विलास से मराठी नाटक को सम्पन्न बनाया। गडकरी के अवसान के एक वर्ष के उपरान्त ही मराठी रङ्गमंच का वैभवपूर्ण काल समाप्त हो गया।

१६३३ से अत्रेजी ने अपने विनोदी तथा गम्भीर नाटकों से रङ्गमंच को जीवित रखने की सफल चेष्टा की। १६४३ में महाराष्ट्र में मराठी रङ्गभूमि का जो शतसांवत्सरिक महोत्सव मनाया गया, उससे मराठी प्रेक्षकों के हृदय में रङ्गमंच के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति पैदा हुई। व्यावसायिक दुर्गुणों से तथा बोलपटों के आगमन से मृतप्राय मराठी रङ्गभूमि महोत्सव की जीवनौषधि प्राप्त होते ही पनप उठी।

१६५० से शिक्षित एमेच्योर कलाकारों ने नाट्य-वाङ्मय तथा नाट्याभिनय में युग-प्रवर्तन लाने का महान् कार्य किया। अब विद्याधर गोखले, पु० ल० देशपाडे, विजय तेंडुलकर, बाल कोल्हटकर आदि के नाटक गौरव का स्थान पा रहे हैं। सरकार की कोशिशें भी रङ्गमंच के विकास में सहायता दे रही हैं। मनोरंजन-कर से मुक्ति, वार्षिक नाट्य-स्पर्द्धाएँ, इन रूपो में सरकार विकास में हाथ बँटा रही हैं। यद्यपि अभी नाट्य-व्यवसाय स्थिरता नही पा रहा है, तो भी उसके उज्वल भविष्य के संकेत अभी से स्पष्ट हो रहे हैं।

मराठी रंगभूमि के उज्वल भविष्य के अनेक विशेषों का यहाँ उल्लेख करना चाहिए। मराठी रंगभूमि का शाश्वत श्रेष्ठत्व उसके नाट्य-वाङ्मय में समाया हुआ है। नाटकों की कीर्ति को दसों दिशाओं में फैलाने वाले कलाकारों के अभिनय कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हो, उनके गुण-दर्शन में काल की मर्यादा बनी रहती है, परन्तु वाङ्मय के रूप में नाट्य स्थायी होता है। किर्लोस्कर से लेकर अब तक मराठी नाटककारों की श्रेष्ठ परम्परा जारी है। इतना ही नही, रंगमंच के विभिन्न अंग विस्तृत तथा सम्पन्न बनते रहे। किर्लोस्कर, देवल, कोल्हटकर, खाडिलकर, वरेरकर, मा. ना. जोशी, गडकरी, अत्रे, रंगणेकर तथा पु. ल. देशपांडे मराठी रंगमंच के जगमगाते रत्न हैं। इनके अलावा औंधकर, टिपणीस, वीर वामनराव जोशी, खरे शास्त्री, नं०चिं० केलकर, नागेश जोशी, बाल कोल्हटकर तथा विद्याधर गोखले आदि अनेक नाटककारों ने मराठी नाट्य-वाङ्मय को समृद्ध एवं सम्पन्न किया है। अपवादस्वरूप अगर बंगला के नाट्य-वाङ्मय को छोड दें, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जायगा कि मराठी का सा नाट्य-वाङ्मय किसी भारतीय भाषा में नहीं हुआ। इन नाटकों को महाराष्ट्र का सांस्कृतिक चित्रपट कहा जा सकता है। पिछले सौ-सवा सौ वर्षों में समय-समय पर जो राजकीय तथा सामाजिक आन्दोलन हुए एवं क्रान्तिकारी विचार उठे, उनका प्रचार व प्रसार करने का महत्कार्य मराठी नाटकों ने किया। मनोरंजन के साथ लोक-जागृति करने का भार इन नाटकों ने स्वीकार किया था। सरकार के कठोर नियंत्रणों से दबे बिना मराठी रंगभूमि के इन सेवकों ने लोकमत का यथार्थ दर्शन कराने का कार्य बिना रुकावट के चालू रखा। मराठी नाटककारों में से खाडिलकर, परांजपे, केलकर सावरकर आदि अनेक व्यक्तियों का बड़प्पन इसी में था कि उन्होंने राजकीय तथा सामाजिक

आन्दोलनों का नेतृत्व भी स्वीकार किया था। इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा से मराठी रंगभूमि के इतिहास में इनका स्थान हमेशा गौरवान्वित रहेगा। नाटककार को किराये का टट्टू नहीं समझा जाता था, बल्कि वह नाटक का दिग्दर्शन भी करता था। नाटककार को आदर का स्थान दिया जाता था। स्वयं मालिक तथा कलाकार उसका बड़ा सम्मान करते थे। यही कारण है कि नाट्य-वाङ्मय मराठी रंगमंच का उत्तमांग साबित हो सका।

संगीत की प्रधानता रंगमंच के वैभव का तथा लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा कारण है। संगीत-सृष्टि के इतिहास में मराठी नाट्य-संगीत का कार्य साधारण है। बिलकुल शुरू से ही मराठी नाटक को संगीत का वरदान प्राप्त हुआ है। १८८० से नाट्य-संगीत अधिक ठोस एवं वैचित्र्यपूर्ण बना। अण्णा साहब किर्लोस्कर कर्नाटकी संगीत के अच्छे जानकार थे। मराठी रंगभूमि के आरंभ से ही हिंदुस्तानी तथा दक्षिणी—इन दो संगीत-प्रणालियों का अत्यन्त रसपूर्ण मिलाप हुआ है। १८८० से १९१० तक नाटक में होनेवाले पदों को नाटक का अविभाज्य अंग समझा जाता था। अतः उचित प्रमाण मे गानों का विस्तार किया जाता था। लेकिन आगे चलकर हिंदुस्तानी संगीत में खानदानी ठेके पर आधारित पदों का भी समावेश हुआ, अतः उसी प्रमाण में स्वर-विस्तार भी अधिक हुआ। इससे परिणाम यह हुआ कि प्रेक्षक संगीत को ही नाटक का प्रमुख आकर्षण समझने लगे। भाऊराव कोल्हटकर, बालकोबा नाटेकर, कृष्णराव गोरे, दत्तोपन्त हल्यालकर, नाना साहब जोगलेकर,बालगंधर्व,सवाई गंधर्व, केशराव भोसले, मास्टर दीनानाथ, शंकरराव सरनाईक, लोंढे, छोटा गंधर्व, नेवरेकर, राम मराठे, प्रसाद सावकार आदि गायक तथा हीराबाई बड़ोदकर, जयमाला शिलेदार, ज्योत्स्ना भोले आदि गायिकाओं ने मराठी प्रेक्षकों पर संगीत की ज़बरदस्त मोहिनी डाली। संगीत के इस विस्तार से नाटक की हानि हुई, यह आक्षेप सच हो या झूठ, यह हमें मानना चाहिए कि इस कारण ख्याल गायन की कठिन कला ने अत्यन्त मनोहर रूप धारण किया एवं सारे महाराष्ट्र में वह फैल गयी।

मराठीतर भाषा के नाटकों को मराठी साज पहनाने वाले नाटककार तथा उसका दिग्दर्शन करने वाले व्यक्ति नाट्यकला के अच्छे मर्मज्ञ होने के कारण शेक्सपियर, मोलियर, इब्सन, गाल्सवर्दी आदि पाश्चात्य नाटककारों की कृतियाँ जिस यथातथ्य रूप में मराठी-रंगमंच पर प्रस्तुत हुईं, उतनी किसी अन्य प्रान्तीय रंगमंच पर नहीं हो सकीं। केवल संख्या की दृष्टि से ही अनूदित नाटकों की संख्या बहुत अधिक है, लेकिन पाश्चात्य नाटक की विशेषताओं को स्वीकार करते समय हमेशा भारतीय जीवन-दृष्टि से सोचने का कार्य मराठी रंगमंच ने किया है।

विदेशी नाट्य-कृतियाँ महाराष्ट्रीय प्रेक्षकों के सामने प्रस्तुत करने का कार्य जिस प्रकार बड़े पैमाने पर हुआ, उसी प्रकार मराठी नाट्य-कला का दर्शन अन्य प्रान्त के लोगों को कराने का कार्य भी मराठी रंगमंच ने किया। ये कृतियाँ वहाँ के रसिकों को बड़ा आनन्द देती थी। यह सिलसिला अब भी कायम है। पिछले एक-दो वर्षों से 'ललित कलादर्श मंडली' जो अखिल भारतीय दौरा कर रही है, से यह सिद्ध होता है। परन्तु जब यह बात स्पष्ट हुई कि मराठी भाषिकों की संख्या अन्य प्रान्तों में अल्प है, तो लगा कि क्यों न अधिकाधिक अन्य प्रान्त के के हेतु एक सर्वमान्य भाषा हिन्दी में लिखे जायें यह कार्य

किर्लोस्कर, बलवन्त, नाट्य-कला-प्रवर्तक, यशवन्त ऐसी अनेक नाट्य-संस्थाओं ने किया। आज भी नाट्य-निकेतन इस प्रकार का कार्य कर रही है। 'चलती दुनिया', 'ताजे वफ़ा', 'पंजाब मेल', आदि नाटको का हिन्दी प्रदेशों में काफी बोलबाला रहा। मराठी नाटकों का आकर्षण इतना जबरदस्त रहा है कि कनाडी व गुजराती भाषी तथा पारसी व मुसलमान भी उनके लिए भीड़ लगाते थे। इस आकर्षण का यही कारण है कि मराठी रंगमंच के सामने मानव-जीवन का सर्वाङ्गीण दर्शन, मानव की सार्वकालिक भावनाओं को आवाहन तथा भारतीय संस्कृति के अंगोपागों को व्यक्त करना आदि उसके उद्देश्य रहे हैं।

मराठी रंगमंच के सर्वजनप्रिय होने का एक और कारण यह है कि भिन्न-भिन्न अभिरुचि के प्रेक्षकों को खुश करने में उसे कामयाबी हासिल हुई है। दूसरी बात यह है कि बड़े साहित्यिक, नामवर नेता, त्यागी देश-भक्त, उदार रसिक, ख्याति-प्राप्त गायन-पटु आदि का समुचित मार्गदर्शन तथा सहायता का लाभ मराठी रंगमंच को हमेशा मिलता रहा है। संस्थानाधिपति भी नाट्य-संस्थाओं के बड़े आधार रहे हैं। उन्होंने कलाकार तथा नाट्य-संस्था के पालपोस एवं सवर्धन की बड़ी जिम्मेदारियों को निबाहा है। बड़ोदा के राजर्षि सयाजीराव गायकवाड, इन्दौर के तुकोजीराव होलकर, कोल्हापुर के शाहू छत्रपति, सांगली-मिरजन के पटवर्धन जैसे गुणज्ञ संस्थानाधिपतियों ने मराठी रंगभूमि को सुस्थिर बनाने में स्वेच्छापूर्वक हाथ बँटाया है। आज यद्यपि ये रियासतें नष्ट हो चुकी हैं, तो भी महाराष्ट्र की सरकार इस विकसित, लोकमान्य तथा लोकप्रिय कला को उत्कर्ष की ओर ले जाने के लिए प्रस्तुत हुई है। व्यावसायिक नाट्य-संस्थाओं के नेता आधुनिक नाटकों के प्रयोग परिश्रमपूर्वक तथा नेकी के साथ प्रेक्षको के सम्मुख कर रहे हैं। नाटककार भी नये हौसलों के साथ अपनी कृतियों में नया आशय भर रहे हैं और आधुनिकतम रचनाओं की निर्मित करके मराठी नाट्य-शारदा का भण्डार सम्पन्न तथा समृद्ध कर रहे हैं। इन समस्त उपक्रमों को समझनेवाला तथा उनको उदार आश्रय देनेवाला नया रसिकवृन्द भी तैयार हो रहा है, अतः क्या आश्चर्य यदि मराठी का ऐश्वर्य-सम्पन्न रंगमंच उदित हो।

अनूदित नाटकों की संख्या भी अपेक्षाकृत प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। वर्षाकालीन मेघ-जलराशि के समान नाट्य-साहित्य की धारा यद्यपि मटमैली प्रतीत हो रही है, तो भी कालान्तर में उसमें समाया हुआ कूड़ा-कर्कट, कीचड़ आदि का निवारण हो जाने पर स्वच्छ जल-धारा का रूप अवश्य ही आकर्षक रूप में दिखायी देगा। अभी अभी खान से निकला स्वर्ण प्रस्तर-खण्डों के कारण ज्योतिहीन दिखायी देता है, परन्तु यंत्र की छलनी से छनकर उसकी किरणें फूट पडती हैं और सबकी आँखें चकाचौंध करके एक स्थायी सम्पत्ति का रूप धारण करता है। इसी प्रकार काल की छलनी में छनकर इस विपुल नाट्य- साहित्य में से वे ही नाटक स्वर्ण के समान बचकर हमारी रंगभूमि की स्थायी सम्पत्ति का रूप ग्रहण करेंगे।

● ●

पउमचरिउ का काव्य-शिल्प

●

सिद्धनाथ पाण्डेय

'पउमचरिउ' महाकवि स्वयंभूदेव (९वीं शताब्दी ई०) और उनके पुत्र त्रिभुवन की संयुक्त रचना है। अपभ्रंश के ज्ञात आख्यानक काव्यों में प्रस्तुत कृति प्राचीनतम एवं अति-महत्वपूर्ण है। कृति का परिमाण ९० संधि, १२६९ कडवक एवं १२००० छन्द (ग्रन्थाग्र) है। इसका मुख्य वर्ण्य-विषय जैन सम्प्रदायों में प्रचलित राम-कथा है। जैन पुराणों में स्वीकृत तिरसठ शलाका (श्रेष्ठ) पुरुषों में राम, लक्ष्मण एवं रावण, क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव एव प्रति वासुदेव हैं। इसी दृष्टि से वे श्रेष्ठ एवं पौराणिक पुरुष हैं। साथ ही राम-कथा ने भारतीय जन-सामान्य एवं देशी तथा विदेशी भाषाओं के साहित्य मे भी कवियों को आकर्षित किया है। संभवतः राम-कथा के इसी व्यापक प्रचार ने, महाकवि स्वयंभू को भी, राम-कथा ही पर आधारित अपभ्रंश के आदिकाव्य के प्रणयन की प्रेरणा दी होगी।

जैन सम्प्रदायों मे स्थूल रूप से राम-कथा की दो स्पष्टतः भिन्न परम्पराएँ मिलती है। प्रथम परम्परा का प्रतिनिधित्व गुणभद्राचार्य (९वीं शताब्दी ई०) के 'उत्तर पुराण' में संग्रथित रामकथा तथा द्वितीय परम्परा का प्रतिनिधित्व विमलसूरि (प्रथम शताब्दी ई०) के 'पउमचरियं' में निबद्ध राम-कथा करती है। द्वितीय परम्परा वाली राम-कथा, कई रोचक वृत्तान्तों से युक्त होने के कारण, जैन कवियों में अधिक प्रचलित हुई। स्वयंभू के 'पउमचरिउ' मे वर्णित राम-कथा भी द्वितीय परम्परा से अधिक साम्य रखती है। 'पउमचरिउ' की राम-कथा की रूपरेखा इस प्रकार है :—

'राक्षस-विद्याधरों के वंश में रत्नाश्रव और कैकशी को चार संतान—रावण, भानुकर्ण, चन्द्रनखा एवं विभीषण उत्पन्न हुई। तीन भाइयों ने व्रत एवं तपश्चर्या द्वारा अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं। रावण ने त्रिजगभूषण मत्तगज को वश में किया। यम, धनद, सहस्रकिरण, नलइबर, वरुण आदि राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकृत करवायी।

अयोध्या के राजा दशरथ की चार रानियों—अपराजिता, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा से क्रमशः पद्म (राम), लक्ष्मण, भरत और शुत्रघ्न उत्पन्न हुए। मिथिला नरेश जनक और उनकी रानी विदेहा से सीता और भामंडल दो जुडवा सन्तानें पैदा हुई। जनक द्वारा आयोजित स्वयवर म एव धनुषों को चढा देन पर राम-सीता का विवाह

हो गया। कैकेयी के वरदान माँगने पर यथानुसार राम भरत के सिर पर राज्य-पट्ट बाँधकर, लक्ष्मण और सीता को लेकर वन चले गये। वन जाते समय लक्ष्मण ने अनेक राजाओं का मान-मर्दन किया तथा कई राजकुमारियों से पाणिग्रहण भी।

चन्द्रनखा, खर की पत्नी, जो कि अपने पुत्र की मृत्यु से दुःखी थी, राम-लक्ष्मण को वन में देखकर कामासक्त हो गयी। उसने उनसे परिणय-प्रस्ताव रखा। उनके अस्वीकृत करने पर उसने अपने पति से उनके बलात्कार का मिथ्या दोषारोपण किया। खर-दूषण युद्धार्थ उनके पास पहुँचे और लक्ष्मण उन दोनों की सेनाओं से लड़ने चले गये। चन्द्रनखा ने रावण के सम्मुख सीता के सौंदर्य का वर्णन किया। रावण काम के वशीभूत होकर सीता के पास आया और अवलोकिनी विद्या के प्रभाव से सिंहनाद करके, राम के वहाँ से हट जाने पर सीता-हरण किया। उसने सीता को ले जाकर लङ्का में नन्दनवन में रखा। सीता-हरण का समाचार पाने पर राम-लक्ष्मण दुःखी हुए। हनुमान सीता का पता लगाने लङ्का गये। उन्होंने आशली विद्या को नष्ट किया, लङ्कासुन्दरी को वशीभूत कर उससे विवाह एवं भोग-विलास भी किया। सीता से भेंट करके उपवन उखाड़ा, अक्षयकुमार को मार डाला। मेघवाहन द्वारा नागपाश में बाँधे जाने पर हनुमान ने रावण को उसके दरबार में दार्शनिक एवं धार्मिक उपदेश दिया। उसके पश्चात् राम के पास लौट आये।

राम ने युद्ध-प्रस्थान कर दिया। विभीषण भी रावण से अपमानित होकर राम से जा मिला। राम ने संधि के लिए अंगद को रावण के पास भेजा, किन्तु रावण ने सीता को लौटाना स्वीकार कर किया। युद्ध प्रारम्भ हो गया। चौथे दिन रावण से युद्ध करते हुए लक्ष्मण को शक्ति लगी। द्रोणघन की लड़की विशल्या के आने पर लक्ष्मण पुनः स्वस्थ्य हुए। रावण ने संधि के लिए राम के पास प्रस्ताव भेजा किन्तु व्यर्थ। इसके बाद रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की। अन्त में लक्ष्मण के हाथों रावण की मृत्यु हुई।

राम-लक्ष्मण सीता सहित अयोध्या लौटे। राम के आने पर भरत ने राज्य त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ली। लोकापवाद से राम ने सीता को पुनर्वनवास की आज्ञा दी। सीता राम के श्वसापति के यहाँ रहने लगी। यथासमय उन्हें लवण तथा अंकुश नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। बड़े होने पर लवण और अंकुश ने राम-लक्ष्मण की सेना को पराभूत किया और अन्त में नारद मुनि ने उनका परिचय करा दिया। सीता की अग्नि-परीक्षा हुई। पवित्र सिद्ध होने पर सीता दीक्षा ग्रहण कर संसार से विरक्त हो गयी। कवि ने मुख्य-मुख्य चरित्रों के अवान्तर-वर्णन के उपरान्त काव्य की समाप्ति की है।

इस परम्परा को राम-कथा में परम्परागत प्रचलित अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों एव विश्वासों की तर्कसंगत व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। रावण के दसमुख नाम का कारण रावण का मणिखचित नौ मुख वाले हार का पहनना था। उसमें उसके मुख के नौ प्रतिबिम्ब दृष्टिगत हुए। रावण का दसमुख नाम वैसे ही प्रसिद्ध हुआ, जैसे सिंह का पंचानन।[1] राक्षस एवं वानर विद्याधर थे। राक्षसवंश के पूर्वज का नाम महाराक्षस था। वानर वंश का नामकरण 'वानरदीप' में रहने तथा ध्वजाओं आदि पर वानरचिह्न अंकित होने के

१ पउमचरिउ, ९४।

कारण पड़ा। इन्हें आकाशगामिनीत्व, बहुरूपिनी आदि विद्याएँ सिद्ध थीं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, आदि पृथ्वी के ही शासक थे। उनके वंश का नाम 'देवता' था।[1] सीता मिथिला नरेश जनक और उनकी रानी विदहा की पुत्री थीं।[2] दशरथ ने सत्य के पालन हेतु राम को स्वयं वन जाने की आज्ञा दी। चन्द्रनखा ने, राम-लक्ष्मण द्वारा विवाह-प्रस्ताव अस्वीकृत करने पर स्वयं अपने स्तन आदि को नखक्षत एवं विरूप करके खर को उनके विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार किया।[3] रावण ने अवलोकिनी विद्या की सहायता से सिंहनाद करके राम को सीता के पास से हटने के लिए प्रेरित किया और राम के वहाँ से हटने पर सीता-हरण किया।[4] युद्ध-रत लक्ष्मण ने सीता की देखभाल करते हुए राम को सिंहनाद का संकेत बताया था। लक्ष्मण विपत्ति पड़ने पर सिंहनाद करते। रावण ने एक जैन मुनि के सन्मुख प्रतिज्ञा की थी कि वह किसी भी स्त्री के साथ बलात्कार नहीं करेगा।[5] सीता ने संदेशवाहक हनुमान की परीक्षा ली।[6] हनुमान ने रावण को उसके दरबार में उपदेश दिया।[7] लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणमेध की कन्या विशल्या लायी गयी, जिससे पूर्व जन्मों के कृत्यों के फलस्वरूप लक्ष्मण पुनः स्वस्थ्य हुए।[8] रावण की मृत्यु लक्ष्मण के हाथों हुई। रावण की मृत्यु पर विभीषण ने भी विलाप किया।[9] लक्ष्मण, रावण, भानुकर्ण आदि बुरे कर्मों के फलस्वरूप नरक गये। राम, सीता आदि तपस्या करके स्वर्ग गये।

उपर्युक्त परिवर्तनों एवं संशोधनों के समावेश द्वारा कवि ने 'पउमचरिउ' की राम-कथा को रोचक, विश्वसनीय एवं तर्कसम्मत बनाने का सफल प्रयत्न किया है।

'पउमचरिउ' के कवि ने, राम-लक्ष्मण-रावण की अधिकारिक कथा के साथ ही साथ अनेक उपाख्यानों एवं अन्तर्कथाओं का भी समावेश वस्तु-संगठन को सुदृढ़ एवं सुयोजित बनाने के लिए किया है। इन आख्यानों का उद्देश्य वर्ण्य-विषय को तार्किक, रुचिपूर्ण एवं प्रभावशाली बनाना है। पौराणिक शैली का महाकाव्य होने के कारण 'पउमचरिउ' में कुछ अनावश्यक, अप्रासंगिक एवं नीरस उपाख्यानों का भी समावेश हो गया है किन्तु वह कवि द्वारा ग्रहीत विषय-वस्तु, साम्प्रदायिक मान्यता एवं व्यक्तिगत अभिरुचि के बन्धनों के कारण ही है। अन्यथा स्वयंभू ने अनेक अप्रासंगिक, साम्प्रदायिक आख्यानों एवं वर्णनों को या तो ग्रहण ही नहीं किया है अथवा उनका संकेत मात्र कर दिया है। पूर्ववर्ती जैन राम काव्यों—'पद्मपुराण' एवं 'पउमचरियं' के उपाख्यानों से तुलना करने पर यह स्वतः स्पष्ट हो जायेगा।

---

१. दे० विद्याधर काण्ड,
२. पउमचरिउ २१।५,
३. पउमचरिउ, ३७।३,
४. पउमचरिउ ३८।६—१०,
५. वही, १८।३,
६. वही, ५०।४—६
७. वही, ४५।४—१६,
८. वही. ६९वीं सन्धि
९. वही ७६वीं सन्धि।

प्राय कवि न विषय के स्पष्टीकरण कथा प्रवाह प्रभावात्मकता म वद्धि के लिए ही इनकी योजना की है। विद्याधर काड एव उत्तर काड में उपाख्यान सर्वाधिक ह अयोध्याका म भी उनकी सख्या पर्याप्त ह। विद्याधर काड म आय हुए उपाख्यान रावण की विविध विजयों, विद्यासिद्धि आदि के वर्णन द्वारा रावण के अमित शौर्य एवं साहस के तर्कसम्मत, विश्वशनीय एवं प्रभावशाली प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ठीक इसी प्रकार अयोध्याकांड के उपाख्यान लक्ष्मण के अतुल शौर्य एवं सौन्दर्य के उद्घोषक हैं। नाट्यपद्धति द्वारा कवि ने अयोध्याकाड में ही लक्ष्मण के हाथों रावण की मृत्यु होने का संकेत भी कर दिया है।

'पउमचरिउ' के प्रमुख उपाख्यान इस प्रकार हैं—ऋषम-भरत-बाहुबलि (सं० १-४), सगरोपाख्यान (सं० ५) वानर वंशोपाख्यान (सं० ६), किष्किध-अन्धकाख्यान (७), मालि-इन्द्र युद्ध आख्यान (८), रावण-यम (११), रावण-वालि (१२), रावण-सहस्रकिरण (१५), इन्द्र-रावण आख्यान (१६-१७), पवनंजय-अंजना आख्यान (१८-१९), सिंहोदर आख्यान (२५), वज्रकर्ण आख्यान (२५-२६), कल्याणमाला आख्यान (२६), रामपुरी आख्यान (२८), वनमाला आख्यान (२९), अनन्तवीर्य आख्यान (३०), अरिदमन आख्यान (३१), हनूमान-महेन्द्र आख्यान (४६), लङ्कासुन्दरी आख्यान (४८), विशल्या आख्यान (६८-६९), लवणाकुश आख्यान (८१-८२), पूर्वजन्मों का विवरण (८४-८५) आदि।

उपरिलिखित उपाख्यानों तथा अन्य उपाख्यानों, जिनका 'पउमचरिउ' में उपयोग हुआ है, में अधिकांश जैन काव्यों में परम्पराबद्ध रूप से प्रयुक्त होते रहे हैं। अतः 'पउमचरिउ' मे भी कवि को यथास्थान उनका प्रयोग करना पड़ा है। अतएव काव्य में उपाख्यानों का बाहुल्य काव्य की प्रकृति एवं परम्पराग्रहण की प्रवृत्ति के कारण ही हुआ है। स्वयंभू ने कुछ उपाख्यानों की मौलिक योजना भी की है। ये उपाख्यान कवि की मार्मिक स्थलों की पहचान एवं काव्य के प्राणतत्त्व के सूचक हैं। पवनंजय-अंजना उपाख्यान (सं० १८-१९) इसी कोटि का एक उदाहरण है।

कथानक-रूढ़ि एवं अभिप्रायः

कथानक में इप्सित मोड़ देने के लिए, उसे रोचक एवं विश्वसनीय बनाने के लिए, फलागम की प्राप्ति के लिए अथवा किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि लोग जिन परम्परागत कथा-तत्त्वों का काव्य की वस्तु-योजना मे समावेश करते हैं, उन्हें 'कथानक-रूढ़ि' की संज्ञा दी जाती है। (ये एक विशेष अभिप्राय से ग्रहण की जाती है। इसीलिए इन्हे कथा-अभिप्राय की संज्ञा भी दी जाती है।)

'पउमचरिउ' पौराणिक शैली का एक महान् काव्य है। इसके प्रणयन के मूल में कवि का अपना दृष्टिकोण है। उसकी काव्य, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज आदि विषयक व्यक्तिगत मान्यता है। साथ ही साथ वर्ण्य-विषय, सम्प्रदाय एवं समाज सम्बन्धी उसकी मर्यादा भी है। एतदर्थ उसे अपने लक्ष्य प्राप्त्यर्थ अनेक कथानक-रूढ़ियों का आश्रय लेना पडा है। इनके स्वाभाविक एवं यथास्थान प्रयोग द्वारा कवि कृतकार्य भी हुआ है। 'पउमचरिउ' मे प्रयुक्त कथानक-रूढ़ियों में निम्नलिखित उल्लेख्य हैं—

१ प्रेम का आरम्भ (क) रूप-गुण श्रवण द्वारा रावण का गुण श्रवण कर

नलकूबर की पत्नी उपरम्भा में प्रेमोत्पत्ति (पउमचरिउ सं० १५-११),

(ख) चित्रदर्शन द्वारा—सीता का चित्र देखकर, भामंडल में प्रेमोत्पत्ति (२१-९)।

(ग) प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा—सागर को देखकर तिलककेशा में प्रेमोत्पत्ति (५-५), रावण-मन्दोदरी (१०-२,३), कल्याण-माला-लक्ष्मण (२६-८)।

विवाह के लिए धनुष चढ़ाने की शर्त—सीता के विवाह के लिये (२१-१२)।

घोड़े का दुर्गम वन में जाना और एक तालाब पर रुकना—राजा सगर (५-४)।

निर्जन वन में सुन्दरी से साक्षात्कार, प्रेम और विवाह—राजा सगर—तिलककेशा (५-४,५)

भविष्यवाणी का सत्य होना—देखिए 'पउमचरिउ'—५-५, २१-१३ तथा ९-१ आदि।

भवान्तर-स्मरण या जातिस्मर—'पउमचरिउ'—६-११,१२,२१-५, २२-५,६, ३३-१३, ४०-६, ७९-११ आदि।

रूप या वेष-परिवर्तन—'पउमचरिउ' १९-८, २१-१०, २६-१८, ३०-४ आदि।

भटों का नाश करने वाली राजकुमारी—जितपद्मा—'पउमचरिउ'—३१-५।

नायक या उसके मुख्य सहयोगी में दिव्य शौर्य—लक्ष्मण ने अनेक राजाओं को पराजित किया।

नायक या उसके मुख्य सहकारी में दिव्य सौन्दर्य—१५-९, ४४-१ आदि।

मदोन्मत्त गज को वश में करना—११-७।

अतिमानवीय, अतिलौकिक आदि तत्वों का कथा के विकास में योगदान-अनेकत्र।

स्वप्न-दर्शन एवं फलविश्लेषण—१-१५, १६, ९-३, ५०-८,९ आदि।

जैन मुनि द्वारा अवान्तर-वर्णन—'पउमचरिउ' संधि ६८, ८४, ८५ तथा अन्य।

धर्मोपदेश के लिए जैन मुनि की अवतारणा—कुलभूषण, देशभूषण आदि।

बहु विवाह—सभी प्रमुख पात्रों को 'पउमचरिउ' में बहु विवाहित वर्णित किया गया है।

सभी प्रमुख पात्रों का जैन धर्म में दीक्षित होना।

शुभ या अशुभ कर्मों के फलस्वरूप चरित्रों को यथानुसार स्वर्ग या नरक की प्राप्ति।

रोलिखित कथानक रूढ़ियाँ नमूने के रूप में दी गयी हैं। 'पउमचरिउ' में कथानक पयोग व्यापक रूप से हुआ है।[1] कवि ने उनकी योजना युक्तिसंगत ढङ्ग से की है।

---

[1] विशेष विवरण के लिए दे० लेखक द्वारा "अपभ्रंश के आख्यानक काव्य और उनका हिन्दी के आख्यानक काव्यों पर प्रभाव" शीर्षक शोध-प्रबन्ध, प्रयाग, सितम्बर १९६८ ई०।

काव्यरूढि

भारतीय साहित्य में कवियों द्वारा प्राचीन काल से ही अनेक काव्य सम्बन्धी रूढ़ियाँ व्यवहृत होती रही हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, सर्वत्र इन रूढ़ियों की परम्परा मिलती है। काव्यरूढ़ियों के स्वरूप एवं परिमाण में परिवर्तन अवश्य होते रहे हैं। ये परिवर्तन कवि के सामाजिक परिवेश, साम्प्रदायिक मर्यादा एवं व्यक्तिगत मनोवृत्ति के कारण ही निष्पन्न हुए है।

'पउमचरिउ' में भी यथास्थान अनेक काव्यरूढ़ियों की योजना की गयी है। इनमे से कुछ कवि के मौलिक प्रयोग के फलस्वरूप हैं। कवि द्वारा प्रयुक्त काव्यरूढ़ियाँ इस प्रकार है—

'पउमचरिउ' में आरम्भ में प्रथम सन्धि के ११ कडवकों में, तथा २३वीं सन्धि के प्रथम कडवक में मंगलाचरण की योजना है। इसके अन्तर्गत गुरुवन्दना (१—ध्रुवक), चौबीस तीर्थङ्करों की वंदना (१—१), राम-कथा की परम्परा (१—२), आत्मलघुत्व वर्णन (१—२), सज्जन-स्तुति, दुर्जन-निंदा (१—३), वक्ता-श्रोता का उल्लेख (१—६ से ११) का समावेश किया है। मंगलाचरण की परम्परा संस्कृत के बाणभट्टकृत 'कादम्बरी' एवं 'हर्षचरित', सुबन्धु की 'वासवदत्ता' आदि गद्य-ग्रन्थों, 'रघुवंश' आदि महाकाव्यों तथा प्राकृत के प्रायः सभी काव्यो मे न्यूनाधिक रूप में मिलती है। मंगलाचरण का सन्निवेश कवि एक विशेष दृष्टिकोण से करते है। इसके माध्यम से कवि के जीवन के बारे में, काव्य एवं समाज के सम्बन्ध में दृष्टिकोण के सूत्रात्मक किन्तु महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं। 'पउमचरिउ' में संस्कृत एवं प्राकृत काव्यों से कुछ विशेष प्रवृत्तियों का मंगलाचरण में उल्लेख है। ये प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण रूप से अपभ्रंश के सभी आख्यानक काव्यों में ग्रहीत हुई हैं।

काव्यरूढ़ि के सन्दर्भ में मध्ययुगीन काव्यों मे परम्पराभुक्त रूप से देश-नगर वर्णन, युद्ध-सैन्य वर्णन, प्रकृति-वर्णन आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है। 'पउमचरिउ' मे भी इन परम्परागत वर्णनों का सम्यक् प्रकारेण समावेश हुआ है। इस क्षेत्र में भी कवि ने कई मौलिक प्रयोग किये हैं, जिनका परवर्ती अपभ्रंश एवं हिन्दी साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव है। 'पउमचरिउ' में इन रूढ़ियों का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

मगध देश वर्णन (१—४), राजगृह नगर वर्णन (१—५), जीवंत नगर वर्णन (२९—१), क्षेमंजलि नगर वर्णन(३१—६), दधिमुख नगर वर्णन (४७—१), महेन्द्र नगर वर्णन (४६—१,२) आदि देश-नगर के वर्णन। युद्ध-सैन्य वर्णनों में भरत-बाहुबलि युद्ध (सं० ४), इन्द्र-मालि युद्ध (सं० ८), वैश्रवण-रावण युद्ध (सं० १०), रावण-बालि युद्ध (१२), रावण-नलकूबर युद्ध (१५), इन्द्र-रावण युद्ध (१७), रावण-वरुण युद्ध (२०), सिंहोदर-वज्रकर्ण युद्ध (२५), खरदूषण-लक्ष्मण युद्ध (३७), हनूमान-अक्षयकुमार युद्ध (५२), राम-रावण युद्ध (६१-६६ तथा ७४-७५)। युद्ध सम्बन्धी वर्णनों के प्रसंग में सैन्य-वर्णन आदि का भी समावेश किया गया है। कवि ने युद्ध आदि से सम्बन्धित वर्णनों में परम्परागत शैली के अतिरिक्त पौराणिक शैली एवं जैन सम्प्रदायों के तत्वों का भी समाहार किया है। युद्ध में सेनापतियों द्वारा व्यूह (१६-१५), प्रतिव्यूह (१७-१), गरुड़—व्यूह एवं चाप-व्यूह (२०-५), सिंह-व्यूह आदि की योजना इन्द्रजाल आग्नेय बाण स्तम्भन विद्या वारुण बाण पवन बाण

नागपाश सर्पिणी विद्या गारुड विद्या नारायणी विद्या माहेश्वरी विद्या मेघवाहनी विद्या आदि युद्ध का प्रयोग यथास्थान (८-७, १२-९, १०,३१-१३, ५३-१२, ६३-१०, ६५-५, ६५-८,६) ६५-१३, ६६-१०, १२, ७२-१२ और ७-७ आदि) हुआ है। तपस्योपरान्त रावण (९-१२, १३) को महाकालिनी, गगनसंचालिनी आदि एक हजार विद्याएँ प्राप्त हुई थीं। राम के एक सैनिक के पास भी (५६/७) प्रज्ञप्ति, बहुरूपिणी आदि अनेक विद्याएँ एवं शक्तियाँ थीं। युद्ध-वर्णन के प्रसंग में कवि ने दौत्य-कार्य, सेना के अंगों का वर्णन, सैन्य-प्रस्थान एवं उससे उत्पन्न धूल के कारण हुए अन्धकार, सैनिकों की उत्तेजना एवं प्रतिज्ञा, जलयुद्ध, दृष्टि युद्ध, द्वन्द्व युद्ध, विद्यायुद्ध आदि युद्ध की विधियों, कबन्ध-वर्णन, रक्त-नदी वर्णन, शवसमूह वर्णन, वेताल-डाकिनी-शृङ्गाल आदि के कृत्यों का सजीव, संवेद्य एवं सविस्तार चित्रण भी समाविष्ट किया है। युद्ध सम्बन्धी कुछ वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए, ग्रीष्म-पावस युद्ध (२८-२, ३), एवं मिथुन-युद्ध (२३-११) दिये जा सकते हैं। ये प्रसंग मौलिक होने के साथ ही कवि की अलंकारिक, शृङ्गारिक एवं युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति के व्यंजक भी हैं।

'पउमचरिउ' में प्रकृति-वर्णन को भी यत्र-तत्र स्थान मिला है। उसका समावेश मुख्य रूप से परम्परा निर्वाह, आलंकारिक प्रदर्शन अथवा किसी वर्णन की पृष्ठभूमि निर्माण के लिये किया गया है। संध्या, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, रात्रि, सूर्योदय आदि का वर्णन अनेक स्थलो (१३-१२, १४ ध्रुवक, १५-६, २३-९, २६-१६, ६३-११ आदि) में हुआ है। वह अति संक्षिप्त किन्तु आलंकारिक है। अनेक नदियों के वर्णन की योजना हुई है, जिनमें नर्मदा नदी (१४-३, १०), गंभीरा नदी (२३-१३); गोदावरी नदी (१३-३), कावेरी, तुंगभद्रा, कृष्णा, भीमरथी, गोला, नर्मदा, यमुना, गंगा (६९-५ से ७) का वर्णन महत्वपूर्ण है। अन्य वर्णनों में समुद्र वर्णन (६९-३), मधुपर्वत (७-१०), विन्ध्य पर्वत (२७-२), एक पर्वत (३२-३) मलयगिरी एवं किष्किंध-गिरि (६९-५), एक अटवी (२४-१४), दण्डकारण्य (३४-१०), नन्दनवन (५१-२), शकटमुख उद्यान (३-१) का वर्णन उल्लेखनीय है। ऋतुओं में वसन्त (१४-१, २ तथा २६-५) का एक राजा के रूप में आलंकारिक और अन्यत्र (१४-४) जलक्रीड़ा की पृष्ठभूमि के रूप में तथा अन्यत्र (७१-१, २) मार्मिक, सजीव एवं यथार्थ रूप में; पावस-ग्रीष्म (२८-२, ३) का दो राजाओ के रूप में आलंकारिक तथा शरद्वर्णन (३६-२) भी आलंकारिक रूप में हुआ है।

काव्यरूढ़ि सम्बन्धी उपर्युल्लिखित देश-नगरादि, युद्ध एवं प्रकृति आदि के वर्णनो मे कवि नाम-मात्र का रूढ़िवादी है। अन्यथा उसकी शैली की मौलिकता, दृष्टिकोण की भिन्नता एवं मौलिक प्रवृत्तियों का आग्रह इन वर्णनों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इन वर्णनों में कवि की लोकोन्मुखी दृष्टि, सहज एवं प्रवाहमयी शैली तथा आलंकारिक प्रवृत्ति के दर्शन होते है। देश नगरादि एवं युद्ध के वर्णन स्वयंभू ने विशेष मनोयोग एवं मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है। प्रकृति चित्रण में उसकी दृष्टि उतनी नहीं रम सकी है। किन्तु जहाँ वह रमी है वहाँ कवि की लेखनी ने एक अद्भुत कला की सृष्टि की है। वसंत-श्री (७१-१,२) का वर्णन इसी कोटि का एक उदाहरण है। यह वर्णन अलंकारिक होते हुए भी कवि की सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति, प्रकृति-प्रेम एवं विस्तृत अनुभव का परिचायक है। कवि ने यहाँ पर पुष्पों, फलों एवं पक्षियों आदि के प्रफुल्लित एव प्रसन्न रूपों के सजीव, सांगोपांग एव मनोहारी चित्रण के

साथ ही वसंत के समृद्धिपूर्ण विलासमय वातावरण की सृष्टि भी की है। किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि 'पउमचरिउ' में इस कोटि के प्रकृति-चित्रण गिने-चुने ही हैं। प्रायः सर्वत्र वे कवि की अलंकारिक एवं अन्य प्रवृत्तियों से आछन्न, अतएव अस्वाभाविक हैं।

कवि-समय या कवि-सत्य :

कवि-समय या कवि-सत्य का प्रयोजन एवं उद्देश्य भी लगभग वही होता है जो कथानक-रूढ़ि एवं कथा-अभिप्राय का। ये काव्य में प्रयुक्त स्वतःसिद्ध तत्त्व होते हैं। इनकी सत्यता के बारे में प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता। महाकवि राजशेखर (९वीं शताब्दी ई०) ने 'काव्य मीमांसा' (अध्याय १४) में कवि-समय की परिभाषा दी है कि "परम्परा से चली आती हुई जिन अशास्त्रीय एवं अलौकिक बातों का वर्णन करते हैं, उन्हें 'कवि-समय' कहते हैं।"

'पउमचरिउ' में प्रयुक्त निम्नलिखित 'कवि-समय' उल्लेखनीय हैं—

१. आकाशवाणी—पउमचरिउ में अनेक स्थलों (२-१३ आदि) पर इसका उपयोग हुआ है।
२. किसी इच्छित कार्य की पूर्ति होने पर देवताओं द्वारा दुंदुभी बजाना (१२-१० आदि)।
३. देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि करना (४-११,११-७,२१-१३,३०-१२)।
४. क्रौंच पक्षी का रात में अपने प्रिय के लिए तड़पना (६७-२)।
५. चकवा-चकवी युगल का रात्रि में अलग-अलग रहना (१८-११ तथा ६७-२)।
६. गर्भिणी स्त्री की इच्छा या दोहद कामना और उसकी पूर्ति (८१-२) आदि।

इनमें से सभी कवि-समय प्राचीन काल से ही भारतीय साहित्य में व्यवहृत होते रहे हैं। स्वयभू ने वर्ण्य-विषय को जन-सामान्य में प्रचलित, विश्वसनीय एवं प्रभावशाली बनाने के लिए इस क्षेत्र में परम्परा को सँजोते हुए कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी कीं। इस दृष्टि से परवर्ती अपभ्रंश एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के कवि पर्याप्त प्रभावित हुए।

भावयोजना :

काव्य-शिल्प के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष एवं कलापक्ष। प्रथम को अन्तः एवं द्वितीय को बाह्य पक्ष भी कहते हैं। प्रथम के अन्तर्गत यदि विवेच्य की संवेदनात्मक अनुभूति, प्रेषणीयता एवं कल्पना का मंजुल समन्वय रहता है तो द्वितीय के अन्तर्गत उसी को प्रस्तुत या प्रत्यक्ष करने की कला। कवियों ने काव्यसृष्टि द्वारा व्यावहारिक दृष्टि से तथा काव्यशास्त्रियों ने सैद्धान्तिक विवेचनों के द्वारा काव्य के भावपक्ष या अंतःपक्ष को अनेक प्रकार से काव्य की 'आत्मा' या 'प्राणतत्व' सिद्ध किया है। इस दृष्टि से काव्य में रस की अनिवार्य अभिव्यंजना एवं महत्व स्पष्ट है।

'पउमचरिउ' में भी यथास्थान अनेक भावों, रसों एवं उसकी भंगिमाओं की अवतारणा की गयी है। किन्तु सामयिक साहित्यिक प्रवृत्ति, वर्ण्य-विषय की मर्यादा एवं व्यक्तिगत अभि-रुचि के कारण श्रृंगार, वीर, रौद्र एवं शान्त रसों के अतिरिक्त अन्य रसों की व्यापक निष्पत्ति नही हो सकी है। ये चार रस ही प्रधानतया इस काव्य में व्याप्त हैं तथा इनकी व्यंजना में कवि के चातुर्य एवं कला की झाँकी भी द्रष्टव्य है।

१. श्रृंगार	में श्रृंगार के उभय पक्षों—सयोग एव विप्रलम्भ का

सागोपांग चित्रण हुआ है। संयोग के चित्रणों में विभिन्न जलक्रीड़ा वर्णन (१४-५ से ७, स० २६, ७६-११) एवं पवनकुमार-वसन्तमाला संभोग विशेष उल्लेख्य हैं। स्वयंभू की अद्भुत काव्य-कला का प्रमाण जलक्रीड़ा वर्णन, जिसकी आज भी कोई बराबरी नहीं कर सकता, पउमचरिउ (१४-५ से ७) में ही संग्रथित हैं। संभोग शृंगार का वर्णन कवि ने आलम्बन एव आश्रय के सौन्दर्याङ्कन से प्रारम्भ किया है। इस प्रकार के चित्रणों में श्रीमाला (७-१), मन्दोदरी (१०-३), सीता (३८-३) आदि के सौन्दर्य-वर्णन महत्त्वपूर्ण हैं। सौन्दर्य-वर्णन में अप्रस्तुतों के ललित विधान द्वारा प्रभावात्मकता एवं औदात्य की सृष्टि की गयी है। सीता की रचना जगत में उपलब्ध मात्र सुंदरतम उपादानों से हुई है। इस दृष्टि से वे कालिदास की शकुन्तला से तुलनीय हैं। कहीं-कहीं अति संक्षेप में ही सौन्दर्य निरूपण हुआ है, किन्तु प्रभाव-शालिता में न्यूनता नहीं आ पायी है। उदाहरण के लिए, अंजना के सौंदर्य-वर्णन का एक चित्र है—

"मारो वि मरइ विरहेण जाहे, को वण्णेइ सक्कइ रूवु ताहे ॥" १८-६-८

'जिसके विरह से कामदेव भी मरता है उसके रूप का वर्णन कौन कर सकता है ?'

'पउमचरिउ' में विप्रलम्भ शृंगार की द्विविध योजना मिलती है—१–संयोग के पश्चात् वियोग; २—संयोग के पूर्व वियोग की स्थिति। प्रथम कोटि के कुछ उदाहरण हैं—अंजना का वियोग (१८-६), पवनंजय का वियोग (१९-१३), राम का वियोग (३९-११,१२) आदि। उदाहरण के लिए अंजना के वियोग में कातर पवनंजय की भावस्थिति द्रष्टव्य है—

"पवणञ्जओ वि पडिवक्ख-खउ। काणणे पइसरइ विसाय-रउ ॥२॥
पुच्छइ 'अहो सरवर दिट्ठु धण। रत्तुप्पल-दल-कोमल-चलण ॥३॥
अहो रायहंस हंसाहिवइ। कहे कहि मि दिट्ठ जइ हंस गइ ॥४॥

\+ \+ \+ \+

अहो सिहि कलाव-सण्णिह चिहुर। ण णिहालिय कहि मि विरह-विहुर ॥६॥ १९-१३

'प्रतिपक्ष का क्षयकर्ता पवनंजय विषादयुक्त कानन में प्रवेश करता है। पूछता है, 'हे सरोवर ! रक्तोत्पलदल के समान कोमल चरण वाली धन्या को देखा ? हे राजहंस ! हंसाधि-पति ! क्या कहीं हंसगामिनी दिखायी पड़ी ?'

\+ \+ \+

अरे मयूर ! तुम्हारे कलापवत् बालों वाली विरहविधुरा (अंजना) को कहीं नही देखा है ?'

प्रस्तुत उदाहरण में निर्वेद, जड़ता, मोह, शंका, मति और वितर्क आदि संचारी भावो की उत्कष्ट योजना हुई है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशी' में राजा का वियोग-वर्णन इसी शैली मे किया है। कदाचित् कवि यहाँ पर कालिदास का ऋणी है।

द्वितीय कोटि के वियोग वर्णन कवि की अनूठी सूझ एवं कल्पना के परिणाम हैं। प्रथम दर्शन से प्रेमबिद्ध प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे के लिये तड़पने लगते हैं। उनके समक्ष अनेक विवशताएँ हैं, जिससे उन्हें कुढ़ने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है। इन वर्णनों में उपरंभा

१५ ११ (१८५ भार्मडल २१ ६ २२५ (२६८ रुद्रभूति
७

(२७-३), वनमाला (२६ ३) कुलभूषण-देशभूषण (३३ ११ तथा रावण ३८ ५) के विरह वर्णन विशेष महत्वपूर्ण हैं।

कवि ने द्वितीय कोटि के वियोग का चित्रण गुण एवं परिमाण दोनों दृष्टियों से गुरुतर चित्रित किया है। जहाँ प्रथमवर्गीय वियोग-वर्णन में प्रेमी एवं प्रेमिका के स्थायी एवं दृढ़ प्रेम की व्यंजना होती है, वहाँ द्वितीय में प्रेम-पात्र के दिव्य-सौन्दर्य एवं प्रभाव का ध्वनन।

२. वीर—'पउमचरिउ' मुख्य रूप से वीर रस का काव्य है। कवि ने अनेक युद्ध-सम्बन्धी स्थलों की उद्भावना करके वीर रस की व्यापक योजना की है। वीर रस सम्बन्धी उल्लेखनीय स्थल हैं—भरत बाहुबलि आदि के युद्ध-सम्बन्धी प्रसंग, जिनका युद्ध-सम्बन्धी काव्यरूढ़ियों के सम्बन्ध में उल्लेख हो चुका है। वीर रस के चार भेदों—युद्ध, दान, दया और धर्म में युद्ध वीर का ही सांगोपांग एवं विशद चित्रण हुआ है; अन्य रूपों का समावेश अत्यन्त गौण रूप से ही हो सका है। किन्तु युद्ध-वीर के जितने भी रूप या प्रकार संभव हैं, 'पउमचरिउ' में सभी की योजना की गई हैं। इसके लिये कवि ने नवीन उद्भा-नाओं, अद्भुत कल्पनाओं एवं शिल्प-योजनाओं का सन्निवेश किया है।

महाकवि स्वयंभू पूर्णतः सौन्दर्यवादी थे। उन्होंने युद्ध प्रसंगों में भी सौन्दर्य की योजना कर अपनी सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति एवं उसके प्रति मोह का परिचय दिया है। उनके वीर एवं शृङ्गार के मिश्रित चित्रण काव्य-कला के अन्यतम उदाहरण तथा कवि के क्रान्तिकारी प्रयोग के सूचक हैं। युद्ध-वसंत क्रीड़ा (३८-११), मिथुन-युद्ध (२३-११), सेना-मिथुन युद्ध (४३-१४), तथा रावण सेना-सुकलत्र (५१-१३) आदि के रूपकात्मक शैलीबद्ध वर्णन इसी कोटि के उदाहरण हैं।

३. रौद्र—वीर रस प्रधान काव्य में रौद्र रस का व्यापक चित्रण होना स्वाभाविक ही है। 'पउमचरिउ' भी इसका अपवाद नहीं है। वीर रस के प्रायः सभी प्रसंगों के पूर्वरूप मे या सहायक रूप में रौद्र रस की अभिव्यंजना हुई हैं। ऐसे प्रसंगों मे उल्लेख्य हैं—

भरत का कोप (४-५), सहस्र किरण की युद्ध योजना एवं स्त्रियों को आश्वासन (१५-२), रावण-इन्द्र का परस्पर ललकारना (१७), आत्म-शौर्य व्याख्यान (२०-५,६), लक्ष्मण का तमतमाना (२३-७, २७-६), दूषण की गर्जना (३७-४), हनूमान की उद्घोषणा (४६-२), रावण के सैनिकों की प्रतिज्ञा, वादा एवं डींग हाँकना (५६-३, ६), रणमदोन्मत्त सैनिको का प्रस्थान (५६-२), वीरों की प्रतिज्ञा (५६-४), राम की प्रतिज्ञा (६७-१२) आदि। रौद्र रस की निष्पत्ति कवि ने प्रायेण विस्तृत भूमिका के साथ की है। उसका चित्रण विशद एवं सर्वांगीण होने के साथ ही सजीव, चित्रात्मक एवं प्रभावशाली भी है।

४. शान्त—'पउमचरिउ' का ही नहीं अपितु समस्त जैन आख्यानक काव्यों का सर्व-प्रमुख रस शान्त है। काव्य के विशाल कलेवर में कवियों ने शृंगार, वीर, रौद्र आदि रसो की यथाशक्य व्यापक एवं सूक्ष्म अभिव्यंजना प्रस्तुत करते हुए काव्य का अन्तिम पर्यवसान शान्त रस के व्यापक परिवेश में ही किया है। स्वयंभू ही नहीं, विमल सूरि, रविषेण, हेमचन्द्र, जिनसेन, गुणभद्र, पुष्पदन्त, धनपाल आदि संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के सभी आख्यानक कवि इसी प्रवृत्ति के पोषक हैं

'पउमचरिउ' में भी स्वयंभू ने अनेक स्थलों पर संसार की अस्थिरता, मानव जीवन की अनित्यता एवं तपश्चर्या आदि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए शान्त रस की व्यापक योजना की है। काव्य के नायक-नायिका ही नहीं बल्कि सभी मुख्य पात्र विस्तृत जीवन-काल में युद्ध, सौन्दर्य, भोग-विलास आदि का अनुभव करके, जीवन की संध्या वेला में, दीक्षाग्रहण, तपश्चर्या या अन्य कर्मों द्वारा यथानुसार फल भी प्राप्त कर लिये हैं। काव्य में अवान्तर-वर्णनों की योजना इसी कर्म-फल सिद्धान्त के दृष्टान्त रूप में की गयी है। इस दृष्टि से तथा परम्परागत सम्प्रदाय में स्वीकृत कथानक की मर्यादा आदि की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि स्वयंभू ने शान्त रस सम्बन्धी वर्णनों का समावेश विवशतावश ही किया है। चाहे वह सम्प्रदायगत विवशता हो अथवा व्यक्तिगत धर्मभीरुता। इन स्थलों में कवि की कला धर्म के क्रोड में आवरित होकर अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व खो देती है।

शेष रसों की अवतारणा 'पउमचरिउ' में बहुत कम हुई है। वे जहाँ आये भी हैं, स्वतन्त्र रूप से वर्णन के लिए नहीं, बल्कि किसी वर्णन या अन्य रस की पुष्टि के लिए। शेष रसो के घटित होने वाले स्थल इस प्रकार हैं—

५. **करुण**—अंजना विलाप (१९-५,६), पुत्र की मृत्यु पर चन्द्रनखा का विलाप (३६-७ से ९), लक्ष्मण की मूर्च्छा पर राम का विलाप (६७-३), लक्ष्मण की मूर्च्छा पर भरत एव अयोध्या की रानियों का विलाप (६९-११), रावण की मत्यु पर विभीषण (७६-२, ३) तथा मन्दोदरी आदि रानियों (७६-९ से १२) का विलाप।

६. **वात्सल्य**—वियोग वात्सल्य-पवनंजय के घर छोड़ने पर उसकी माँ की वियोग-व्यथा (१९-१५), राम-वनगमन के अवसर पर अपराजिता का दुःख (२३-४) आदि।

७. **वीभत्स**—वैतरणी नदी (११-९), युद्ध में घायल एवं मृतकों आदि की स्थिति (१७-१३), युद्ध में रुधिर-नदी, वीरों द्वारा तैरना, शिवा द्वारा कबन्धों का भक्षण, कबन्धों का घूमना (७४-१७), नरक-वर्णन (८९-८) आदि।

८. **भयानक**—भीषण-वन का वर्णन (९-७), भयानक पर्वत का वर्णन (३२-३), हिंस्र सिंह का वर्णन (१९-७), भयानक अटवी और वहाँ के भयावने जीव (१९-३), लक्ष्मण के धनुष टंकार का प्रभाव (२७-५), नरक की यातनाओं का वर्णन (३५-१३ से १५)।

९. **अद्भुत**—भद्रहस्ति को रावण द्वारा वश में करना (११-६, ७), देवताओं द्वारा रत्नों की वृष्टि (३५-१) आदि।

'पउमचरिउ' में हास्यरस का अभाव है।

अलंकार योजना :

काव्य में वर्ण्य को बोधगम्य, रुचिर एवं प्रभावशाली बनाने के लिए अलंकार की योजना की जाती है। एतदर्थ अलंकार काव्य के अनिवार्य तो नही, किन्तु आवश्यक लक्षण अवश्य है। निरलंकार कविता संभव है किन्तु प्रभावशाली एवं स्थायी कविता अलंकारहीन अपवादस्वरूप ही हो सकती है। अस्तु, काव्य के स्थायित्व, महत्व एवं विषय के सम्यक् निरूपण के लिए अलंकार योजना बहुत जरूरी है। 'पउमचरिउ' का कवि भी इसी मत का प्रतिपादक है। उसने अनकत्र अप्रस्तुत विधानों में परोक्ष रूप से काव्य में अलंकार की योजना की

पुष्टि की है। जैसे कि सुकइए थिरलकारिए १६ ५ तथा सालकाइ ण सुकइ कियइँ सुइ-सत्थइ २६-१६ इत्यादि

व्यवहारिक दृष्टि से कवि ने 'पउमचरिउ' में शब्दात्मक, अर्थात्मक एवं उभयात्मक अलंकारों की संश्लिष्ट एवं विश्लिष्ट योजना की है। आलंकारिक वैभव की दृष्टि से 'पउमचरिउ' भारतीय साहित्य में अतुलनीय कहा जा सकता है। कवि का कोई भी वर्णन, जहाँ उसका मन रंच मात्र भी रमा है, बिना अलंकार की सहायता के पूरा नहीं हुआ है।

१. **उपमा**—'पउमचरिउ' में सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग प्रधान रूप से हुआ है। उसमें भी उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक आश्रय लिया गया है। उपमा के प्रति विशेष अनुराग को कवि ने एक स्थल पर प्रकट भी कर दिया है—

"बहु उपमहँ भरियए णं जगे सुकइकव्वे वित्थरिए।" ४७-१।

स्वयंभू ने उपमा की इतनी विविध, व्यापक एवं सर्वाङ्गीण योजना की है कि यदि हम उसे अपभ्रंश का कालिदास कहें, तो शायद कोई अत्युक्ति न होगी। कालिदास की ही भाँति स्वयंभू की उपमा भी प्रतिपाद्य की संवेदनीयता, मनोहारिता एवं उत्तमता से चार चाँद लगा देती है। उपमा के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—राजगृह वर्णन (१-४), मेघप्रसार (२८-१), ग्रीष्म की पराजय (२८-३), रावण का अन्तःपुर (७२-५), मधुपर्वत (७-१०), आकाश में रावण के विमान का रुक जाना (१३-१), रावण द्वारा जिन पूजा (१३-९), नदी का बहना (१४-१०), दिव्य वस्त्र (२६-१७), द्विजवर (२८-११) राम-लक्ष्मण का गान (३०-६), दधिमुख नगर (४७-१), रावण की दृष्टि में सीता (४९-१२), वियोगी रामचन्द्र (५०-१), लक्ष्मण को शक्ति लगना (६७-१), आदि के वर्णनों में कवि ने उपमा की ललित योजना की है। उदाहरण के लिए, आकाश में मेघ के प्रसरण का वर्णन द्रष्टव्य है:—

"पसरइ सुकइहे कव्वु जिह मेह-जालु गयणङ्गणे तावेहिं॥ ध्रवक॥
पसरइ मेह-विन्दु गयणङ्गणे पसरइ जेम सेण्णु समरङ्गणे॥ १॥
पसरइ जेम तिमिरु अण्णाणहो पसरइ जेम बुद्धि बहु-जाणहो॥ २॥
पसरइ जेम पाउ पाविट्ठहो पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहो॥ ३॥
पसरइ जेम जोण्ह मयवाहहो पसरइ जेम कित्ति जगणाहहो॥ ४॥

\+ \+ \+

पसरइ जेम दवग्गि वणन्तरे पसरइ मेह-जालु तिह अम्बरे॥ ७॥"

'सुकवि के काव्य की तरह मेघजाल गगनांगन में प्रसरित होता है। गगनांगन में मेघवृन्द प्रसरित होता है; जैसे, समरांगण में सेना, अज्ञानी में तिमिर, बहुज्ञानी में बुद्धि, पापी में पाप, धर्मिष्ठ में धर्म, अमृतवाह (चन्द्रमा) की ज्योत्स्ना, जगन्नाथ की कीर्ति, वनस्थली में दावाग्नि फैलती है, वैसे ही आकाश में मेघजाल फैलते हैं।'

यहाँ कवि ने मालोपमा की योजना करके मेघजाल के प्रसरण का सजीव एवं चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है।

२. **रूपक**—उपमा के बाद 'पउमचरिउ' में प्रयुक्त अलंकारों में रूपक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। रूपक की योजना में कवि ने विभिन्न तुलनात्मक वर्णनों द्वारा अलंकार योजना की

एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया, जिसका परवर्ती अपभ्रंश कवियों में पर्याप्त प्रचार हुआ। कवि के इन रूपकों, अथवा जिन्हें डॉ० हरिवंश कोछड़ (अपभ्रंश साहित्य पृ० ९२) ने 'ध्वनित रूपक' की संज्ञा दी है, की संख्या पर्याप्त है। ये वर्ण्य के विवेचन की तुलना में कवि की आलंकारिक मनोवृत्ति के व्यंजक अधिक हैं। इस प्रकार के उल्लेखनीय उदाहरण हैं—

राम-कथा-सरोवर रूपक (१-२), निशावधू रूपक (१४-१, २), नर्मदा-युवती रूपक (१४-३), सेना-समुद्र रूपक (२५-१६), राम-गज रूपक (२६-१३), रामपुरी-नारी रूपक (२८-५), दंडकारण्य-विलासिनी रूपक (३४-१०), सीता-काव्य रूपक (३८-३), युद्ध-वसंतक्रीड़ा रूपक (३८-११), सेना-मिथुन रूपक (४३-१४), रामधनुष-सुकलत्र रूपक (४३-१७), चन्दन-वृक्ष-सत्पुरुष रूपक (५१-८), रावण सेना-सुकलत्र रूपक (५१-१३), चन्द्रोदर-व्याकरण रूपक (५८-५), सेना-व्याकरण रूपक (६४-१), रणस्थल-नदी रूपक (६६-३), आदि। रूपक योजना में कवि की दृष्टि मुख्य रूप से शब्द-साम्य या ध्वनि-साम्य पर ही केन्द्रित है। इसके लिए कवि ने सर्वत्र यमक एवं श्लेष अलंकारों का आश्रय लिया है। रूपक के ये उदाहरण कवि की आलंकारिक प्रदर्शनमूलक प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

३. **उत्प्रेक्षा**—कवि ने अनेक स्थलों पर नवीन एवं विलक्षण कल्पनाओं के द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना की है। उदाहरण के लिए, सीता का घर से निकलना (२३-३), ग्रीष्म की पराजय (२८-३), चन्द्रनखा का स्वरूप (३७-३) आदि के वर्णन।

४. **श्लेष**—'पउमचरिउ' ही नहीं, अपभ्रंश के अनेक काव्यों में श्लेष एवं यमक की व्यापक योजना मिलती है। इसका एक कारण अपभ्रंश भाषा की ध्वन्यात्मक विशेषता है। स्वर मध्यग व्यंजनों के लोप के कारण अनेक शब्दों का एक ही अपभ्रंश शब्द हो गया। उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा युक्त वर्णनों को 'पउमचरिउ' में प्राय: श्लिष्ट शब्दावली में निबद्ध किया गया है। विशुद्ध श्लेष अलंकार के उदाहरण 'पउमचरिउ' में बहुत कम हैं। श्लेष के कुछ उदाहरण हैं—'पउमचरिउ'—१३-९, २४-१४, २५-११, २७-२, ४३-१७, ४४-३ आदि।

५. **यमक**—श्लेष की तरह स्वयंभू ने यमक की भी अनेक स्थलों पर सायास योजना की है। कुछ उदाहरण ये हैं—तीर्थङ्कर स्तुति-२५-८, पूर्वकथा वर्णन ४०-२, विभीषण का रावण को समझाना ५३-१, सम्पूर्ण ५७ वीं सन्धि, हनुमान का युद्ध ६४-८, वसन्त-वर्णन ७१-१, ४ और ५ इत्यादि। कई स्थलों पर कवि ने मात्र शब्द-साम्य या ध्वनि-साम्य के ही आधार पर यमक की योजना कर डाली है, जो कवि की आलंकारिक प्रदर्शनोन्मुखी प्रवृत्ति की सूचक है।

अन्य अलंकारों के घटित होने वाले स्थल इस प्रकार हैं—

६. **अनन्वय**—१-६, २६-१, २९-१, ४१-४ आदि।

७. **सन्देह**—१३-४, २७-६, ७४-९ आदि।

८. **भ्रान्तिमान**—६-७, ३९-१२ आदि।

९. **उल्लेख**—११-३, ४०-३ आदि।

१०. **अपह्नुति**—११-४, ५७-४, ६९-२१, ७६-३ आदि।

११. **अतिशयोक्ति**—२१-२ आदि।

१२ तुल्योगिता ३६ १ ५५ २ आदि।

१३. दीपक—५०-२ १३ आदि।

१४. प्रतिवस्तूपमा —२०-२, ५२-१२, ७०-२ आदि।

१५. दृष्टान्त—४-१, ६-३, १७-१, २८-१, ४३-१८, ५०-१, और २ आदि

१६. निदर्शना—३१-६, ४८-६ आदि।

१७. व्यतिरेक—१-६ आदि।

१८. अप्रस्तुत प्रशंसा—३८-२ आदि।

१९. अर्थान्तिरन्यास—६-३, २६-३, ३१-६ आदि।

२०. विरोधाभास—४०-१, ७१-११ आदि।

२१. विभावना—६८-८ आदि।

२२. विशेषोक्ति—१८-६, ७१-११ आदि।

२३. विषम—१-१३, २५-१०, ४५-६, ४६-१५ आदि।

२४. कारणमाला—२७-५, ५८-११ आदि।

२५. शृङ्खलायमक—२७-१ आदि।

२६. एकावली—६-६, २६-१२, ३२-१३ आदि।

२७. परिसंख्या—३२-१४, ३७-४, ३८-२ आदि।

२८. प्रतीप—६९-२ आदि।

२९. तद्गुण—३५-३ आदि।

'पउमचरिउ' में दो या अधिक अलंकारों की संश्लिष्ट योजना भी की उदाहरण के लिए—यमक और अपह्नुति ५७-४, तथा यमक और उपमा ५७ द्रष्टव्य हैं।

उपरिलिखित विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि 'पउमचरिउ' में प्रधान रूप मूलक अलंकारों का उपयोग हुआ है। साम्यमूलक अलंकारों में सर्वाधिक प्रश्रय प्रभ मूलक अलंकारों को मिला है। काव्य में आए हुये समस्त आलंकारिक योजनाओ मे के अलंकार ही सहज, स्वाभाविक एवं कवि के हार्दिक अनुराग के परिचायक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—रावण द्वारा हरण की हुई सीता की स्मृति में लक्ष्मण—

"सुमरइ णियणन्दणु माया इव सुमरइ सिहि पाउस छाया इव ॥ २ ॥
सुमरइ भिच्चु सु-साम-दया इव सुमरइ जणु पहु-पज्जाया इव ॥ ३ ॥
सुमरइ मत्त-हत्थि वणराइव सुमरइ करहु करीर लया इव ॥ ४ ॥
सुमरइ णिद्धणु धण-सम्पत्ति व सुमरइ मुणिवरु गइ पवरा इव ॥ ५ ॥
सुमरइ भविउ जिणेसर-भत्ति व सुमरइ सुरवरु जम्मुप्पत्ति व ॥ ६ ॥
सुमरइ ससि-संप्पुण्ण-पहा इव सुमरइ वइयाकरणु विहत्ति व ॥ ७ ॥
तिह पइँ सुमरइ देवि जणद्दणु सुमरइ वुहयणु सुकइ कहा इव ॥ ८ ॥

'जिस प्रकार बच्चा माँ को, मयूर पावस छाया को, सेवक प्रभु (स्वामी) को नौकर अच्छे स्वामी की दया को करभ करीर लता को मत्त हाथी वनराजि क

उत्तम गति को, निर्धन धन-सम्पत्ति को, सुरेन्द्र जिन जन्म को, भव्यजीव जिन भक्ति को, वैयाकरण विभक्ति को, शशि सम्पूर्ण प्रभा को, बुधजन सुकवि-कथा को याद करते हैं, वैसे ही जनार्दन (लक्ष्मण) आपकी (सीता की) याद करते हैं।"

प्रस्तुत चित्रण में कवि ने लक्ष्मण के सीता वियोगजन्य दु:ख का सांगोपांग, प्रभावशाली एवं संवेदनशील रूप उपस्थित किया है। वस्तुत: यहाँ अलंकार योजना रस के उत्कर्ष मे पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई है। साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग प्राय: सर्वत्र इसी प्रकार हुआ है।

स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में विविध क्षेत्रों से अप्रस्तुतों को ग्रहण कर आलंकारिक योजना को स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक बनाने में अपनी महनीय काव्य-कला का परिचय दिया है। कवि ने मुख्य रूप से लोक-जीवन, धर्म, दर्शन आदि विविध शास्त्र, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, भूगोल आदि ज्ञान-विज्ञान एवं स्वानुभूत तथ्य तथा कल्पना के आधार पर अप्रस्तुतों की योजना की है। पूरे काव्य में परिव्याप्त अप्रस्तुत कवि की धार्मिक, दार्शनिक, काव्य-सम्बन्धी, सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक ज्ञान एवं मान्यता आदि का भी संकेत करते हैं।

'पउमचरिउ' में स्वयंभू ने भावों एवं वर्णनों के अनुकूल उसके उत्कर्ष में सहायक, स्वाभाविक एवं प्रभावशाली अलंकार योजना ही की है। ये आलंकारिक सन्निवेश कवि के ध्येय, रूप, क्रिया, भाव, विचार आदि के सजीव चित्रण में पूर्ण सहायक सिद्ध हुए हैं। कवि ने प्राय: स्वाभाविक एवं आयासरहित अलंकार योजना की ही है। किन्तु ऐसी योजना भी 'पउमचरिउ' में एक नहीं, अनेक हैं, जिसमें उसने प्रदर्शन या आलंकारिक प्रवृत्ति के परिचय के लिए अलंकारों का समावेश किया है। ऐसे चित्रण निस्सन्देह सायास एवं जानबूझकर आलंकारिक बनाये गये हैं। यहाँ कवि की भावयोजना शाब्दिक चमत्कार से दबकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देती है। यमक एवं श्लेष के अनेक उदाहरण इसी प्रकार हैं। किन्तु अन्य अलंकारों में यह प्रवृत्ति प्राय: नहीं अपनायी गयी है।

भाषा :

स्वयंभू का भाषिक दृष्टिकोण पूर्णतया देशी या अपभ्रंश भाषा में रचना करने के पक्ष में था। उन्होंने 'पउमचरिउ' के प्रारम्भ में ही घोषणा कर दी है[1]—'मैं सामान्य जन की भाषा को अपना कर आगम-युक्ति की रचना कर रहा हूँ। ग्राम्यभाषा-रहित मेरे ये वचन सुभाषित होवें।' 'पउमचरिउ' परिष्कृत, प्रौढ़ एवं सभी प्रकार के वर्णनों के लिए सक्षम अपभ्रंश भाषा में रचा गया है। उसमें मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बंगाली, पंजाबी, हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा उनकी बोलियों के कुछ शाब्दिक एवं व्याकरणिक तत्व मिलते हैं। वस्तुत: अपभ्रंश से ही विकसित एवं व्युत्पन्न होने के कारण ऐसा है। यह अपभ्रंश एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में ऐतिहासिक सम्बन्ध होने के कारण भी है। हाँ, 'पउमचरिउ' की भाषा में कुछ द्रविण तत्व अवश्य मिलते हैं। घी के अर्थ मे प्रयुक्त 'तुप्प' शब्द (१४।९ तथा ४५।१२), जिसे डॉ० भयाणी मराठी शब्द मानते हैं, मूलत: द्रविड़ है।

१. पउमचरिउ १–३।

विषय भाव एवं वर्णनों की प्रकृति के अनुसार कवि ने 'पउमचरिउ' में गुणों की भी योजना की है। युद्ध एवं वीर रस सम्बन्धी वर्णनों की बहुलता के कारण 'पउमचरिउ' मे ओज गुण का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। यह स्वाभाविक था। वीरों की गर्जना (४०-३, ५६-१०), युद्ध (४-१७,५९-६से१०,६१-४,६३-३), सैन्य प्रस्थान (४०-१६,७२-१५) और उससे उत्पन्न धूलि (७५-१) का वर्णन ओजपूर्ण शब्दावली में ही हुआ है। माधुर्य गुण की स्थिति वंदना, ऋषि के वर्णन, नीति-कथन, प्रेमालाप आदि कोमल एवं आह्लादक प्रसंगो मे द्रष्टव्य है। सामान्य वर्णन एवं कथा-कथन प्रायः प्रसादगुणमयी भाषा में ही घटित हुआ है। परिमाण की दृष्टि से इस प्रकार के वर्णन काव्य में सर्वाधिक हैं।

कवि की दृष्टि में (पउमचरिउ १४-१३) 'उत्तम काव्य में समास की निपुण योजना' आवश्यक थी। उसका यह दृष्किोण काव्य में व्याप्त विविध उत्कृष्ट, रसात्मक वर्णनों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। ये वर्णन विषय-निरूपण, पद-संघटना, अर्थ-गौरव, शब्द-सौष्ठव आदि की दृष्टि से बेजोड़ है। गंभीरा नदी (२३-१३), गोदावरी (३१-३), सैन्य-प्रस्थान (७२-१५), उपवन के वृक्ष (५१-२) आदि के वर्णन इसी प्रकार के हैं। ये वर्णन सजीवता, प्रवाहात्मकता एवं प्रभावात्मकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

कवि ने सर्वत्र विषय एवं भाव के अनुकूल भाषा-योजना की अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओं के अतिरिक्त उसने ध्वन्यात्मक, अनुरणनात्मक शब्दों की योजना कर वर्णन को सजीव एवं गत्यात्मक बनाने की सफल चेष्टा की है। चाहे वह गंभीरा नदी (२३-१३), गोदावरी नदी (३१-३), विविध वाद्यों (२४-२,५६-१), पर्वत (३२-३), नरक (४५-५), विमान (४६-१) हनूमान की प्रतिज्ञा (५१-१) आदि सामान्य विषयों की व्यंजना हो, अथवा सैन्य-प्रस्थान (४०-१६,५६-६), युद्ध (२७-५,२८-२,५९-१,६३-३), लक्ष्मण के धनु. अस्फालन से उत्पन्न भयानक परिस्थिति (२७-५) आदि के विशेष चित्रण हों; कवि सर्वत्र अनु-रणनात्मक, ध्वन्यात्मक, चित्रात्मक शब्दो के माध्यम से सजीवता, चित्रात्मकता, प्रभावशालिता, प्रवाहात्मकता आदि की सृष्टि करने में पूर्ण कृतकार्य हुआ है। नारकीय कष्टों का रोमांचक चित्रण, युद्धों के सजीव, लोमहर्षक एवं प्रत्यक्ष चित्रण द्वारा कवि ने विषय को सप्राण एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है।

शैली :

'पउमचरिउ' में वर्णनों एवं भावों की विविधता के कारण अनेक प्रकार की शैलियाँ अपनायी गयी हैं। प्रायः कवि कथनात्मक शैली में वर्ण्य-विषय, उसके सहायक आख्यानो एवं उपाख्यानों एवं अन्तराख्यानों का सामान्य वर्णन करता चलता है। काव्य का अधिकाश इसी शैली में निबद्ध है। किन्तु काव्य के विशेष स्थल, मार्मिक प्रसंग एवं वर्णन विशेष शैलियों में अभिव्यक्त हुए हैं। इसके मुख्य रूप से सरस, मधुर, ललित, क्लिष्ट एव उदात्त रूप मिलते हैं। कवि ने सर्वत्र शैली की योजना रस, पात्र, स्थिति एवं विषय के अनु-कूल की है। देश-नगर वर्णन, युद्ध-वर्णन, सैन्य-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, विरह, संयोग, शौर्य आदि से सम्बन्धित वर्णन विशिष्ट, मनोहारी, प्रभावात्मक एवं उपयुक्त शैली में ही सम्पन्न हुए हैं ये विशेष चित्रण ही वस्तुत शैली की विविधता के ही नहीं, कवि की

कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये काव्य के प्राण स्वरूप हैं। इन्हीं स्थलों में कवि की कला, मनोवृत्ति एवं काल्पनिक उड़ान का यथार्थ स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। कदाचित् कवि का सर्वप्रिय वर्ण्य-विषय युद्ध था। उसने युद्ध वर्णन की अनेक शैलियाँ अपनायी हैं। उदाहरण के लिए[1]:—

१. 'यान से यान, हय से हय, गज से गज, क्षत्र से क्षत्र, ध्वज से ध्वज, रथ से रथ, भट से भट, मुकुट से मुकुट, कर से कर, पैर से पैर, शिर से शिर, उर से उर' आदि के युद्ध वर्णन की शैली।

२. युगल युद्ध वर्णन की शैली।[२]

३. सामासिक ओज पूर्ण शैली—प्राय: सर्वत्र प्रयुक्त हुई है।

४. समासरहित, चुस्त, लघु एवं प्रवाहयुक्त शैली। उदाहरणार्थ (८२-०४)।

ये शैलियाँ कवि के वर्णनों को आकर्षक, गत्यात्मक एवं चित्रात्मक बनाने मे पूर्ण सक्षम सिद्ध हुई हैं।

वर्णन की स्पष्टता के लिए कवि ने यत्र-तत्र सूक्तियों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी उपयोग किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

"तिण सरिसो वि ण गणइ।" ४-५-८, १२-७-२, १४-१२-१ आदि;

"किं कायरणर विद्धंसणेण", "किं उरउ म जीवउ णिव्विसो वि।" ११-१२-३ ४।

छन्द योजना

अपभ्रंश के आख्यानक कवियों ने काव्य-रचना की एक नवीन शैली—कडवक शैली को जन्म दिया। इनके काव्य कुछ सन्धियों में विभक्त रहते हैं, इसीलिए इन्हे 'संधिबद्ध' काव्य भी कहा गया है। इनके लिए 'संधि' शब्द का ठीक वही अर्थ है जो 'सर्ग' एवं 'आश्वास' शब्दों का क्रमशः संस्कृत एवं प्राकृत के काव्यों के लिए। अर्थात् इन काव्यों की मुख्य विभाजक इकाई 'संधि' है। प्रत्येक संधि में कुछ कडवक होते हैं। 'पउमचरिउ' में कम से कम कडवक (१०) ४७, ५२ एवं ५६ वीं संधि में तथा सबसे अधिक (२५) ८४ वीं संधि में है। छन्द के प्रयोग की दृष्टि से कडवक के प्राय: तीन अवयव होते हैं—

अ—कडवक का प्रारम्भिक भाग—यह कभी-कभी किसी विशेष संधि में साद्यन्त कडवकों के आदि में प्रयुक्त होता है। अपभ्रंश काव्यों में इसकी अनिवार्य स्थिति नहीं मिलती।

ब—कडवक का मुख्य या मध्यभाग—इसमें प्राय: किसी विशेष 'छन्द' की चार युगल-पंक्तियाँ (या ८ पंक्तियाँ) होती हैं। वस्तुत: वर्ण्य-विषय का मुख्य रूप से निरूपण इसी अवयव में होता हैं। यही कडवक का सर्वप्रमुख एवं महत्वपूर्ण अंग है।

स—कडवक का अन्तिम या उपसंहारात्मक भाग—इसको 'छत्ता' कहते हैं। इस अवयव में प्रयुक्त छन्द अनिवार्य रूप से कडवक के मुख्य भाग में प्रयुक्त छन्दों से भिन्न होते हैं। इसका मुख्य प्रयोजन कदाचित् तुक-परिवर्तन करके श्रोता एवं गायक को विश्राम प्रदान करना था। यह कडवक की समाप्ति का सूचक होता है। प्राय: प्रत्येक संधि के प्रारम्भ में भी कडवको

१. पउमचरिउ—११-१२, ५३-७, ५६-९ आदि।

२ पउमचरिउ ४ ११ ५२ ४ ५३ ८ ६१ १० ६३ ४ ८२ १५ आदि।

के पूव ही एक छन्द की स्थिति मिलती है इसको ध्रुवा या ध्रुवक कहते हैं ध्रुवक भी प्राय. उसी छन्द में होता है, जिसमें उस सधि के मत्ता । ध्रुवक म किसी विशष सधि म किये जाने वाले वर्णन का सार या सूत्रात्मक संकेत रहता है 'पउमचरिउ' की प्रत्येक सन्धि के आदि में अनिवार्य रूप से ध्रुवक मिलता है। 'पउमचरिउ' में छन्दों की स्थिति इस प्रकार है—

कडवक के आदि भाग में प्रयुक्त छन्द—मंजरी (१६, ४५), हेला (१७, २५, ५६, ८३, ८५), सालभंजिका (४६), कामलेखा (६६), द्विपदी (१३, ४०, ५१, ७०, ७५), आरणाल (५३), जम्भेट्टिका (८१), अप्सरोविलसित (७७), गंधोदकधारा (३, ४६), पारणक (५०), वदनक (४८, ७०), निध्यायिका (५२), दोहा (५४), मात्रामंजरी (७४)।

इस प्रकार कुल २५ सन्धियों के कडवकों के प्रारम्भिक भाग में कुल १४ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। ये सभी मात्रिक छन्द हैं। प्रथम ६ समा द्विपदी, शेष मे से प्रथम ७ समा चतुष्पदी तथा अन्तिम मात्रा एवं मंजरी छन्दों के मिश्रण से बना हुआ द्विभङ्गी छन्द है।

इस विवेचन से सुविदित है कि सभी संधियों के कडवकों के आदिभाग में विशेष छन्दो की योजना नही की गयी है। ये छन्द उन्हीं संधियों में समाविष्ट किए गए हैं, जिनमें किसी भाव, विचार, कार्य-कलाप आदि के सौष्ठव, सारस्य, तीव्रता एवं मार्मिकता की सृष्टि ही कवि का उद्देश्य है। ऐसे छन्द सर्वाधिक युद्ध एवं तत्सम्बद्ध प्रसंगों में प्रयुक्त हुए है। इसके अतिरिक्त इनकी योजना वियोग, तपश्चर्या, धर्मोपदेश, पूर्व एवं पर जन्म, आदि के भावपूर्ण या विचारपूर्ण स्थलों में की गयी है। इन वर्णनों को कवि जान बूझकर अधिक महत्वपूर्ण बनाने के पक्ष में है। कुल २५ संधियों, जिनमें कडवकों के आदि भाग में छन्द आये हैं, उनमें से १६ संधियों में युद्ध-वर्णन, ४ संधियों में निरपराधिनी अंजना एवं सीता का गृह से निष्कासन एवं विलाप, २ संधियों में तपश्चर्या का वर्णन एवं सिद्धिप्राप्ति, १ में ऋषभ का चरित, १ में रावण का अंतिम संस्कार तथा १ में लवण-अंकुश का पूर्व-जन्म वर्णित हुआ है। इन छन्दों की योजना से वर्ण्य-विषय स्पष्ट, हृदयंगम, प्रेक्षणीय एवं प्रभावोत्पादक हो गया है।

कडवक का मुख्य भाग :

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, यही भाग काव्य में प्रधान तथा समस्त वर्णन का आधार होता है, अन्य भाग तो केवल सहायक या पोषकमात्र होते हैं। 'पउमचरिउ' के कडवकों के मुख्य भाग में प्रधानतया तीन छन्दों—पारणक, पद्धडिया एवं वदनक का उपयोग किया गया है। काव्य का अधिकांश इन्हीं छन्दों में निबद्ध है। काव्य के सभी सामान्य वर्णन, विवरण, उल्लेख आदि तथा अनेक विशेष वर्णन भी इन छन्दों में रचे गये हैं। अन्य छन्दों मे करिमकरभुजा आदि कुल ३६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।[1] इस प्रकार कडवक के मुख्य भाग में पारणक, पद्धडिया एवं वदनक को लेकर कुल ३९ प्रकार के छन्दों का उपयोग किया गया है। इन ३९ छन्दों में से २७ मात्रावृत्त तथा १२ अक्षरगण या वर्णवृत्त हैं।

१　जिल्द ३　डॉ० एच०सी० भयाणी, भूमिका पृ० २६ २७।

'पउमचरिउ' के कडवकों के मुख्य भाग में प्रयुक्त छन्दों की स्थिति का पर्यालोचन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

इनमें पारणक, पद्धडिया एवं वदनक का प्रयोग परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक हुआ है। इसका कारण यही है कि ये छन्द अपभ्रंश के सभी आख्यानक काव्यों में प्राधान्येन व्यवहृत हुए हैं। अतएव यहाँ भी उनकी प्रधानता स्वाभाविक ही है। अन्य छन्दों का समावेश 'पउमचरिउ' में किसी विशिष्ट प्रसंग या वर्णन को गति, लय चित्रात्मकता एवं उत्कृष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए है। कवि ने वर्णन को मार्मिक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए विविध विषयानुकूल छन्दों का आयोजन किया है। ये छन्द उन्हीं स्थलों में प्रयुक्त हुए है, जहाँ कवि का मन अधिक रमा है। इस प्रकार के प्रसंगों में युद्ध-वर्णन सम्बन्धी प्रसंग सर्वाधिक हैं। युद्ध सम्बन्धी वर्णनों में ही सबसे अधिक विविध छन्दों का उपयोग किया गया है। पारणक, वदनक एवं पद्धडिया जैसे सामान्य वर्णन वाले छन्दों से लेकर करिमकरभुजा वस्तुद्विपदी, रयडा, मत्तमातंग, अडिल्ला, विलासिनी, हेला (उत्प्रहासिनी), सार्द्ध पद्धटिका, सार्द्ध वदनक, मदनावतार आदि मात्रावृत्तों तथा उद्दाम, शंख और समुद्र के मिश्रण से बना त्रिभङ्गी, दंडक, प्रमाणी, सोमराजी, भुजंगप्रयात आदि अक्षरवृत्तों का विषयानुकूल प्रयोग हुआ है। करिमकरभुजा, वस्तुद्विपदी, मंथान, सार्द्धपद्धटिका एवं सार्द्धवदनक तथा सोमराजी आदि छोटे आकार वाले छंदों का प्रयोग, युद्ध एवं सैनिकों के कृत्यों के वर्णन में तथा कभी कभी सौन्दर्य आदि के कोमल चित्रणों में गत्यात्मकता, चित्रात्मकता प्रवाहात्मकता एव प्रभावशालिता की सृष्टि के लिए किया गया है। सैन्य-प्रस्थान एवं युद्ध के लिए उद्यत सैनिकों का चित्रण उत्प्रहासिनी, चन्द्रलेखा, तोटक, दोधक आदि विविध गत्यात्मक छन्दो मे हुआ है। रावण का सीता-वियोग जन्य दुःख सालभंजिका, वियोगी राम का वर्णन प्रमाणी, प्रभावशाली सौन्दर्याङ्कन भ्रमरपद, जिनस्तुति द्विपदी, मात्रासमक, प्रमाणी, सोमराजी आदि छन्दों मे वर्णित हुए हैं। किसी के शौर्य या कृत्यों, वन उपवन आदि के वृक्षों, हाथी की प्रभावशाली विशेषताओं, सैनिकों के सूचीबद्ध वर्णनों में कवि ने प्रायः मदनावतार या प्रमाणी छन्द का उपयोग किया है। इस प्रकार 'पउमचरिउ' के कडवकों के मुख्य भाग में विविध छन्दों का समावेश विषय एवं भाव के अनुकूल स्वाभाविक रूप से हुआ है। 'पउमचरिउ' के 'घत्तों' में कुल ३५ प्रकार के छन्दों का उपयोग किया गया है।[1] जिनमें सब के सब मात्रिक हैं। उनमें २० अन्तर्समा चतुष्पदी,[2] अर्द्धसमा चतुष्पदी, ३ सर्वसमा चतुष्पदी एवं ११ प्रकार के षट्पदी छन्दों का प्रयोग किया गया है। घत्ता में प्रयुक्त छन्द कडवक के मुख्य भाग मे प्रयुक्त छन्दों से अनिवार्यतः भिन्न हैं। 'पउमचरिउ' में प्रत्येक संधि के प्रारम्भ में 'ध्रुवक' की योजना की गयी है। उसमें उसी छन्द की योजना की गयी है, जिसकी संधि के प्रत्येक घत्ता में।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि 'पउमचरिउ' में कुल ८८ प्रकार के छन्दों का

---

१ जिल्द ३, भूमिका पृ० २४ २५ सम्पादक डॉ० एच० सी० भयाणी।

२ पउमचरिउ, सन्धि ४१ २ से ४ तथा ८१ १ तथा ४८ सम्पूर्ण सन्धि

प्रयोग किया गया है। इनमें ६ अक्षरवृत्त एवं ३ दंडकवृत्तों के अतिरिक्त सभी मात्रिक हैं। इस प्रकार कवि प्रधानतया मात्रावृत्त को प्रयुक्त करने के पक्ष में है। काव्य का, परिमाण की दृष्टि से, नगण्य अंश ही वर्णवृत्त में रचा गया है। परवर्ती अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि के कवियों ने स्वयंभू के इस मात्रावृत्तोन्मुखी प्रवृत्ति से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया। स्वयंभू ने मात्रावृत्तों की योजना में कई मौलिक प्रयोग भी किए। जैसे—

क—चतुष्पदी वृत्तों का द्विपदी की तरह प्रयोग।

ख—दो, तीन, चार या अधिक प्रकार के छन्दों का एक ही कडवक में प्रयोग।

ग—दो, तीन, चार या अधिक छन्दों को मिलाकर एक नवीन छन्द की सृष्टि।

कवि ने प्रत्येक छन्द में, चाहे वह मात्रावृत्त हो या वर्णवृत्त, अनिवार्य रूप से तुकान्त या अनुप्रासान्त की योजना की है। संस्कृत के अतुकान्त वर्णवृत्तों में तुकान्त की योजना उसकी मौलिकता एवं रूढ़िमुक्तता का उद्घोषक है। 'पउमचरिउ' में केवल 'चंडकाल' नामक दडक छन्द ही ऐसा है जो इसका अपवाद है। वह अतुकान्त है। किन्तु उसका प्रयोग सम्पूर्ण काव्य में मात्र तीन बार हुआ है।

'पउमचरिउ' के छन्दों की उल्लेखनीय विशेषता है—उनकी सांगीतिकता। छन्द चाहे मात्रिक हों या वर्णिक, उनमें एक विशेष प्रकार की लय, गति एवं तुक की योजना सर्वत्र विद्यमान है। उनमें लयात्मक गुणों की योजना, अन्तर्सांगीतिक अन्विति की योजना जानबूझ-कर की गयी है। वस्तुतः यह आयोजन लोकप्रचलित संगीत के प्रभाव के फलस्वरूप है। क्योंकि शास्त्रीय संगीत में तुक, टेक आदि का अभाव था। अपभ्रंश के छन्दों में तुक, लय के साथ ही यत्र-तत्र 'टेक' का भी विधान है। यह टेक कडवकों की समाप्ति पर दुहराया जाता रहा होगा। इसके अतिरिक्त 'पउमचरिउ' ही नहीं, अपभ्रंश के प्रत्येक आख्यानक-काव्य में आयोजित ध्रुवक' भी कडवकों के अन्त में दुहराया जाने वाला 'टेक' ही है। अपभ्रंश काव्यों की रचना का एक उद्देश्य संगीतात्मक भी था। 'पउमचरिउ' में इसके कई प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण भी मिलते हैं।

कडवकबद्ध विविध मौलिक विशेषताओं से युक्त शैली में काव्य-रचना की परम्परा हमें सर्वप्रथम 'पउमचरिउ' में ही मिलती है। स्वयंभू के पूर्व कडवकबद्ध रचना की स्थिति के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं, किन्तु अभी तक कोई भी ऐसी रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस दृष्टि से स्वयभू को हम कडवक शैली का प्रमुख प्रतिपादक आचार्य कह सकते हैं। परवर्ती कवियों पर उनकी काव्य-शिल्प सम्बन्धी अन्य विशेषताओं के साथ ही छन्द-सम्बन्धी प्रयोगों का स्पष्ट प्रभाव है।

'पउमचरिउ' के काव्य-शिल्प सम्बन्धी विविध आयामों के पर्यालोचन से हम स्वयंभू की काव्य-कला विषयक नैपुण्य का विशद चित्र प्रत्यक्ष पाते हैं। कवि पौराणिक विषय लेकर, साम्प्रदायिक मर्यादाओं को स्वीकृति देते हुए भी इतने उत्कृष्ट महाकाव्य की सृष्टि करने में सफल हो सका, यह उसके काव्य-कौशल का ही परिणाम है। कवि की कुछ अपनी भी मान्यताएँ एवं निष्कर्ष हैं किन्तु उनका संयोजन इस प्रकार हुआ है कि वे काव्य-सौष्ठव को कहीं भी क्षति नहीं पहुँचाते यस्तु के लिए काव्य वर्णन आदि विषयक रूढ़ियों

को अपनाकर कवि काव्य को सुगठित, क्रमयुक्त, विश्वसनीय एवं प्रभावशाली बनाने में सक्षम हो सका है। वर्ण्य-विषय के स्वरूप एवं तात्कालिक सामाजिक रुचि के कारण काव्य में वीर एवं शृंगार रसों का प्राचुर्य हो गया है। कवि की मनोवृत्ति भी इसके लिए जिम्मेदार है। इनके वर्णनों में कवि द्वारा किए गए विविध प्रयोग उसकी कला एवं उत्कृष्ट कल्पना तथा अभिरुचि के प्रमाण हैं। सभी रसों का पर्यवसान शान्त रस की व्यापक सागर-लहरी मे हुआ है। यह सभी जैन-काव्यों की विशेषता है। भाषा-शैली एवं छन्दों की योजना स्वयंभू ने पूर्ण सतर्कता एवं सहृदयता के साथ की है। विविध रूपों की उद्भावना विषय को सम्बद्ध बनाने के उद्देश्य से ही की गयी है। इनकी योजना सर्वत्र विषय एवं भाव के अनुकूल है। आलंकारिक योजना 'पउमचरिउ' में पदे-पदे मिलती है। किन्तु प्रायः सर्वत्र यह रसव्यंजना एवं विषय की स्पष्टता में सहायक है। कवि के अनेक आलंकारिक प्रदर्शनात्मक उदाहरण भी मिलते हैं जो उसकी अलंकारिक मनोवृत्ति के ही सूचक हैं। किन्तु काव्य के अधिकांश आलंकारिक वर्णन स्वाभाविक एवं विषय के व्यंजक हैं। कवि ने अलंकार-विधान में अप्रस्तुतों का चुनाव घिसी-पिटी परम्परात रूढ़ियों की अपेक्षा लोक-जीवन, अनुभव एवं कल्पना से अधिक किया है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन[1] ने स्वयंभू को 'भारत के एक दर्जन अमर कवियो मे श्रेष्ठ' कहा है। डॉ० हरिवल्लभ भयाणी[2] ने स्वयंभू को विचार-सौन्दर्य एवं छन्द-प्रयोग की कुशलता में सिद्धहस्त बताया है।

स्वयंभू एक महान् क्रान्तिकारी कवि थे। विषय-निरूपण, भाषा, शैली, अलंकार आदि की योजना उन्होंने नितान्त परम्परामुक्त एवं मौलिक प्रयोगों के समावेश द्वारा किया। उनके पूर्व ही इस परिपाटी मे काव्य-रचना का श्रीगणेश ही नहीं, आरम्भिक विकास भी हो चुका था। दंती, भद्र एवं चतुर्मुख आदि के उद्धरण इसके प्रमाण हैं। किन्तु उनकी कृतियों के अभाव मे स्वयंभू ही अपभ्रंश के आदि कवि घोषित किए गए। स्वयंभू ने काव्य के विभिन्न उपादानो के सम्बन्ध में रूढ़िमुक्त एवं लोकोन्मुखी प्रयोग किये। अपभ्रंश के सभी परवर्ती कवियो ने स्वयंभू द्वारा प्रचारित इस परम्परा को आत्मसात् कर काव्य-प्रणयन किया। साथ ही उन्होंने आदि कवि (स्वयंभू) का सादर स्मरण भी किया। अपभ्रंश का समस्त उत्तर स्वयंभूकालीन साहित्य स्वयंभू की कृतियों से व्यापक रूप से प्रभावित है।

● ●

---

१. हिन्दी काव्यधारा—अवतरणिका—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४५ ई०।

2. "Whether you talk of the beauty of ideas or of expressions, whether you weigh knowledge of rhetorics, proficiency in Apabhramsa grammer or skill in handling varied metres, Svayambhu is recognised as an all round master."

—Dr. H. C. Bhayani, Introduction to Paumcariu, Vol. I Page 29.

नायक-निर्णय की नवीन दृष्टि

•

प्रेममोहिनी सिनहा

वर्तमान युग के मानवतावाद से प्रभावित होकर आज के महाकाव्यकारों ने युग-युग से उपेक्षित चरित्रों को अपने महाकाव्य में गौरवान्वित करने का प्रयास किया है। बंगला साहित्य सर्वप्रथम पाश्चात्य मानवतावाद से प्रभावित हुआ और धीरे-धीरे यह प्रभाव हिंदी साहित्य मे दिखायी देने लगा। माइकेल मधुसूदन ने बंगला में 'मेघनाद वध' की रचना कर महाकाव्य सबंधी प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह के भाव जाग्रत कर दिये और क्रमशः नायक आदि के सिद्धान्तों में परिवर्तन होने लगा।

'मेघनाद' और 'रावण' को नायक बना कर माइकेल ने उपेक्षित चरित्र के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। 'मेघनाद वध' पर पाश्चात्य महाकवि होमर, बर्जिल, मिल्टन आदि का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी के महाकाव्यों में इसी प्रकार के चरित्रों को महत्व दिया गया और हरदयालु सिंह ने 'दैत्यवंश', आनन्दकुमार ने 'अंगराज', दिनकर ने 'रश्मिरथी', डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'एकलव्य' की रचना की।

महाकाव्य युग का प्रतिनिधि काव्य होता है, जिसमें तत्कालीन समस्याओं और युग की प्रवृत्तियों का समावेश रहता है। आधुनिक महाकाव्यों में प्राचीन आदर्श का अक्षरशः पालन संभव नहीं हुआ। युग की नवीन भावनाओं और समस्याओं के अनुसार आज उनमें परिष्कार और संशोधन हो रहा है और साथ ही नये आदर्शों को मान्यता दी गयी है। जीवन में परिवर्तन के साथ महाकाव्यों के उद्देश्यों में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। आज के अधिकांश महाकाव्यो की कथावस्तु प्राचीन ही है, जैसे 'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी'। प्राचीन कथानक मे भाव की अधिक स्वतंत्रता रहती है, यह अवश्य है कि प्राचीन होने पर भी महाकाव्यकार उसे नवयुग की प्रगतिशील भावनाओं के अनुसार रूप देने को प्रयत्नशील रहता है और अपनी बुद्धि-कौशल के द्वारा सफलता भी प्राप्त करता है।

परम्परागत प्राचीन आदर्श के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई उच्च कुल में उत्पन्न महान पुरुष होना चाहिए। किन्तु आज यह नियम अनिवार्य नहीं है। उदात्त गुणों से विभूषित कोई भी पुरुष महान है, यही दृष्टिकोण मान्य है। इस प्रकार नायक की परिभाषा में अंतर आ गया है, उसके कर्म का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है उसकी महानता

का अर्थ लोकव्यापक हो गया है। युगानुसार जनकल्याण के सभी कार्य उदात्त होते हैं, उस क्षेत्र मे उतरने वाले साधक भी महापुरुष ही होते हैं। विजय, त्याग, उत्सर्ग आदि भी उदात्त गुण है, राज्य-क्रान्ति में भाग लेने वाला सिपाही भी श्रद्धा का पात्र है, शान्ति का सन्देश देने वाला सहिष्णु भी महान है, मानवीय दुर्बलताओं के ऊपर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी महान है, संघर्षों के बीच दृढ़ रह कर अपनी निर्धारित दिशा को न बदलने वाला सन्नद्ध पुरुष भी महामानव कहलाने का अधिकारी है। मानवता का उपासक युग ऐसे ही महापुरुषों के चरित्रो को सम्मान तथा आदर देता है। लोकविश्रुत महापुरुषों के चरित्रों के प्रति पूर्वसंचित श्रद्धा और सद्भावनाओं को प्रभावित करने में काव्यकार अधिक सफल होता है। अतः यह परम्परा प्रवाहित रही और लोकप्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया जाता रहा है परन्तु उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है। आज उपेक्षितों, दलितों को नायक मान कर महाकाव्यों की रचना होने लगी है। 'हिरण्यकश्यपु', 'रावण' जैसे असुर नायक के पद पर आसीन किये गये हैं। दिनकर के 'रश्मिरथी' में सूतपुत्र कर्ण को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने निपाद-पुत्र एकलव्य को महाकाव्य का प्रधान पुरुष पात्र मान कर उसके शील-गुण का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण किया है। अतिमानव या अलौकिक चरित्र पुरुष ही महाकाव्य का नायक नहीं है बल्कि महान लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाला कोई भी व्यक्ति महार्घ है। यह वैज्ञानिक युग अलौकिक तत्वों को महत्व नहीं देता और परिणामस्वरूप आज के महाकाव्य हमारे जीवन के अधिक समीप हैं।

समाज की धर्मगत, जातिगत मान्यता के अन्तर के साथ-साथ नायक का परिवेश व्यापक, विस्तृत हो जायेगा। यही कारण है कि आधुनिक महाकाव्य के सम्बन्ध में मानवीय गुणों की व्यापकता और प्रखरता एकमात्र कसौटी रह गयी। यहाँ तक कि प्राचीन इतिवृत्तों के आधार पर लिखे गये महाकाव्य में नायक संबंधी मान्यताओं का परिशीलन, परिष्करण और संशोधन हुआ।

प्राचीन कवियों ने कृष्ण को दिव्य विभूतियों की प्रतिष्ठा द्वारा नायक माना, किन्तु हरिऔध जी ने कृष्ण की अलौकिकता को बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया है। तृणासुर के प्रसग में यह भावना निहित की है कि पूर्वजन्म के पुण्य संस्कारों से बालक बच गया—

> 'निकट ही निज सुंदर सद्म के
> किकलते हँसते हरि भी मिले
> अति पुरातन पुण्य ब्रजेश का
> उदय था इस काल में हुआ
> पतित हो खर वायु प्रकोप में
> कुसुम कोमल बालक जो बचा।'[1]

पूतना ने बालकृष्ण को विषपान कराया और पूर्व संचित सत्कर्मों के प्रभाव से विष अमृत हो गया, ऐसी भावना हरिऔध ने प्रकट की है—

---

१ सर्ग द्वितीय

परम पातक की प्रतिमूर्ति सी
अति अपावनतामय पूतना
पय अपेय पिला कर श्याम को
कर चुकी व्रजभूमि विनाश थी
पर किसी चिर संचित पुण्य से
गरल अमृत अर्भक को हुआ।[१]

गोवर्द्धन धारण की घटना का भी हरिऔध जी ने मौलिक अभिप्राय निकाला है। कृष्ण प्रत्येक व्रजवासी को वहीं बुला लेते हैं, बसा लेते हैं तथा सबको अपने वश में कर लेते हैं। 'उंगली पर गोवर्द्धन उठा लिया' का अर्थ है—सबको अपने वश में कर लिया। 'उंगली पर नचा लिया' बुद्धिवाद का आश्रय लेकर हरिऔध जी ने कृष्ण के जीवन का वर्णन कर्मवीर सिद्ध करने के हेतु लिखा है—

'लख अपार प्रसार गिरिन्द में
व्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उंगली पर श्याम ने।[२]

इस प्रकार आधुनिक दृष्टि से नायक के सिद्धान्तों में परिवर्तन हुआ। मानव-कर्म की दृष्टि से नवीनता लाई गई। महाकाव्यकार ने नायक के शील, त्याग, प्रेम आदि महत् गुणों का प्रदर्शन किया, जिसमें जाति-भेद नहीं, कर्म-कौशल प्रमुख है। साकेत में गुप्त जी कहते हैं—

'राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?[३]

राम को मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में चित्रित किया है उन्होंने। यह अवश्य है कि उनके ईश्वरीय रूप को भुलाया नहीं है।

आधुनिक युग के अनुसार प्रत्येक महाकाव्य में शृंगार आदि रस के स्थान पर मनोविज्ञान होना चाहिए, क्योंकि जब देवताओं की चमत्कारपूर्ण कथा थी तो रसात्मक होना ठीक था। आज ऐसा चरित्र ही नहीं है। जीवनगत संघर्ष, मनोविज्ञान, आदर्श और यथार्थ के सापेक्ष महत्व में उसका निरूपण होना चाहिए। कथा की अपेक्षा मानसिक विचारों का आरोहावरोह प्रस्तुत करना चाहिए। पूर्व विचारों के अनुसार इन चरित्रों के प्रकट करने में रस और छंद जुड़े रहते थे।

आधुनिक महाकाव्यकारों ने नायक के संबंध में 'उच्चकुलोद्भवा' का सिद्धान्त तो पूर्णतया समाप्त कर दिया। जननायक बापू, एकलव्य, कर्ण आदि इसके ज्वलंत दृष्टांत हैं।

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग द्वितीय।
२. प्रियप्रवास, सर्ग द्वादश।
३. साकेत, मुखपृष्ठ।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्य म नायको के प्रकार

कवियो न तत्कालीन समस्याओं के समाधान के लिए राजनीतिक, दार्शनिक धार्मिक, सामाजिक दृष्टिकोणों को अपनाया। महाकाव्यकार ने उदात्त चरित्रों को अपने काव्य का नायक बनाया और अनेक रूप में उन्हें प्रस्तुत किया। हम नायक को अनेक कोटियों में विभाजित कर सकते हैं, क्योंकि आधुनिक महाकाव्यों में नायकों के निर्माण कई तरह से हुए है। राष्ट्र के लिए, धर्म के लिए, समाज के लिए, अपने जीवन का उत्सर्ग करने वाले नायको का विवेचन किया जा सकता है।

सांस्कृतिक नायक :

प्रसाद जी ने 'कामायनी' मे वेदों तथा उपनिषदों आदि के बिखरे हुए कथासूत्र को शृंखलाबद्ध करने का प्रयास किया है। पुरातन कथा का आश्रय लेकर उन्होंने युगानुरूप नये सन्देशों की स्थापना की है। मनोविज्ञान तथा दर्शन में काव्य का एकत्र समीकरण हुआ है। इस भौतिकवादी युग को आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करने के लिए प्रसाद जी ने इसकी रचना की है। भौतिक वस्तुओं के संग्रह में लिप्त मानव आनंद की खोज में उन्मत्त है, वह वास्तविक सुख और शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक वह आत्मानंद को नहीं जान लेता, चिर सुख को अवगत नहीं कर सकता। इसी दृष्टिकोण को लेकर प्रसाद जी ने सांस्कृतिक नायक का सृजन किया है। इस प्रतीकात्मक महाकाव्य के प्रमुख पात्र मनोवृत्तियों के मानवीकरण हैं।

कामायनी का नायक मनु को माना गया है। कहाँ तक वह सफल नायक है, इस पर विचार किया जायगा, किन्तु यहाँ पर हमें नायक की कोटियों की विवेचना करनी है। मनु, जो मन का प्रतीक है, वैदिक वाङ्मय में विख्यात वैवस्वत मनु है। मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के युग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गई है। इसलिए वैवस्वत मनु को को भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।[1]

शतपथ ब्राह्मण में भी मनु का संकेत आया है। श्रद्धा और मनु से ही मानवीय सृष्टि का सूत्रपात हुआ है। प्रातःकाल प्रक्षालनादि के निमित्त जल लेते हुए मनु के हाथ में एक मछली आ गई, उसे मनु ने पकड़ लिया और उसके सहारे अपनी नौका की रक्षा की, जिसका प्रसंग इस प्रकार आया है—

> 'मनवे वैह प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदंपाणिभ्याभवने
> जनायाहस्त्येवं तस्यावने निजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ॥'[2]

कामायनी के मनु में परम्परागत धीरोदात्त नायक के आदर्शों की रक्षा नहीं हुई है, यद्यपि कामायनीकार का दृष्टिकोण जीवन के वास्तविक रूप को प्रस्तुत करने की ओर अधिक था और यह सत्य है कि केवल उदात्त आदर्शों को लेकर चलने से जीवन की स्वाभाविकता और सत्य पीछे रह जाता है। जिस प्रकार 'साकेत' में उर्मिला और लक्ष्मण का प्रेम आरम्भ

---

१. कामायनी-आमुख।

२. शतपथ ब्राह्मण, प्रथम कांड, अष्टम अध्याय।

में भोगजन्य होते हुए भी योगजन्य होकर चरम सीमा पर पहुँचता है इसी प्रकार श्रद्धा के प्रति मन का प्रेम आरम्भ में वासनाजन्य है, पर इसकी परिणति योग में हुई। बड़े बड़े मनीषियों गौतम, तुलसीदास आदि के जीवन में भी भोग योग का आदि अंत दृष्टिगत होता है। अंत में मनु अखंड आनंद को प्राप्त कर लेते हैं।

कामायनी में नायकत्व का अधिष्ठान :

कामायनी महाकाव्य के कर्म सर्ग तक मनु के चरित्र का विकास होता है, किन्तु उसके पश्चात् उसमें जो मोड़ उपस्थित होता है, उसका प्रमुख कारण है प्रसाद जी का शैव मत। शैव-सिद्धान्त की स्थापना के लिए शक्ति को महत्व दिया है और शक्ति के रूप में श्रद्धा का निर्माण हुआ है। शक्ति के बिना शिव शव है। इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य की प्रतीकात्मकता के कारण मनु में चंचलता, उग्रता और भय आदि मनोवेगों का सन्निवेश किया गया है। मन का प्रतीक मनु चंचल हो जाता है।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार नायक कभी जीवन में पराजित नहीं होता। मनु इंद्रियों से भी पराजित होते हैं और श्रद्धा उनको पग-पग पर प्रोत्साहन देती है, उनकी रक्षा करती है। श्रद्धा के हृदय की समष्टि-कल्याण की भावना काव्य में निरन्तर मिलती है। मानव का कल्याण ही इसका ध्येय है। वह मनु को भी समझाती है—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।[१]

कितनी उच्च भावना इन पंक्तियों में निहित है। वासना के वशीभूत होकर मनु सारस्वत प्रदेश की राजकुमारी इड़ा के साथ जो व्यवहार करते हैं, वह हमारे हृदय में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और मनु को सफल भारतीय नायक कहने में संकुचित होते हैं। मनु एकाकी ही सबका सामना करने को अग्रसर होते हैं। यह वीरता का परिचायक अवश्य है किन्तु इसका परिणाम यह होता है कि मनु का प्राण ही अवशेष रहता है—

शून्य राजचिह्नों से मंदिर
बस समाधि-सा रहा खड़ा
क्योंकि वही घायल शरीर वह
मनु का तो था रहा पड़ा।[२]

पराजित मनु की यह दशा देख कर हृदय क्षोभ से भर जाता है। इधर श्रद्धा स्वप्न देखती है कि मनु घायल हो गया है। ढूँढ़ती हुई वहाँ आ पहुँचती है। थके हुए निराश पथिक को वह अवलंब देती है। इस समय श्रद्धा के लिए स्वयं ही पुनीत भावना जाग्रत हो जाती है

१. कामायनी, कर्म सर्ग।
२. कामायनी, निर्वेद सर्ग।

और यह कहना न्यायसंगत होगा कि श्रद्धा में नायकत्व के सभी लक्षण परिलक्षित होते हैं, जो उसे धीरोदात्त नायक की कोटि में पहुँचा देते हैं। इसके बिलकुल विपरीत मनु का चरित्र है। सारस्वत प्रदेश की प्रजा के द्वारा घायल होकर वे पड़े हैं और श्रद्धा के आने पर क्षोभ, ग्लानि और आतंक प्रकट करते हैं, जो पुरुषार्थी व्यक्ति के लिए अशोभनीय है।

श्रद्धा के द्वारा प्रसाद जी ने काव्य में मानवता के कल्याण की कामना को पग-पग पर प्रदर्शित किया है। नायक स्वयं उसकी महानता को स्वीकार करता है और लज्जित होकर कहता है—

कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ
× ×
सब पर हाँ अपने पर भी मैं
झुँझलाता हूँ खीझ रहा।[1]

श्रद्धा निरन्तर यही भावना प्रकट करती है कि किस प्रकार मानव का कल्याण हो और वह मनु को भी प्रोत्साहन देती है। मानव के प्रति शुभकामना प्रकट करती है—

तब देखूँ कैसी चली रीति, मानव तेरी हो सुयश गीति[2]।

मनु के द्वारा श्रद्धा के दिव्य स्वरूप का चित्रांकन कराया गया है। मनु कहते हैं—

तुम देवि ! आह कितनी उदार
वह मातृमूर्ति है निर्विकार
हे सर्व मंगले ! तुम महती
सब का दुख अपने पर सहती
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय में हो रहती।[3]

कहने का तात्पर्य यह कि प्रसाद जी ने श्रद्धा के चरित्र का वर्णन शक्ति के रूप में किया है, जो अपने महत् गुणों के द्वारा पथभ्रष्ट नायक को मार्ग बताती है और अखंड आनन्द का बोध कराकर समरसता का ज्ञान कराती है। नायकत्व का गुण जिस प्रकार श्रद्धा के चरित्र में दिखाया गया है, उस प्रकार मनु के चरित्र में नहीं है। श्रद्धा के समकक्ष हम मनु को अधिक महत्वपूर्ण पात्र नहीं कह सकते। यह अवश्य है कि अन्त में मनु चिन्मय आनंद की प्राप्ति कर लेते हैं किन्तु वह भी श्रद्धा के ही प्रयत्न से। सांस्कृतिक नायक की कोटि में कामायनी के नायक को रखा जा सकता है, जिसमें प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति का स्पष्ट स्वरूप प्रकट करने का सफल प्रयास किया है।

---

१. कामायनी, निर्वेद सर्ग।
२. वही, दर्शन सर्ग।
३. वही, दर्शन सर्ग।

पौराणिक नायक

हरिऔध जी का 'प्रियप्रवास' श्रीमद्भागवत् पुराण के दशम स्कंध की कथा पर आधारित है। इसके सम्बन्ध में हरिऔध जी ने स्वतः लिखा है—

'हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम अवतार मानते हैं उनक चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है, तब हम उसकी प्रति पंक्ति में या न्यून से न्यून उसके प्रति पृष्ठ में ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते हैं जिनमें ब्रह्मत्व का निरूपण हो. मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में श्रीमद्भागवतगीता का यह श्लोक मानता हूँ :—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजो संभवम्।[1]

अतएव जो महापुरुष हैं, उनका अवतार होना निश्चित है।'

परम्परा से कृष्ण और राम के लिए हिन्दू-जाति के हृदय में एक विशिष्ट प्रकार की भावना है, उन्हें हम ब्रह्म और भगवान् के ही रूप में स्वीकार करते चले आ रहे हैं। हरिऔध जी ने उस पर ठेस नहीं पहुँचायी, किन्तु समयानुसार परिवर्तन आवश्यक भी था। वैसे पौराणिक कृष्ण की अलौकिकता के संबंध मे हमारी भावना दृढ़ हो चुकी है, क्योंकि कृष्ण ने जन्म से ही अलौकिक कार्य करने प्रारम्भ कर दिए थे, अतः उनको बार-बार ब्रह्म कहने की भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास की भूमिका मे लिखा है :—

'मैंने भगवान श्रीकृष्ण का जो चरित अंकित किया है, उस का अनुधावन करके आप स्वयं विचार करें वे क्या थे। मैंने यदि लिख कर आपको बतलाया कि वे ब्रह्म थे तो क्या बात रही।'

हरिऔध जी ने पौराणिक नायक कृष्ण के चरित्र का ही वर्णन अपने महाकाव्य में किया है, किन्तु पारब्रह्म कृष्ण के अलौकिक चमत्कारपूर्ण कृत्यों को बुद्धिग्राह्य बना कर चित्रित किया है। प्रियप्रवास में कृष्ण को समाज सेवी, लोकरंजनकारी नायक के रूप में अंकित किया गया है। हरिऔध जी के कृष्ण राधा और गोपियों के रसिक राजा ही नहीं हैं, बल्कि लोककल्याण और जनहित के लिए सर्व सुखों का त्याग करने वाले योगिराज हैं। इन पंक्तियो से कृष्ण के जन-कल्याणकारी रूप का दर्शन होता है—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की
विचार के प्राणि समूह के कष्ट को
हुए समुत्तेजित वीर केशरी॥[2]

× ×

सदा करूँगा अपमृत्यु सामना
सभीत हूँगा न सुरेन्द्र वज्र से

---

१. श्रीमद्भागवत्गीता, अध्याय १०।

२ प्रियप्रवास एकादश सर्ग

कभी करुणा अवहेलना न भ
प्रधान धर्मांग परोपक.र को ।[1]

इस प्रकार हरिऔध जी ने अपने नायक के चरित्रांकन द्वारा जगत हित, समाज हित, आत्मत्याग आदि लोकसंग्रही भावनाओं को प्रकट किया है। कृष्ण ने अपने रासविलास और गोपियों के सहवास सुख का लोकहित के लिए एक पल में त्याग किया था, यह हरिऔध जी की मौलिक उद्भावना नहीं है। कृष्ण ने असुर संहार के द्वारा मानव-कल्याण के लिए और धर्म की स्थापना के लिए अवतार ही लिया था। यह अवश्य है कि हरिऔध जी ने समय के अनुसार इसमें नवीन विचारों का पुट देकर और निखार दिया है। राधा के बिहारी और गोपियों के रसिक राज कृष्ण कर्मनिष्ठ, महापुरुष और कर्तव्यपालक हैं। अपने देश और प्राणी मात्र के सुख के लिए प्रिय वस्तु का भी त्याग कर देते हैं। कृष्ण को यहाँ लोकनायक के रूप में चित्रित किया है।

प्राचीन नायक, जिसकी हम ईश्वर रूप में उपासना कर चुके है, सहज ही हृदय में आदर और सम्मान की भावना उत्पन्न कर देते हैं। परम्परागत कृष्ण के जिस ब्रह्म रूप को हम सम्मान देते आये हैं, वह आज भी हमारे हृदय में अक्षुण्ण है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कृष्ण के कर्मों का स्मरण करते ही अथवा नाम लेते ही हम पुनीत भावना से नतमस्तक हो जाते हैं। इसी कारण लोकविश्रुत महापुरुष अथवा अवतारी पुरुष को महाकाव्य के नायक-पद के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है। पौराणिक नायक कृष्ण सदैव हमारी आराधना के पात्र है। चाहे हमें सर्वत्र उनके ब्रह्म रूप का दर्शन न मिले, किन्तु वह महामानव अवतारी पुरुष की ही कोटि में रखे जाते हैं। युग के अनुसार हम उनको नया बाना पहिनाने का प्रयास करते हैं और प्राचीन के साथ नवीन का सामंजस्य स्थापित करते हैं।

परम्परागत पारब्रह्म कृष्ण का वर्णन अनेक ग्रन्थों में किया गया है, पर सम्पूर्ण चरित्र को प्रकाश में लाने वाली रचना हिन्दी तथा संस्कृत में नहीं है। महाभारत और श्रीमद्भागवत में भी सर्वाङ्गीण चरित्र उपलब्ध नहीं है। पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने श्रीकृष्ण के जीवन की जन्म से स्वर्गारोहण तक की सम्पूर्ण कथा को शृङ्खलाबद्ध करके 'कृष्णायन' महाकाव्य में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'कृष्णायन' में कृष्ण के समाज-सुधारक और धर्म-संस्थापक रूप का चित्रण है। यद्यपि इसमें उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है, कहीं सूर के कृष्ण का आधार है, कहीं श्रीमद्भागवत और कहीं महाभारत का।

'मिश्र' जी ने गोपीजनवल्लभ, भक्तवत्सल और असुरसंहारक कृष्ण की आज के युग की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने वाले राष्ट्रनायक के रूप में कल्पना की है। 'कृष्णायन' के कृष्ण लोकाराधन के लिए जीवन धारण करते हैं और नंद यशोदा के वरदान की सफलता के लिये ब्रज जाते हैं, खेल-खेल में दुष्टों का दलन करते हैं, चीरहरण के द्वारा गोपियों को नैतिक शिक्षा देते है। आर्य राज्य के संस्थापन के लिए मथुरा को प्रस्थान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके प्रत्येक कार्य में लोकहित की भावना निहित है। कृष्ण, रुक्मिणी,

---

१. प्रियप्रवास, एकादश सर्ग।

सत्यभामा, कालिन्दी आदि का वरण इनकी मनोकामना की पूर्ति के लिए करते हैं, भोगलिप्सा के लिए नहीं। इसी प्रकार प्राग्जोतिपपुर के स्वामी का वध करके उसके बन्दीगृह से उन पतित कुमारियों का उद्धार करते हैं जो अपवित्र होते हुए भी पवित्र थीं। फिर उन त्यक्ताओं का ग्रहण कर निर्भीकता का जो उदाहरण सामने रखा वह उनकी भोगलिप्सा नहीं, वरन् एक नवीन समाज सिद्धान्त की स्थापना का यत्न दिखायी देता है, जिसकी आज आवश्यकता है।

इस प्रकार महाकाव्यकार कृष्ण के परम्परागत पौराणिक नायक के वास्तविक रूप में परिवर्तन करके उन्हें लोकप्रिय और बुद्धिग्राह्य बना देता है। कृष्ण अनेक महाकाव्यों के नायक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किए गए हैं।

ऐतिहासिक नायक :

अनूप शर्मा द्वारा रचित 'सिद्धार्थ' महाकाव्य इतिहास प्रसिद्ध कथानक के आधार पर रचा गया है। धीरोदात्त गुणों से युक्त सौम्य वीर, प्रेमी, सहृदय एवं दृढ़ संकल्प वाला क्षत्रिय राजकुमार सिद्धार्थ इसका नायक है। राजकुमार की विरक्ति, साधना और सिद्धि से सम्बन्धित घटनाओं का इसमें चित्रण है। उनकी त्यागभावना के कारण ही विश्व का कल्याण हो सका, उन्होंने इन्द्रियजन्य सुखों को महत्व नहीं दिया। सिद्धार्थ के चरित्र का विकास तो स्वाभाविक ढग से हुआ है पर पत्नी यशोधरा का नवदंपति प्रेम एक विलासिनी नायिका के सदृश चित्रित किया गया है---बसंतोत्सव पर कामातुर साधारण युवती के सदृश्य :

'छविमयी अतिधन्य यशोधरा
विशिख से जिसने स्वकटाक्ष के,
श्रवण ली भ्रुव का धनु तान के
क्षत किया मृगराज कुमार को।'[1]

जब कि गुप्त जी ने 'यशोधरा' काव्य में उसे महान् आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है, जिसके त्याग और विरक्तिपूर्ण भाव के समकक्ष हृदय में सहानुभूति के साथ श्रद्धा भी उत्पन्न होती है। राजकुमार सिद्धार्थ की विरक्ति का वर्णन स्वाभाविक रूप से किया गया है। वे कहते हैं—

अहो प्राणी कैसे अवनितल पै क्लेश सहते
दुखी हो रोगी हो मृत बन पुनः जन्म धरते
सदा भोगों में वे रत रह अघी हाय बनते
यही क्या भोगों का अथ इति यही क्या जगत् की ?[2]

सिद्धार्थ की त्याग भावना के द्वारा भारत में ही नहीं, विदेशों में भी इनके सिद्धान्तों को आदर प्राप्त हुआ और इनके मत का प्रचार हुआ। सत्य और अहिंसा की प्रतिमूर्ति ने मानवता को इसी भावना से ओत-प्रोत कर उसे समानता का पाठ पढ़ाया। इतिहास प्रसिद्ध नायक

१. सिद्धार्थ, पृ० ६९।
२ सिद्धार्थ सर्ग १२

के चरित्र का विकास उचित रूप से 'सिद्धार्थ' महाकाव्य में नहीं हो सका है। यद्यपि अपने पूर्व परिचित नायक को पाकर हम शीघ्र ही उसे हृदय में आदर देते हैं।

निवृत्ति का मार्ग बताने वाले सिद्धार्थ ने 'मानव को दुख से कैसे मुक्ति मिले' इसका उपाय बताया और इस प्रकार निवृत्ति में भी प्रवृत्ति का बोध कराया। किन्तु यह प्रवृत्ति मानव की कल्याण-भावना से ओत-प्रोत है। हमारे यहाँ के नायकों की चारित्रिक विशेषता अवर्णनीय है। इनका व्यक्तित्व कितना उच्च और कितनी महान भावनाओं से युक्त है, यह विद्वान् लोग ही समझ सकते हैं। ऐतिहासिक नायक बुद्ध आज भी विख्यात हैं।

जननायक :

इस गुणग्राही मानवतावाद के युग मे पारब्रह्म राम और कृष्ण के स्वर्णिम सिंहासन पर निषादपुत्र एकलव्य, सूतपुत्र कर्ण, वैश्यपुत्र बापू आरूढ़ किये जाते हैं, क्योंकि नायक के परम्परागत सिद्धान्तों में परिवर्तन हो जाने के कारण आधुनिक कवि नायक का उच्च कुल में उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं मानते। मानवता के कल्याण के लिए उसी चरित्र को प्रधानता दी गयी है जो महत् कार्य कर सके। उनका राजवंश अथवा क्षत्रिय वंश में जन्म लेना आवश्यक नहीं है।

'जननायक' में श्री रघुवीरशरण मित्र ने युगपुरुष गांधी को नायक के रूप में चित्रित किया है। अपने त्याग, सेवा और राष्ट्रप्रेम की भावना से बापू अतिमानव की कोटि में आते है। जनता के नायक, राष्ट्र के प्राण गांधी को भगवान कहा गया है—

'कठिन कठिन व्रत कर जीवन में
मानव से भगवान बन गये'[1]।

यह सत्य है कि कर्म से मानव ईश्वर बन सकता है। सत्य, प्रेम और अहिंसा को अपना कर बापू ने जो कष्ट उठाया, जो अपमान सहन किया, वह अकथनीय है। अफ्रीका में भारत-वासी होने के कारण गांधी जी को किस प्रकार अपमानित होना पड़ा, मित्र जी ने इसका अत्यन्त मार्मिक चित्र अंकित किया है—

'घोड़ा गाड़ी पर बैठे हुए बापू अँग्रेज गोरा के द्वारा मारे और ढकेले जाते हैं। इस पर उनका उत्तर कितना हृदयस्पर्शी है—'मैं नहीं बैठ सकता जूतों में, अभी देश का स्वाभिमान है भारतमाता के पूतों में।'[2]

गाड़ी के सींखचे को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर वे खड़े रहे। ऐसे प्रसंगों को पढ़ कर लगता है कि मानव इतना सहिष्णु कैसे हो सकता है। यह सत्य है और यही गुण उसे अतिमानव की श्रेणी में पहुँचा देता है। राष्ट्रपिता बापू का संपूर्ण चरित्र त्याग और सहनशीलता, दृढ़ता और कटिबद्धता से युक्त है। असहनीय कष्ट सहन करके विषम परिस्थितियों में भी जननायक ने अपने संकल्प की पूर्ति की, प्राणों की आहुति देकर जननी जन्मभूमि के पैरों में बंधी शृंखलाओ को मुक्त किया।

विश्वबन्धुत्व की भावना से व्याकुल महात्मा मानव मात्र की मंगल कामना में रत

---

१. जननायक, सर्ग ११।

२ वही सर्ग ६

रहा। उसे अपार स्नेह देशवासियों के प्रति था। उनको वस्त्रहीन, गृहहीन देख कर बापू का हृदय व्याकुल हो उठा और उन्होंने स्वयं वस्त्र, अन्न का त्याग करके लंगोटी लगाना आरम्भ कर दिया। गांधी जी ने राष्ट्र की, जाति की, समाज की समस्याओं को सुलझाने का सदैव प्रयास किया। उनके हृदय में सत्य था, जिसके कारण उनकी आत्मा में वह बल आ गया कि उन्होंने सबको झुका दिया। निम्न और अछूत वर्ग को हम घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनके लिए बापू के हृदय में कितना स्नेह है, किस प्रकार सत्य और तर्कपूर्ण भाव प्रकट करते हैं। जो हमारी गन्दगी को साफ करे, हमारी सेवा करे उसे अछूत कह कर घृणा की दृष्टि से देखना पाप है। उनका कहना था कि सबके शरीर में एक ही प्रकार का रक्त है, एक ही सृष्टिकर्ता ने सबका निर्माण किया है, सबको जन्म दिया है। फिर कैसा छूत कैसा भेद ? इस प्रकार जननायक गाधी का जनता के हृदय में अमिट स्थान बन गया, जो इतिहास और साहित्य में सदैव अमर रहेगा।

जननायक गांधी अपने को जनता का सेवक मात्र समझते थे और उसी की सेवा में लगे रहते थे। मानव के प्रति उनके हृदय में कितना स्नेह था, इसका उदाहरण मिश्र जी ने प्रस्तुत किया है। जब एक कुष्ठ का रोगी भिखारी रूप में आता है तो गांधी जी अपने हाथों उसकी सेवा करते हैं—

'कोढ़ चूता द्वार उनके, एक दिन आया भिखारी

× ×

सामने भिक्षुक खड़ा था सोच में गांधी पड़े थे
द्वार पर पल्ला पसारे स्वयं नारायण खड़े थे
कहा गांधी ने द्रवित हो आपकी सेवा करूँ मैं
पोंछ पलकों से पसीना कोढ़ पर मरहम धरूँ मैं
धोने लगे घाव कोढ़ी के अमर भगीरथ गंगाजल से
सेवाओं का सुधा पिलाया रत्न लुटाये अंतस्तल से।'[1]

इतना सेवा भाव और पर-हित गांधी के हृदय में था और इसी ने उन्हें जननायक बनाया, जनता का भगवान बनाया। वे वास्तव में इसके योग्य थे। उन्हीं की साधना और तपस्या का फल है जो हमारी पराधीनता की बेड़ियाँ खुल गयीं और विश्व में हमारा सम्मान बढ़ा।

राष्ट्रनायक :

आधुनिक युग में राष्ट्र की सेवा के लिए जो त्याग बापू ने किया है, वह सराहनीय है। जननी जन्मभूमि के लिए, नीति के कल्याण के लिए उन्होंने अनेक कष्ट सहन किये। इससे सभी परिचित हैं। युगपुरुष गांधी को अपने महाकाव्य का प्रधान पात्र बनाकर 'जननायक', 'महामानव', 'लोकायतन' की रचना की गई है। ये महाकाव्यत्व की

---

१. जननायक, ६ वाँ सर्ग।

दृष्टि से कहाँ तक सफल है इस पर अन्यत्र विचार किया गया है, किन्तु यहाँ राष्ट्रनायक पर दृष्टि डालना है।

राष्ट्र सेवा की पुनीत भावना ने गांधी को अतिमानव की श्रेणी में पहुँचा दिया। वे जनता के द्वारा पूजे जाने लगे। देश की दयनीय दशा को देख कर उनके हृदय में करुणा का सागर उमड़ पड़ा और उन्होंने समस्त सुख-ऐश्वर्य को त्याग कर जीवन को अपने राष्ट्र के कल्याण में रत कर दिया। उन्होंने अछूत वर्ग का उद्धार करने, अशिक्षित को शिक्षित बनाने का सतत प्रयत्न किया। जन-जागरण के लिए उन्होंने आजीवन प्रयास किया और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भारत को पराधीनता से मुक्त कराया। गांधी जी की जन-सेवा का चित्रण मित्र जी ने किया है—

जनता के सेवक को अपने घर का ध्यान नहीं रहता है
जिसने उसको जहाँ पुकारा, वह भगवान वहीं रहता है
बच्चे पढ़ने लगे उन्हीं के, गांधी उनको लगे पढ़ाने
अपने शुद्ध ज्ञान की गंगा, तृषित भूमि पर लगे बहाने।[1]

अपने राष्ट्र के लिए गांधी ने सब कुछ किया, नीच से नीच कार्य को भी सहर्ष किया, क्योंकि उनका ध्येय यही था कि परस्पर विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार हो, भेदभाव की संकीर्णता विनष्ट हो—

जहाँ कहीं भी मैला देखा झाड़ू देकर साफ किया
बने कारकुन बैरा बन कर सेवा से भंडार भर दिया
सेवा कार्य देख गांधी के थे सारे सेवक शर्माये

× × ×

गांधी जी ने देख गंदगी झाड़ू देकर करी सफाई
सारा काम किया भंगी का मैली पगडंडी धुलवाई।[2]

अपने देशवासियों को सुखी बनाने के लिए उन्होंने सब कुछ किया, सत्याग्रह का आरम्भ किया और कहा कि इसी से शान्ति की स्थापना हो सकती है।

गांधी जी की दृढ़ भावना ने सबके हृदय में तूफान का सागर लहरा दिया और १९१९ ई० की ६ अप्रैल को भारत में उन्होंने सत्याग्रह का शंख फूंक दिया। कलकत्ता, बम्बई, करांची, मेरठ आदि शहरों में जुलूस निकले, जलसे हुए, व्रत रखे गये, क्रान्ति के शोले सर्वत्र धधक उठे।

कहने का तात्पर्य यह कि आत्मनिष्ठ, तपस्वी गांधी की ही शक्ति ने भारत में वह शोला भड़काया, जिसने माँ के पैरों की बेड़ियाँ काट दी और आज हम स्वतन्त्र कहलाने का गौरव प्राप्त कर सके हैं।

राष्ट्र प्रेम का ज्वलंत उदाहरण उस समय मिलता है, जब अफ्रीका में गोरे उन्हें कुली कह कर अपमानित करते हैं और कहते हैं कि नौ बजे रात के बाद फुटपाथ पर काला आदमी

१. जननायक—नवाँ सर्ग।
२. जननायक—दसवाँ सर्ग।

नहीं निकल सकता गोरे जहाँ चलें वहाँ तुम पैर नहीं रख सकते उस समय गांधी जी के दुख की सीमा नहीं थी। वे विचार करते हैं और कहते हैं—

भारत माँ के स्वाभिमान को तुम गोरों से रुंदवाते हो
अपनी दुर्बलता के कारण अपने पैर उखड़वाते हो
तुम क्या जानो इन गोरों ने बाँध दिये हैं पैर तुम्हारे
गोरों की छाती के नीचे दबे हुए अधिकार हमारे

\+ \+

मानव-मानव सभी एक हैं सब आपस में भाई-भाई
देख रहे हो यहाँ तुम्हारा कौड़ी भर सम्मान नहीं है।

\+ \+

अपने देशवासियों की तब गांधी जी ने सभा बुलाई
भूल दिखायी प्रेम सिखाया हक की सच्चाई समझाई।[1]

राष्ट्र का पुजारी देश के अपमान की ज्वाला में दग्ध हो रहा है। इसे अनुभव कर वे रात्रि के समय फुटपाथ पर चल पड़ते हैं। एक दो पग चलते ही संतरी दौड़ कर आता है और गांधी जी को धक्के देकर पगडंडी से नीचे गिरा देता है।

इस हृदय-विदारक घटना को पढ़कर आज भी धमनियों का रक्त खौलने लगता है और जन्मभूमि के प्रति आस्था और निष्ठा की भावना और दृढ़ हो जाती है। गांधी जी के लिये भारत के सपूतों के हृदय में जो आदर है, वह उन्हें महामानव की समता पर ही पहुँचा देता है। हमारे राष्ट्रपिता बापू आज भी हमारे अन्तस्थल में अमर हैं और राष्ट्रनायक की श्रेणी में उनका सदैव सम्मान रहेगा।

लोकनायक :

लोक-कल्याण के लिए अपने जीवन के सुख, ऐश्वर्य और विभूति का त्याग करने वाले महापुरुष को लोकनायक की कोटि में रखा जा सकता है। नायक का अपना व्यक्तिगत महत्व समष्टि के हित में समाहित होकर अधिक उज्वल हो उठता है। महर्षि वाल्मीकि और तुलसी के राम को गुप्त जी ने आधुनिक युग के अनुरूप नवीन रूप देने का प्रयत्न किया है, किन्तु गुप्त जी के भक्त हृदय ने भगवान राम को देवत्व के उच्च आसन से सर्वथा मनुष्यत्व की भूमि पर उतारना उचित नहीं समझा। राम के अतिरिक्त अन्य पात्रों के चरित्र के श्वेत और श्यामल दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है और मनोवैज्ञानिकता से अधिक काम लिया है। पात्रों की मनोवृत्तियाँ और मानसिक संघर्षों का विश्लेषण 'साकेत' में सुन्दर रूप में हुआ है।

'साकेत' के राम आदर्श पात्र हैं। वे पितृभक्ति, मातृ-प्रेम और सभी आदर्श लिये हुए हैं। कर्तव्यपरायण राम त्याग, क्षमा और विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं। राम ने आदि से अन्त तक लोककल्याण को ही प्रमुखता दी और इसी को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। पिता के वचन

१ रघुवीरशरण मित्र · जननायक सर्ग ७।

को सत्य सिद्ध करने के लिए राजसिंहासन को त्याग कर वन जाने को सहर्ष तत्पर हो गये। उनका जन्म 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' ही हुआ था और उन्होंने असुरों का संहार कर शान्ति स्थापित किया। लोकनायक राम ने सदैव लोकमर्यादा की रक्षा की। पिता की आज्ञा की पूर्ति न होने पर संसार में उनकी अपकीर्ति होती, साथ ही निशाचरों का नाश भी न होता, इस विचार से वनवासी होकर चौदह वर्ष वन में व्यतीत किया। इसके अतिरिक्त केवल लोक-चर्चा के कारण ही सती सीता का परित्याग किया और यह जानते हुये भी कि सीता निष्कलंक है, उन्होंने जनमत को सुना और उसी के अनुसार कार्य किया। यद्यपि आदर्श की स्थापना के लिए ही अन्त तक सीता को अर्द्धाङ्गिनी माना। इस अंश का विवेचन यहाँ पर नहीं करना है, गुप्त जी ने 'साकेत' में राम को किस प्रकार प्रधान पात्र के रूप में अंकित किया, इस पर ही विचार करना है। राम ने आरम्भ में ही कहा है—

'भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'[1]

व्यक्तित्वनिष्ठ नायक :

महाभारत के संभव पर्व में १३२ अध्याय के ३१ वें श्लोक से लेकर ६० श्लोक तक एकलव्य की कथा वर्णित है। संभव है, महान् चरित्रों के उदात्त कार्यों के वर्णन के बीच निषाद-पुत्र एकलव्य के लिए यथेष्ट स्थान न प्राप्त हो सका हो।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस कथा को अपने कौशल से इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह समाज के लिए एक दृष्टान्त और आदर्श बन गया है। मानवतावादी युग में गुण की ही प्रधानता है, इसी दृष्टिकोण को लेकर महकाव्यकार ने एकलव्य के चरित्र को अंकित किया है और उसके उदात्त व्यक्तित्व के समक्ष आचार्य द्रोण और आर्य कुलभूषण पार्थ को नतमस्तक होना पड़ा है। परम्परागत सिद्धान्त के आधार पर नायक का उच्चकुलोद्भव होना अनिवार्य है, पर यह विचार आज मान्य नहीं है। वनपर्व में युधिष्ठिर ने कहा है—मनुष्य में जाति की अपेक्षा शील ही प्रधान है—

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महायते
संकरत्वात् सर्व वर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः
सर्व सर्वास्वपत्यानिजनयन्ति सदा नराः
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुये तत्वदर्शनः[2] ॥

एकलव्य के चरित्र की प्रमुखता उसके महान् व्यक्तित्व के कारण है, इसलिए हम उसे व्यक्तित्वनिष्ठ नायक की कोटि में रखते हैं, जो केवल अपने उदात्त कर्म के कारण ख्याति प्राप्त कर सका। मनुष्य का व्यक्तित्व उसके चरित्र का द्योतक है। आज मानव के सद्चरित,

१. साकेत. पृ० १६७. सर्ग ८।
२ वन पर्व १८०

सहिष्णुता तथा, त्यागपूर्ण जीवन को अधिक महत्व दिया जाता है। चरित्र की यही कसौटी भी है। एकलव्य का आदर्श जीवन गुरुभक्ति का अनुपमेय उदाहरण है, साथ ही उसके हृदय मे माँ और पिता के प्रति भी आदर है। जब वह साधना के पथ पर अग्रसर होता है उस समय कहता है—

'धनुर्वेद सीख कर जब पुत्र आएगा
पहले लक्ष्य वेधेगा तुम्हारे ही दुःख का।'[1]

यह भावना उसके मातृप्रेम को प्रकट करती है। नायक में आज गुण को महत्व दिया जाता है, जाति को नहीं। महाकाव्यकार ने इसी सिद्धान्त को अपना कर एकलव्य के महान् व्यक्तित्व को चित्रित किया है। एकलव्य के शील-गुण के कारण द्रोण, अर्जुन आदि उच्चकुलोद्भव चरित्रों का महत्व कम हो जाता है। आचार्य द्रोण एकलव्य को निषाद पुत्र होने से धनुर्विद्या की शिक्षा देना स्वीकार नहीं करते है। एकलव्य दुखी अवश्य होता है किन्तु अपने जीवन की निर्धारित दिशा को परिवर्तित नही करता। यह उसके व्यक्तित्व की विशेषता है और अपने शील से ही वह गुरु की मर्यादा की भी रक्षा करता है—

'जाओ हे निषादपुत्र तुम हो अस्वीकृत
आप नहीं कहते हैं राजनीति कहती।'[2]

इस प्रकार महाभारत के इस चरित्र को डॉ० रामकुमार वर्मा ने ऐसे कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है जो युग और समाज के सर्वथा अनुकूल है। कवि लोकविश्रुत नायक को अपनी रचना का प्रधान पात्र बना कर उसे पूर्व संचित सम्मान और आदर का अधिकारी बना देता है और वह सहज में ही लोगों के हृदय में स्थान पा जाता है। यह अवश्य है कि अलौकिक चरित्र को बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए कवि को उसे नवीन रूप देना पड़ा है इसी में उसकी मौलिकता है।

● ●

---

१. एकलव्य, षष्ठ सर्ग।

२ वही दशम सर्ग

हिन्दी और द्रविड़ भाषाओं के विशेषण पदों की तुलना

अम्बाप्रसाद सुमन

भारतवर्ष अनेक संस्कृतियों के समन्वय को आत्मसात् करके चलनेवाला देश है। यहाँ अनैक्य में ऐक्य के दर्शन सरलता से किये जा सकते हैं। आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में चार जातियाँ आ चुकी थीं। अफ्रीका की नेग्रिटो, चीन की आस्ट्रिक, मंगोलिया की किरात और संभवतः अफ्रीका की द्रविड़ जाति ने भारत में बस कर अपनी संस्कृति के चरण-चिह्न स्थापित कर दिये थे। उपर्युक्त चारों जातियों की पीढ़ियाँ अपनी-अपनी भाषाओं का भी दैनिक जीवन में प्रयोग करती थीं। अतः भारोपीय कुल की भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाले आर्यों से पहले इस देश में आस्ट्रिक, तिब्बती-चीनी और द्रविड़ कुल की भाषाएँ बोली जाती थीं। उक्त सभी कुलों की भाषाएँ विकसित होती रहीं और अपनी-अपनी शक्ति से आगे बढ़ती रहीं। इस देश में पारस्परिक आदान-प्रदान तथा रहन-सहन के परिणामस्वरूप चारों कुलों की भाषाओं ने समय-समय पर अपनी शब्द-सम्पत्ति एक-दूसरी जाति को प्रदान की।

आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, उन्हें हम उपर्युक्त चारों कुलों में ही वर्गीकृत कर सकते हैं। गारो, अक्कदी आदि यदि तिब्बती-चीनी कुल की हैं तो संथाली, मुंडारी आदि आस्ट्रिक कुल की सन्तानें हैं। तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम तो द्रविड़ कुल की वंशजा हैं ही। कश्मीरी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि भारोपीय कुल की सन्तानें मानी ही जाती हैं।

'हिन्दी' शब्द से हमारा तात्पर्य साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी से है। लगभग इसी अर्थ में भारतीय संविधान में हिन्दी शब्द का प्रयोग किया गया है।

हिन्दी अर्थात् साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी में विशेषण पद का प्रयोग चाहे उद्देश्यात्मक हो चाहे विधेयात्मक, वह अपना रूप एक निश्चित नियम में प्रकट करता है। यदि परिवर्तित रूप वाला विशेषण पद होगा तो वह परिवर्तित रूप से जिस तरह उद्देश्यात्मक प्रयोग में रहेगा, उसी प्रकार विधेयात्मक प्रयोग मे भी रहेगा।

हिन्दी में प्रायः व्यंजनान्त अथवा अकारान्त विशेषण पद अपरिवर्तित रहते हैं। जैसे, मस्त, सुन्दर, लाल, धनवान आदि। इन विशेषणों का प्रयोग हमें उद्देश्यात्मक तथा विधेयात्मक स्थितियों में देखना चाहिए।

उद्देश्यात्मक प्रयोग (हिन्दी मे) :—

१. **मस्त** लड़का आता है।
२. **मस्त** लड़के आते है।
३. **मस्त** लड़की आती है।
४. **मस्त** लड़कियाँ आती है।

'मस्त' अकारान्त विशेषण है। उपर्युक्त उदाहरण बताते हैं कि उसका रूप एक वचन बहुवचन तथा स्त्रीलिंग-पुलिंग में **'मस्त'** ही रहा अर्थात् अपरिवर्तित।

अब व्यंजनान्त विशेषण को भी देखना चाहिए—

१. **धनवान्** पुरुष आता है।
२. **धनवान्** पुरुष आते हैं।
३. **धनवान्** स्त्री[1] आती है।
४. **धनवान्** स्त्रियाँ[2] आती हैं।

उक्त उदाहरणों में 'धनवान्' विशेषण अकारान्त विशेषण 'मस्त' की भाँति ही अपरिवर्तित रहा है। **'लाल'** और **'सुन्दर'** भी अपरिवर्तित विशेषणों की कोटि में आते हैं। इन दोनों को (लाल तथा सुन्दर को) उच्चारण की दृष्टि से हम व्यंजनान्त और लेखन-शैली की दृष्टि से अकारान्त मान सकते हैं।

अब देखना चाहिए कि **'मस्त'** और **'धनवान्'** विशेषणों के रूप विधेयात्मक प्रयोग की स्थिति में क्या रहते हैं—

विधेयात्मक प्रयोग (हिन्दी में) :—

१. लड़का **मस्त** है।
२. लड़के **मस्त** हैं।
३. लड़की **मस्त** है।
४. लड़कियाँ **मस्त** हैं।
५. पुरुष **धनवान्** है।
६. पुरुष **धनवान्** हैं।
७. स्त्री **धनवान्** है।
८. स्त्रियाँ **धनवान्** हैं।

उपर्युक्त उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि अकारान्त अथवा व्यंजनान्त विशेषणों का प्रयोग उद्देश्यात्मक अथवा विधेयात्मक स्थिति में अपरिवर्तित रहता है अर्थात् वे एकरूप रहते हैं।

हिन्दी में कुछ विशेषण ऐसे भी हैं जो अपने विशेष्य के लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं। आकारान्त विशेषण जैसे **'अच्छा'** आदि को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है।

---

१ २ **धनवती स्त्री** अथवा **धनवती स्त्रियाँ** प्रयोग संस्कृत की ओर अधिक झुका हुआ है

ऐसे विशेषणों को हमें देखना चाहिए कि वे उद्देश्यात्मक प्रयोग तथा विधेयात्मक प्रयोग के समय क्या रूप रखते है—

उद्देश्यात्मक प्रयोग (हिन्दी) में :—

१. **अच्छा**[१] लड़का आता है।
२. **अच्छे** लड़के आते हैं।
३. **अच्छी** लड़की आती है।
४. **अच्छी** लड़कियाँ आती है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'अच्छा' अपने विशेष्य 'लड़का' के अनुसार प्रयुक्त हुआ है। 'लड़के' के साथ वह 'अच्छे' रूप मे है और और 'लड़की' के साथ 'अच्छी' रूप में। अतः आकारान्त 'अच्छा' विशेषण परिवर्तित होने वाले विशेषणों की कोटि में आता है।

विधेयात्मक प्रयोग में 'अच्छा' की परीक्षा करनी चाहिए—

विधेयात्मक प्रयोग (हिन्दी में) :—

१. लड़का **अच्छा** है।
२. लड़के **अच्छे** हैं।
३. लड़की **अच्छी** है।
४. लड़कियाँ **अच्छी** हैं।

विधेयात्मक प्रयोग में भी 'अच्छा' विशेषण की वही रूप-स्थिति है, जो उद्देश्यात्मक प्रयोग के अन्तर्गत थी। अर्थात् अपने विशेष्य के लिंग-वचन के साथ वह एक ही ढंग से परिवर्तित होता है।

संक्षिप्त रूप से हम लिखना चाहें तो इस प्रकार लिख सकते हैं कि **'अच्छा लड़का'** प्रयोग उद्देश्यात्मक है और **'लड़का अच्छा'** प्रयोग विधेयात्मक। इसी तरह स्त्रीलिंग में **'अच्छी लड़की'** प्रयोग उद्देश्यात्मक है और **'लड़की अच्छी'** प्रयोग विधेयात्मक।

उक्त उदाहरण यह बताते हैं कि हिन्दी में परिवर्तनशील विशेषण अपने रूप-परिवर्तन हेतु उद्देश्यात्मक तथा विधेयात्मक प्रयोग-स्थितियों में एक ही नियम का पालन करते हैं। दोनों प्रकार के प्रयोगों में परिवर्तन एक समान है। मिलाइए—

उद्देश्यात्मक प्रयोग	विधेयात्मक प्रयोग
१. पुंलिंग एक वचन में	
अच्छा लड़का।	लड़का **अच्छा**।
२. पुंलिंग बहु वचन में	
अच्छे लड़के।	लड़के **अच्छे**।

---

१. हिन्दी के आकारान्त विशेषण परिवर्तनशील हैं। लेकिन [-इया] प्रत्ययान्त 'बढ़िया' आदि अपवाद हैं।

३ स्त्रीलिंग एक वचन में

अच्छी लड़की।	लड़की अच्छी।

४. स्त्रीलिंग बहु वचन में

अच्छी लड़कियाँ।	लड़कियाँ अच्छी।

उपर्युक्त तालिका सिद्ध करती है कि हिन्दी के 'अच्छा' विशेषण के रूप जैसे उद्देश्यात्मक प्रयोग के अन्तर्गत हैं, ठीक वैसे ही विधेयात्मक प्रयोग में भी पाये जाते हैं।

अब हमें देखना है कि द्रविड़ कुल की तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषाओं में विशेषण पदों की स्थिति उनके उद्देश्यात्मक तथा विधेयात्मक प्रयोगों में क्या रहती है और उनमें परिवर्तन किन सिद्धान्तों के आधार पर हुआ करता है।

तमिल, कन्नड और मलयालम भाषाओं में हिन्दी के 'अच्छा' के समानान्तर 'नल्ल' शब्द प्रचलित है; लेकिन तेलुगु में 'नल्ल' के स्थान पर 'मंचि' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अब हमें देखना चाहिए कि तमिल, कन्नड और मलयालम में 'नल्ल' के रूप उद्देश्यात्मक तथा विधेयात्मक प्रयोगों में किस प्रकार परिवर्तित होते हैं।

तमिल भाषा में विशेषण के रूप :—

उद्देश्यात्मक प्रयोग	विधेयात्मक प्रयोग
पुंलिंग[1] विशेष्य होने पर	
(१) नल्ल पइयन् (अच्छा लड़का)	(१) पइयन् नल्लवन् (लड़का अच्छा है)
(२) नल्ल पइयन्गल् (अच्छे लड़के)	(२) पइन्गल नल्लवर् (लड़के अच्छे है)
स्त्रीलिंग विशेष्य होने पर—	
(१) नल्ल स्त्री (अच्छी स्त्री)	(१) स्त्री नल्लवल् (स्त्री अच्छी है)
(२) नल्ल स्त्रीहल् (अच्छी स्त्रियाँ)	(२) स्त्रीहल् नल्लवर् (स्त्रियाँ अच्छी हैं)
नपुंसक लिंग विशेष्य होने पर	
(१) नल्ल सामान् (अच्छा सामान)	(१) सामान् नल्लदु (सामान अच्छा है)
(२) नल्ल सामान्गल् (अच्छे सामान)	(२) सामानगल् नल्लवइ (सामान अच्छे है)

१. वास्तव में द्रविड़ भाषाओं में देवता तथा पुरुषवाची शब्द महत् कोटि में और स्त्री, पशु और निर्जीव पदार्थ आदि के शब्द अमहत कोटि में आते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि तमिल भाषा के उद्देश्यात्मक प्रयोग में विशेषण नित्य एक रूप से रहता है अर्थात् विशेष्य के लिंग-वचन के कारण वह परिवर्तित नहीं होता। किन्तु विधेयात्मक प्रयोग की स्थिति में विशेषण अपने विशेष्य के लिंग-वचन के अनुसार अपना रूप-परिवर्तन अवश्य करता है।

इसी प्रकार कन्नड और मलयालम के प्रयोगों को भी देखना चाहिए—

कन्नड भाषा में विशेषण के रूप :—

उद्देश्यात्मक प्रयोग	विधेयात्मक प्रयोग
पुंलिंग विशेष्य होने पर	
१. नल्ल हुडुगनु (अच्छा लड़का)	१. हुडुगनु नल्लवनु (लड़का अच्छा है)
२. नल्ल हुडुगरु (अच्छे लड़के)	२. हुडुगरु नल्लवरु (लड़के अच्छे हैं)
स्त्रीलिंग विशेष्य होने पर	
१. नल्ल हुडुगि (अच्छी लड़की)	१. हुडुगि नल्लवलु (लड़की अच्छी है)
२. नल्ल हुडुगियरु (अच्छी लड़कियाँ)	२. हुडुगियरु नल्लवरु (लड़कियाँ अच्छी हैं)
नपुंसक लिंग विशेष्य होने पर	
१. नल्ल चित्र (अच्छा चित्र)	१. चित्र नल्लदु (चित्र अच्छा है)
२. नल्ल चित्रगलु (अच्छे चित्र)	२. चित्रगलु नल्लवु (चित्र अच्छे है)

उपर्युक्त प्रयोगों से स्पष्ट है कि तमिल की भाँति कन्नड मे भी विशेषण अपने विधेयात्मक प्रयोग में विशेष्य के लिंग-वचन के अनुसार अवश्य बदलते हैं, किन्तु उद्देश्यात्मक प्रयोग में अपरिवर्तित रहते हैं।

मलयालम में भी ऐसे रूपों की परीक्षा करनी चाहिए—

मलयालम भाषा में विशेषण के रूप :—

उद्देश्यात्मक प्रयोग	विधेयात्मक प्रयोग
पुंलिंग विशेष्य होने पर	
१. नल्ल आण्कुट्टि (अच्छा लड़का)	१. आण्कुट्टि नल्लवन् (लड़का अच्छा है)
२. नल्ल आण्कुट्टिकल् (अच्छे लड़के)	२. आण्कुट्टिकल् नल्लवर् (लड़के अच्छे हैं)

स्त्रीलिंग विशेष्य होने पर

१. नल्ल सहोदरि (अच्छी बहिन) — १. सहोदरि नल्लवल् (बहिन अच्छी है)

२. नल्ल सहोदरिमार् (या) नल्ल सहोदरिकल् (अच्छी बहिनें) — २. सहोदरिमार् (सहोदरिकल्) नल्लवर् (बहिनें अच्छी हैं)

नपुंसक लिंग विशेष्य होने पर

१. नल्ल पुस्तकं (अच्छी पुस्तक) — १. पुस्तकं नल्लतु[1] (पुस्तक अच्छी है)

२. नल्ल पुस्तङ्ङल् (अच्छी पुस्तकें) — २. पुस्तङ्ङल् नल्लव[2]। (पुस्तकें अच्छी हैं)

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि मलयालम में भी विशेषण विधेयात्मक प्रयोग में अपने विशेष्य के लिंग-वचन के अनुसार अवश्य बदलते हैं, किन्तु उद्देश्यात्मक प्रयोग में अपरिवर्तित रहते हैं।

अब तेलुगु भाषा में भी विशेषण के रूपों की परीक्षा करनी चहिए—

तेलुगु भाषा में विशेषण के रूप :—

उद्देश्यात्मक प्रयोग	विधेयात्मक प्रयोग
पुंलिंग विशेष्य होने पर	
१. मंचि बालुडु[3] (अच्छा लड़का)	१. बलुडु मंचिवाडु (लड़का अच्छा है)।
२. मंचि बालुरु	२. बालुरु मंचिवारु (लड़के अच्छे हैं)।
स्त्रीलिंग विशेष्य होने पर	
१. मंचि बालिक (अच्छी लड़की)	१. बालिक मंचिदि (लड़की अच्छी है)।
२. मंचि बालिकलु (अच्छी लड़कियाँ)	२. बालिकलु मंचिवारु (लड़कियाँ अच्छी हैं)।

---

१. वह (पुस्तक) अच्छी = अतु (पुस्तकं) नल्लतु ('अतु' में ह्रस्वतर उकार है)।

२. वे (पुस्तकें) अच्छी = अव (पुस्तकङ्ङल) नल्लव।

३. अकारान्त पुलिंग शब्द में प्रथमा विभक्ति के लिए (—डु) लगता है। कहीं (—वु) भी लगता है। जैसे 'विष्णुवु'। लड़का—बालुडु। शिव—शिवुडु। लड़के—बालुरु ∠ बालुर।

नपुंसक लिंग विशेष्य होने पर

१. मंचि पुस्तकमु	१. पुस्तकमु मंचिदि
(अच्छी पुस्तक)	(पुस्तक अच्छी है)।
२. मंचि पुस्तकमुलु	२. पुस्तकमुलु मंचिवि।
(अच्छी पुस्तकें)	(पुस्तकें अच्छी हैं)।

तेलुगु में भी तमिल, कन्नड और मलयालम की भाँति ही विधेयात्मक प्रयोग में विशेषण विशेष्य के लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित होते हैं।

विधेयात्मक प्रयोग में विशेषणों के पर प्रत्ययों को समझने के लिए हमें तमिल, कन्नड, मलयालम और तेलुगु के अन्य पुरुषीय सर्वनामों को देखना चाहिए।

हिन्दी भाषा में अन्य पुरुषीय पुरुषवाचक सर्वनाम 'वह' है, जो पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग (दोनों) का सूचक है। जैसे—

(१) पुरुष आया और वह[1] चला गया।

(२) स्त्री आयी और वह[2] चली गयी।

किन्तु द्रविड़ कुल की चारों भाषाओं (तमिल, कन्नड, मलयालम और तेलुगु) में लिंग के विचार से अन्य पुरुषीय सर्वनाम पृथक्-पृथक् हैं और उनके बहु वचनीय रूप भी पृथक्-पृथक् हैं। जैसे—

तमिल में अन्य पुरुष-सर्वनाम

एक वचन	बहु वचन
पुं०—अ/वन् (=वह)	पुं०—अ/वर् (=वे)
स्त्री०—अ/वल् (=वह)	स्त्री०—अ/वर् (=वे)
नपुं०—अ/दु (=वह)	नपुं०—अ/वइ (=वे)

उक्त पदों में [अ] प्रातिपदिक है और शेष अंश प्रत्यय हैं, जो लिंग-वचन के सूचक हैं। अतः पुंलिंग में [—वन्] और [—वर्] क्रमशः एक वचन और बहु वचन सूचित करते हैं। इसी प्रकार स्त्रीलिंग में [—वल्] और [—वर्] क्रमशः एक वचन और बहु वचन सूचित करते हैं। इसी प्रकार नपुंसक लिंग में [—दु] और [—वइ] क्रमशः एक वचन और बहु वचन के सूचक हैं।

पुरुष के प्रति और स्त्री को लक्ष्य करके तमिल में यों कहेंगे—

पुं०—अवन् नल्लवन्। वह अच्छा है।

स्त्री०—अवल् नल्लवल्। वह अच्छी है। कीड़े, मकोड़े, पशु, निर्जीव पदार्थ आदि को द्रविड़ भाषाओं में नपुंसक लिंग में रखा गया है। ये अमहत्वाची शब्द हैं। अतः 'वृक्ष' को लक्ष्य करके कहा जाएगा—

नपुं०—अदु नल्लदु। वह अच्छा है।

---

१. हिन्दी 'वह' = तमिल 'अवन्'।

२ हिन्दी वह' तमिल अवल्'

इन्हें बहु वचन में इस प्रकार कहेंगे

पुं०—(१) अवर् नल्लवर् (वे अच्छे)

स्त्री—(२) अवर् नल्लवर् (वे अच्छी)

नपुं०—(३) अवइ नल्लवइ (वे अच्छे/अच्छी)

उक्त उदाहरणों से प्रकट होता है कि [—व] प्रत्यय लिंग-सूचक है और [—अर्] प्रत्यय वचन-सूचक है। ये लिंग-वचन के प्रत्यय विधेयात्मक विशेषण में भी लगते हैं, जिस प्रकार कि उसके पूर्ववर्ती विशेष्य में लगा करते हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि द्रविड़ कुल की भाषाएँ प्रत्यय प्रधान हैं और भारोपीय कुल की संस्कृत भाषा विभक्तिप्रधान है।

मामूली से उच्चारण भेद के साथ ये ही प्रत्यय कन्नड और कलयालम में भी पाये जाते हैं। तेलुगु के अन्य पुरुषीय सर्वनामों को भी यहाँ देखना चाहिए।

अन्य पुरुषीय सर्वनाम—

एक वचन			बहु वचन		
पुं०—	वाड्ु	(वह)	पुं०—	वारु	(वे)
स्त्री—	आमे	(वह)	स्त्री—	वारु	(वे)
नपुं—	अदि	(वह)	नपुं—	अवि	(वे)

विशेष—वास्तव में तेलुगु आदि द्रविड़ भाषाओं में लिंग में महत् और अमहत् का प्रकार है। देव तथा मानव महत्वाची हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि तेलुगु में [—व्] प्रत्यय यदि पुंलिंग का सूचक है तो [—आड्ु] एक वचन का तथा [—आरु] बहु वचन का सूचक है। ये सर्वनाम के लिंग-वचन सूचक प्रत्यय ही विधेयात्मक विशेषण पदों के अन्त में भी रहते हैं। तभी तो तेलुगु में निम्नांकित प्रयोग मिलते हैं—

हिन्दी में	तेलुगु में
(१) बालक अच्छा है	(१) बालड्ु मंचिवाड्ु
(२) बालक अच्छे हैं	(२) बालक मंचिवारु
(३) बालिका अच्छी है	(३) बालिक मंचदि
(४) बालिकाएँ अच्छी हैं	(४) बालिकलु मंचिवारु
(५) पुस्तक अच्छी है	(५) पुस्तकमु मंचिदि
(६) पुस्तकें अच्छी हैं	(६) पुस्तकमुलु मंचिवि

'मंचि' विशेषण के अन्त मे लगने वाले ये [—वाड्ु], [—वारु] आदि लिंग-वचन सूचक प्रत्यय हैं।

जिस प्रकार 'अच्छा' विशेषण में [—आ] और 'अच्छे' विशेषण में [—ए] क्रमश: पुंलिंग एक वचन तथा पुंलिंग बहु वचन सूचित करते हैं, ठीक वही बात [—वाड्ु] और [—वारु] प्रत्ययों की है

हिन्दी के [—आ][1] प्रत्यय के समानांतर तेलुगु के [—वाड़ु][2] को और हिन्दी [—ए] प्रत्यय के समानान्तर तेलुगु के [—वारु] को रखा जा सकता है। जैसे—

हिन्दी में	तेलुगु में
(१) वह (लड़का) अच्छा है	(१) वाड़ु मंचिवाड़ु।
(२) वह (लड़की) अच्छी है	(२) आमे मंचिदि
(३) वह (पुस्तक) अच्छी है	(३) अदि मंचिदि।

इनका बहुवचन रूप इस प्रकार है—

(१) वे (लड़के) अच्छे है	(१) वारु मंचिवारु
(२) वे (लड़कियाँ) अच्छी हैं	(२) वारु मंचिवारु
(३) वे (पुस्तकें) अच्छी है	(३) अवि मंचिवि

अतः [—वारु], [—अवि] आदि लिंग-वचन सूचक प्रत्यय है। ये प्रत्यय उन विशेषण पदों में अवश्य लगते हैं जिनका प्रयोग वाक्य में विधेयात्मक स्थिति में होता है। यह विशेषता ध्यान देने योग्य है।

विधेयात्मक प्रयोग में विशेषणों के साथ ऐसे प्रत्यय द्रविड़ कुल की भाषाओं में अवश्य पाये जाते हैं। द्रविड़ कुल की भाषाओं की यह अपनी प्रमुख विशेषता है। किन्तु यह विशेषण के उद्देश्यात्मक प्रयोग की स्थितियों में नहीं मिलती। वहाँ तो विशेषण अपने मूल रूप में सदा अक्षुण्ण अर्थात् एकरूप रहता है, जिस प्रकार कि हिन्दी में अकारान्त अथवा व्यंजनान्त विशेषण नित्य एकरूप रहा करता है। द्रविड़ कुल की भाषाओं में ऐसे विधेयात्मक प्रयोग वाले विशेषण पद हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट कर लेते हैं।

● ●

१,२. 'अच्छा' का अंतिम [—आ] पुंलिंग-एक वचन का सूचक है, और 'मंचिवाड़ु' का अंतिम [—वाड़ु] भी पुंलिंग-एक वचन प्रकट करता है।

तिब्बती ग्रंथ-प्रशाल : एक अनुशीलन

●

रामरोशन रसूलपुरी

बिहार रिसर्च सोसायटी के विशाल ग्रंथागार की सबसे बड़ी विशेषता है इसका 'तिब्बती ग्रंथ-प्रशाल।' यह ग्रंथ-प्रशाल हमें एक ऐसी विश्व-विभूति का स्मरण दिलाता है, जिसके कारण बीसवीं शताब्दी गौरवान्वित है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन एक ऐसी संज्ञा है, जिसके कारण विश्व-भारती के इतिहास का पृष्ठ चिरकाल तक गौरवान्वित रहेगा। अलौकिक मेधाशक्ति-संपन्न वाणी के इस वरदपुत्र से भारतीय दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, भाषा-विज्ञान आदि के क्षेत्र में जो चमत्कारिक शोध संपन्न हुए, उनसे पुरानी मान्यताएँ परिवर्तित हो गईं। राष्ट्रवाणी हिन्दी के इतिहास को महापंडित राहुलजी ने १२ वीं शताब्दी से प्रमाणपूर्वक पीछे ढकेल कर सातवीं-आठवीं शताब्दी में पहुँचा दिया। महापंडित राहुलजी की ज्ञान-पिपासा इतनी तीव्र थी कि इसकी पूर्ति के निमित्त उन्होंने दुस्सह कष्टों की भी परवाह नहीं की और अतल सागरों तथा दुर्लंघ्य पर्वतों को भी लाँघ गये। राहुलजी ने अपने साहसिक अभियानों द्वारा मात्र निजी जिज्ञासा को ही शान्त नहीं किया, उन्होंने अनेक भूले-बिसरे तथा काल के गर्भ में खोये ऐतिहासिक तत्वों का उद्धार किया और संसार के सम्मुख उन्हें जीवन्त रूप में रखा।

राहुल जी की अशान्त आत्मा ने सत्य और ज्ञान के अनुसंधान में उन्हें यायावर बन कर भटकने को बाध्य किया। उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण यात्राओं में लंका तथा तिब्बत की यात्रा का विशेष महत्त्व है। राहुलजी को किशोर वय में ही धर्म के मर्म को तथा गुप्त-लुप्त ज्ञान को अपने अनुसंधानों द्वारा जान लेने की प्रबल जिज्ञासा थी। इसी कारण जन्म का ब्राह्मण किशोर केदार पांडेय अल्पवय में ही वैष्णव मठ में शिष्य बन कर 'रामोदार दास' बन गया। किन्तु जब मठ-मंदिर के संकुचित वातावरण में उसकी उमड़ती जिज्ञासा शान्त नहीं हुई, तो तत्कालीन प्रगतिशील धर्म आर्य समाज का उपदेशक बन बैठे। किन्तु रामोदार दास जैसे महान जिज्ञासु के लिए आर्य समाज का साम्प्रदायिक रूप सहन नहीं हुआ। १९२० ई० में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन-मनन करने के लिए वे लंका पहुँचे। और वहाँ विद्यालंकार बौद्ध केन्द्र में संस्कृत के माध्यम से पालि भाषा का अध्ययन किया। तत्पश्चात् पालि आगम तथा उपलब्ध 'अट्ठकथा' में दक्षता प्राप्त कर ली। राहुलजी ने अपने पालि अध्ययन

द्वारा लंका में संग्रहीत बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण ग्रंथों के बन्द पृष्ठों को विद्वत्संसार के सामने उद्घाटित किया। बौद्ध धर्म की इस महत्वपूर्ण सेवा के निमित्त सिलोन के बौद्ध आचार्यों ने उन्हें 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया। ज्ञातव्य है कि बौद्ध धर्म के प्रधान धर्म-ग्रंथ की संज्ञा 'पिटक' है, जिसमें भगवान बुद्ध के पवित्र उपदेशों का संग्रह है। इसके तीन खंड 'विनय पिटक', 'सुत्त पिटक' 'अभिधम्म पिटक' नाम से प्रख्यात हैं।

लंका में पालि तथा संस्कृत के बौद्ध-धर्मग्रंथों का जो महत्वपूर्ण अध्ययन राहुलजी ने किया, उस कारण बौद्ध-धर्म तथा उससे सम्बद्ध विशाल साहित्य के चिरकाल से बन्द पृष्ठों को उद्घाटित करने की जिज्ञासा उनकी प्रबल हो उठी। ज्ञान के अन्वेषण की प्रबल उत्कंठा ने राहुलजी को तिब्बत की ओर आकृष्ट किया और १९३० ई० में उन्होंने तिब्बत के लिए प्रस्थान भी कर दिया। इस यात्रा में राहुलजी ने तिब्बत में पन्द्रह महीने बिताये। इस अवधि में उन्होंने महापंडित श्री धर्मानन्द कौसाम्बी से तिब्बती भाषा का ज्ञान प्राप्त किया और उनके सहयोग से जान की बाजी लगाकर तिब्बती ग्रंथ-भंडार की पांडुलिपियाँ तथा दुर्लभ ग्रंथों की फोटोकापियों का संग्रह किया और उस महान ग्रंथ-भंडार को २२ खच्चरों पर लाद कर भारत ले आये। इस महान कार्य के कारण राहुलजी की ख्याति एक प्राच्यविद्या-विशारद के रूप में संपूर्ण विश्व में फैल गयी और विश्व के विद्वत् समाज ने एक युग-अनुसंधायक के रूप में उन्हें स्वीकार किया। त्रिपिटकाचार्य राहुल जी असन्दिग्ध रूप से सरस्वती के एक महान वरद पुत्र थे, जिन्होंने तिब्बत के बौद्ध केन्द्रों से इस दुर्लभ ग्रंथ-भंडार को प्राप्त किया।

महापंडित राहुल जी की यह महान देन वास्तव में शोध-अनुसंधान के जिज्ञासुओं के लिए चुनौती है और उन्हें राहुलजी के ऋण से उद्धार पाने के निमित्त उन ग्रंथों के सम्पादन तथा अनुवाद के लिए आह्वान कर रही है। इस तिब्बती ग्रंथ-भंडार के विशाल संग्रह में से राहुल जी ने स्वयं वाद-न्याय (आचार्य धर्मकीर्ति), प्रमाणवार्तिक (आचार्य धर्मकीर्ति) अध्यार्ध शतक (मातृचेत), विग्रह व्यावर्त्तनी, प्रमाणवार्तिक (मनोरथ नन्दित भाष्य), प्रमाणवार्तिक वृत्ती का संपादन किया और इनका प्रकाशन 'दी जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसायटी' के अंकों में यथासमय किया गया। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'अभिधर्मकोश', 'विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि', 'हेतुबिन्द', 'सम्बन्ध परीक्षा', 'प्रमाणवार्तिक' आदि ग्रंथों पर टीकाएँ और भाष्य भी लिखा।

सन् १९३३ ई० में जब राहुलजी यूरोपीय देशों का भ्रमण कर रहे थे, उनके घनिष्टतम मित्र और विख्यात इतिहास-पुरातत्ववेत्ता डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने निश्चय किया कि राहुलजी द्वारा उपलब्ध संपूर्ण ग्रंथ-भंडार और 'थांका' अर्थात् तिब्बतीय बैनर पेंटिंग चित्रों को पटना म्यूजियम में सुरक्षित रखना संभव नहीं है। इस विचार के अनुसार बाद में सपूर्ण तिब्बती पांडुलिपियों का शोध-सामीक्ष्य संग्रह बिहार रिसर्च सोसायटी के ग्रंथ-प्रशाल में सुरक्षित कर दिया गया। आज महापंडित राहुल सांकृत्यायन इस संसार में नहीं रहे। उनके दिवंगत हुए छः वर्ष हो चुके हैं। किन्तु उनके निधन के पश्चात् इन महत्वपूर्ण पांडुलिपियों के शोध-संपादन तथा प्रकाशन का प्रश्न गंभीर रूप में उपस्थित है।

बिहार रिसर्च सोसायटी के तिब्बती ग्रंथ-भांडार की उद्भव-गाथा का का महापंडित

राहुलजी की साहसिक जीवन-गाथा से अनन्य संबंध है। तिब्बत में भारतीय विद्वानों द्वारा तथा विशेष रूप से बौद्ध भिक्षुओं द्वारा जिस ज्ञान-भांडार को शताब्दियों पूर्व धरोहर के रूप मे सुरक्षित किया गया, उसे वापस लाकर महापंडित राहुलजी ने निश्चित रूप से भारतीय ज्ञान और संस्कृति की महानतम सेवा की है। राहुलजी द्वारा लाये गये इस ग्रंथ-भांडार की पुस्तको मे तिब्बती बौद्ध विद्वानों द्वारा किये गये मूल भारतीय संस्कृत पुस्तकों के प्रामाणिक अनुवाद है, जो सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच के हैं। ये पुस्तकें लकड़ी को तराश कर बनाये गये अपरिमार्जित साँचों द्वारा हस्तनिर्मित कागज पर छापी गयी हैं। रुखड़े खुरदुरे कागज पर कुछ हस्तलिखित पांडुलिपियाँ भी हैं तथा तालपत्र पर लिखी गयी मूल संस्कृत पांडुलिपियो के फोटोग्राफ हैं।

तिब्बत में जो विशाल ग्रंथ-भांडार प्राचीन बौद्ध केन्द्रों में सुरक्षित है, उनकी दो श्रेणियाँ हैं, जिन्हें तिब्बती भाषा में 'कांग-ग्यूर' और 'टांग-ग्यूर' कहा जाता है। 'कांग-ग्यूर' श्रेणी में धर्मपुस्तकों की मूल प्रति होती है तथा 'टांग-ग्यूर' मूल पुस्तकों के भाष्य या विवेचन को कहते हैं।

'कांग-ग्यूर' मुख्य रूप में तीन भागों में विभाजित हैं, जो बौद्ध संसार में 'त्रिपिटक' के नाम से अभिहित हैं। एक हिन्दू के लिए वेद का, एक मुसलमान के लिए कुरान शरीफ का तथा एक ईसाई के लिए बाइबिल का जो महत्व है, एक बौद्ध धर्मावलम्बी के लिए 'त्रिपिटक' का भी वही महत्व है। 'त्रिपिटक' के तीनों पिटक मनुष्य के तीन प्रधान कलुष प्रवृत्तियो के परिशमन का प्रतीक माने जाते हैं। मनुष्य जब इन प्रधान किल्विषों का पूर्ण रूप से परिशमन कर लेता है, तभी वह बौद्धधर्मानुकूल निर्वाण या मोक्ष का अधिकारी होता है।

'टांग'-ग्यूर' मुख्य रूप में विस्तृत टीकाएं, भाष्य अथवा स्वतंत्र विवेचना की पुस्तकें है, जिन्हें भारतीय विद्वानों ने सूत्र रूप में लिखा तथा बाद के कालों में जो अधिकारी व्यक्तियो द्वारा तिब्बती भाषा में अनुवादित की गयीं। काल के प्रवाह में आज भारत में उन सूत्र-ग्रंथो का लोप हो चुका है और उनके सम्बन्ध में अब भारतीय विद्वानों को कोई जानकारी नहीं है। आज विद्वद्-जगत को उस लुप्तज्ञान से परिचित कराने का श्रेय एकमात्र महापंडित राहुल जी को ही है।

सर्वप्रथम 'कांग-ग्यूर' ग्रंथों की एक सूची ए० क्सोम ने प्रस्तुत की और उसके आधार पर सेन्दाई, जापान के टोकियो विश्वविद्यालय में १९३४ ई० में 'कांग-ग्यूर' और 'टांग-ग्यूर' बौद्ध धर्मग्रंथों की पूर्ण आकड़ सूची 'बकाह-ह्ग्यूर' और 'बस्तांग-'ह्ग्यूर' नाम से प्रोफेसर हकुजु उई, एम सुजुकी, वाई कानाकुरा और टी. तोदा द्वारा सम्पादित प्रकाशित की गयी।

यह सौभाग्य की बात है कि 'कांग ग्यूर' और 'टांग-ग्यूर' ग्रंथों की जो प्रति ल्हासा संस्करण की राहुल जी द्वारा उपलब्ध हुई और बिहार रिसर्च सोसायाटी के ग्रंथ-प्रशाल मे सुरक्षित है, अन्यत्र की उपलब्ध प्रतियों से शुद्धता और स्वच्छता में सर्वश्रेष्ठ है। बिहार रिसर्च सोसायटी के तिब्बती ग्रंथ-प्रशाल में 'कांग-ग्यूर' और 'टांग-ग्यूर' ग्रंथ-समूह की १६१६ जिल्दें संग्रहीत हैं। इन पुस्तकों का साहित्यिक महत्व के साथ ही ऐतिहासिक महत्व भी है। कारण, इसके द्वारा ऐसे तथ्यों का उद्घाटन होता है जिनकी जानकारी से संसार के विद्वान्

अब तक वंचित रहे हैं। इनमें से अनेक ग्रंथ अपने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक तुलनात्मक इतिहास का प्रथम सूचना-सूत्र प्रदान करते हैं। इस ग्रंथ-भांडार की अधिकतर पुस्तकें धार्मिक एवं दर्शन-शास्त्र की हैं। इसके अतिरिक्त तंत्र-शास्त्र, विज्ञान, कला, साहित्य, चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष आदि के भी महत्वपूर्ण ग्रंथों का संकलन इसमें है।

उपर्युक्त संक्षिप्त पृष्ठभूमि की जानकारी के पश्चात् इस तिब्बती ग्रंथ-समूह को हम मोटे तौर पर पाँच श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :

१. इतिहास, जीवन चरित, संस्मरण तथा अभिलेख।
२. दर्शनशास्त्र और तंत्रग्रंथ।
३. धार्मिक ग्रंथ और साहित्य।
४. कला, विज्ञान तथा ज्योतिष।
५. चिकित्सा-शास्त्र तथा अन्यान्य।

१ इतिहास, जीवनी और संस्मरण आदि

संग्रहीत तिब्बती ग्रंथ-भांडार में भारतीय और तिब्बती प्राचीन तथा पूर्व मध्यकालीन इतिहास के ऐसे ग्रंथ हैं, जो अभी तक अप्रकाशित हैं और जिनके ऐतिहासिक अनुसंधान से अनेक अज्ञात तथ्यों के प्रकाश में आने की संभावना है। इस सम्बन्ध में 'दवे-थरे-र्द्सोत-ल्दान-द्गाह्-स्तोन' (ग्रन्थकार-ल्ना-पा); 'दस-ह्रवोर-लो-रग्यूस-कम्भा-लाही-शिन-ब्कोद' (क्लोन-रदेल); ग्सान-यिग-ह्वान-जी-रग्याल-पो (स्काल व्जाङ्क्र्ग्याम्तसो) और 'स्निन-र्ग्याद-चाँस-ट्ह्व्युन (हि्जग्स-मेद-लिंग-पा) तथा अन्यान्य पुस्तकें, जो प्रसिद्ध तिब्बती विद्वानों द्वारा प्रणीत हैं, शोध-जिज्ञासुओं की अपेक्षा कर रही हैं। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त इस संग्रह में—दस-ह्रवोर-चाँस-ह्व्युन (History of Buddhism in India and Tibet—Buston) और तारानाथाही-चांस-हव्युन (लामा तारानाथ), जिनका अँग्रेजी रूपान्तर प्रकाशित हो चुका है-सुरक्षित है।

'सक्याही-र्ग्याल-रब्स' जो ग्राग्स-पा-र्ग्याल-मत्सान की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति है, तथागत बुद्ध के पूर्वज सक्य राजवंश का दिलचस्प वर्णन प्रस्तुत करती है। इसमें सुदर्शन, सम्पाती और मुचकुन्द जैसे अनेक प्राचीन भारतीय राजाओं के विस्तृत वर्णन भी प्रस्तुत किये गये हैं, जो अब तक इतिहास-वेत्ताओं के विवाद के कारण बने हुए हैं। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, सम्पाती मौर्यवंश का सिद्ध होता है, किन्तु अन्य राजाओं के सम्बन्ध में अद्यावधि इतिहास मौन है। इस पुस्तक द्वारा इतिहास के अन्धकारावृत्त पृष्ठों पर नवीन प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। आशा है, ऐतिहासिक अनुसन्धान के जिज्ञासुओं का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।

तिब्बती-ग्रंथ-भाण्डार की ऐतिहासिक पुस्तकों में 'तपाल-ल्दान-ड्से' प्रणीत 'सम्भा-लाही-लाम्-इग' अपना विशेष महत्व रखती है। इस पुस्तक में इस्लामी आक्रमणों से ध्वस्त मगध, उदन्तपुरी तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों का सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जो दशवीं-ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म-दर्शन की शिक्षा के लिए सचालित

किया गया था। विक्रमशिला का विश्वविद्यालय, जो गंगा के किनारे कहलगाँव के निकट 'अन्तीचक' गाँव में अवस्थित था, नालन्दा विश्वविद्यालय के समान ही एक उन्नत विद्या-केन्द्र था और 'वज्रयान' बौद्ध-सम्प्रदाय के अनेक जिज्ञासु सिलोन, तिब्बत, चीन तथा अन्यान्य बौद्ध-देशों से, यहाँ के चूड़ान्त विद्वानों से शिक्षा-ग्रहण करने के लिए आया करते थे। दीपकर जैसे कितने आचार्य विक्रमशिला से तिब्बत में 'वज्रयान' के प्रचार के निमित्त आमंत्रित किये गये थे। तिब्बती सम्राट् ठी-स्रोन-देत्सान द्वारा आमंत्रित महान् विद्वान् बौद्धभिक्षु 'पद्मसंभव' ने 'दान-इग-स्देल्दा' नामक पुस्तक में तिब्बत के प्राचीन राजाओं, रानियों, मंत्रियों और ग्रंथ-अनुवादकों का उल्लेख किया है तथा 'ल्ना-पा' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ग्सान-इग' में तिब्बत की तत्कालीन शासन-व्यवस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इस तिब्बती ग्रंथ-भांडार के ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुशीलन-परिशीलन के आधार पर ऐतिहासिक शोध के विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस संग्रहालय में संग्रहीत पुस्तकों द्वारा उन अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की सही और शुद्ध जानकारी प्राप्त होती है, जो अब तक अज्ञात थे। और यदि इनका उचित ढंग से शोधपूर्ण अध्ययन किया जाय, तो उससे भारतीय तथा तिब्बत के प्राचीन इतिहास पर निस्सन्देह पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

प्रस्तुत संग्रहालय में भारतीय तथा तिब्बती विद्वानों की जीवन-गाथाएँ बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, जो आत्मकथा, जीवनी तथा अन्य घटनाओं से सम्बन्ध रखती हैं। तिब्बती विद्वानों में यह आम प्रथा थी कि वे अपने जीवन की घटनाओं तथा अन्य सम्बन्धित बातों का उल्लेख सिद्धान्तों के निरूपण के लिए किया करते थे और ईमानदारी के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन कर अन्त में उसे मनोरंजक आत्मकथा या जीवन-गाथा के रूप में परिपूर्ण करते थे।

इस ग्रन्थावली के अन्तर्गत आत्मकथाओं तथा जीवन-गाथाओं का अपना विशेष ऐतिहासिक महत्व है। कितने भारतीय और तिब्बती विद्वान्-जिज्ञासुओं ने, जो नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी के महाविहार विद्या-केन्द्रों से सम्बद्ध थे—अपनी-अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा कीं और शिक्षा समाप्ति के बाद उन्होंने संस्कृत-दूत के रूप में, पड़ोसी देशों में प्रभावपूर्ण कार्य किया। आज उनके अभिलेख उस काल के विभिन्न देशों के राजनीतिक और सांस्कृतिक अवस्था के प्रत्यक्ष साक्षी हैं।

'र्नाम-थार-जानस-ग्लीन-म्हो,' और 'पद्मबखाह्-थान,' तिब्बत में लामावाद को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य पद्मसंभव की आत्मकथा हैं। बौद्धधर्म के महान प्रचारकों में आचार्य पद्मसंभव का नाम प्रथम पंक्ति का अधिकारी है। बौद्धधर्म के तिब्बतीय इतिहास में आचार्य पद्मसंभव को 'रिन्-पो-चे' अथवा 'लो-पोन' की संज्ञा दी गयी है, जिसका अर्थ महान धर्मगुरु होता है। आचार्य पद्मसंभव को ईसा की आठवीं सदी में तिब्बत के राजा 'थी-स्रोन-देत्सान' ने देश में फैली अस्वाभाविक स्थिति तथा प्रेतबाधा की शान्ति के निमित्त निमंत्रित किया और इनके वहाँ पधारने पर धार्मिक चमत्कार के कारण वहाँ की सारी व्याधियाँ शान्त हो गयी। आचार्य पद्मसंभव ने अपने धार्मिक चमत्कारों से वहाँ के बहुत बड़े जनसमूह को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्हें अपनी लोकप्रियता के कारण 'वज्रकार्य' की संज्ञा प्राप्त हुई। दूसरे भारतीय बौद्ध-धर्माचार्य जिन्होंने अपने पूर्व के आचार्य को प्रतिष्ठित किया

के नाम से अभिहित हैं। यह तिब्बती ग्रंथ-भांडार हमें उन महान बौद्ध विद्वानों के जीवन और कार्य के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्रदान करते हैं।

'ब्लो-स्ग्योन्-स्कोर-की वोद', 'जो-वोही-र्नाम-थर-रग्यास', 'द्काह्-ग्दाम्स-फा-चोस-की-स्कोर' आदि ग्रंथ आचार्य दीपंकर के सम्बन्ध में हमें दिलचस्प जानकारी प्रदान करते हैं। तिब्बत में आचार्य दीपंकर को 'जो-वो-र्जे-द्पाल-ल्दान-अतिसा' के नाम से जाना जाता है। आचार्य दीपंकर विक्रमशिला विश्वविद्यालय के आचार्य थे, जिन्होंने १०३८ ई० में तिब्बत के राजा 'ल्हा-लामा-ईशेस-ग्रोद' के सम्मानपूर्ण निमंत्रण पर तिब्बत की यात्रा की थी। उन्होने तिब्बत में जाकर लामाधर्म-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन प्रारंभ किया। आचार्य दीपंकर ने अपने जीवन का शेष भाग तिब्बत में बौद्धधर्म के सुधार तथा तिब्बती भाषा में बौद्ध धर्म-ग्रंथो के अनुवाद में लगाया।

जीवन चरित सम्बन्धी अन्य प्रमुख पुस्तकों में 'सम्स-र्ग्यास-यी-सेस्' जो 'बुद्धजनान' के नाम से भी जाना जाता है—की जीवनी 'म्खस-ग्रुब-ग्सुप-की-क्रोग्स-ब्रजोद' महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है। यह संस्कृत और बौद्ध-साहित्य का चूड़ान्त विद्वान् था। इसने सभी प्रमुख भारतीय शिक्षा-केन्द्रों में शिक्षा प्राप्त की थी। तक्षशिला में इसने आचार्य हरिभद्र का शिष्यत्व स्वीकार किया था तथा नालन्दा, उदन्तपुरी एवं विक्रमशिला में आचार्य लोहितवज्र से योग क्रिया में दक्षता प्राप्त की थी।

'मूग्रा-त्शहाद्-पा' लिखित 'बुस्तौन-र्नाम-थार' बुस्तौन की जीवनी है, जो तिब्बत में 'रिन-चेन-ग्रुप' के नाम से प्रसिद्ध है। बुस्तौन का काल १२९० ई० से १३६४ ई० तक का बताया जाता है। इसने अनेक पुस्तकें बौद्धधर्म की विभिन्न शाखाओं के संबंध में लिखी हैं और बौद्ध-संसार में ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। इसके द्वारा लिखित 'भारत और तिब्बत में बौद्ध धर्म' नामक पुस्तक संसार के विद्वानों द्वारा प्रामाणिक मानी जाती है।

इनके अतिरिक्त 'ह्ब्रुग्-र्ग्याल-द्वान' द्वारा लिखित 'त्सो-खा-पाही-र्नाम-थार-चेन-मो' जो 'त्सोन-खा-पा' बौद्ध-धर्म सुधारक की जीवनी है; 'तारा-नाथो-र्नाम-थार' प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् लामा तारानाथ की आत्मकथा तथा अन्य अनेक प्रामाणिक जीवनियाँ इस भांडार मे संग्रहीत हैं, जो बौद्ध-धर्म तथा इतिहास के अनेक अज्ञात पृष्ठों को उद्घाटित करने मे समर्थ हैं।

इस वर्ग में यात्रा-संस्मरणों के भी अनेक ग्रंथ हैं, जो अधिकारी बौद्ध विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं, और भारत के अनेक बौद्ध तीर्थों तथा विद्या-केन्द्रों का ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत करते हैं। तिब्बत में 'ईग-त्साम' या 'देव-तर' के नाम से जिसका उल्लेख किया गया है, वे अभिलेख हैं। उनके द्वारा धार्मिक महत्वपूर्ण स्थानों के नाम तथा तिब्बत-भारत संबंध का ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होता है।

२. दर्शन-शास्त्र और तंत्र-ग्रन्थ

भारतीय बौद्ध-परम्परा ने दार्शनिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी तिब्बती बौद्ध-परम्परा को बहुत प्रभावित किया बौद्ध युग में तिब्बती भिक्षुओं का उदन्तपुरी तथा

विक्रमशिला महाविहारो से घनिष्ट सम्बन्ध रहा और भारतीय बौद्ध विद्वानो के व निकट सम्पर्क म रहे। इस सम्पर्क के कारण समय-समय पर अनेक भारतीय विद्वानो ने बौद्ध-धर्म-दर्शन के प्रचार के निमित्त तिब्बत की यात्राएँ कीं।

महान बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के आविर्भाव के पूर्व बौद्धमत के सिद्धान्त दो धाराओ में विभक्त हो चुके थे जिसे 'हीनयान' और 'महायान' के नाम से अभिहित किया गया। किन्तु नागार्जुन ने 'मध्यमिका' यानी मध्यमार्ग का अपना एक नवीन सम्प्रदाय प्रारम्भ किया और उसने प्रत्येक समस्या का निदान तर्कयुक्ति के आधार पर प्रस्तुत किया। उसने अपनी सारी शिक्षाएँ तथा धर्म-दर्शन को 'प्रजन्यप्रमीता' नामक ग्रन्थ में संकलित किया। प्रस्तुत ग्रंथावली में 'म्मौन-र्तोग्स-र्ग्यान (असंग); 'ग्नौन-पा-मद्सोद' (अभिधर्म कोश, वसुबन्धु) तथा अन्य अनेक पुस्तकें संग्रहीत हैं।

असंग के चमत्कारपूर्ण यौगिक सिद्धि के फलस्वरूप योग-साधना के अन्तर्गत तंत्रवाद का बीज तिब्बत में ईसा की सातवीं शताब्दी में अंकुरित-पल्लवित हुआ। जिस तरह उस काल में भारत में बौद्ध संन्यासियों के बीच तान्त्रिक सिद्धियों की लोकप्रियता बढ़ी, उसी तरह तिब्बत में भी बौद्धभिक्षुओं का बड़ा समुदाय चमत्कारिक योग-साधना की ओर आकर्षित हुआ और शीघ्र ही असंग नागार्जुन तथा अन्यान्य बौद्ध आचार्यों के ग्रन्थ तिब्बती भाषा में बड़े उत्साह और परिश्रम से अनूदित हो गये।

तिब्बत में प्रारम्भिक अवस्था के बाद १० वीं सदी में तन्त्रविद्या का प्रचुर विकास हुआ और इसकी प्रसिद्धि 'कालचक्र'[1] के रूप में हुई, जिसे भूतबाधाग्रस्त बौद्धों ने 'मन्त्रयान' या 'वज्रयान' के रूप में ग्रहण किया। बाद में 'त्सौन-का-पा' ने इसके यथार्थ स्वरूप का निर्धारण किया और इसे 'क्रियातन्त्र', 'चर्यातन्त्र', 'योगतन्त्र' और 'अनुत्तरातन्त्र' के नाम से इनका वर्गीकरण किया। बिहार रिसर्च सोसायटी में जो तिब्बती ग्रंथ-समूह संग्रहीत हैं, उनमें तंत्रके इन सभी वर्गों के सम्बन्ध में पद्मसंभव, सग्स-र्ग्यास-पी-सेस, त्सोन-का-पा, बुस्तौन, कुन्दगा-स्नीन-पो (तारानाथ) जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इसके अतिरिक्त तंत्र की विधि और सिद्धि सम्बन्धी भी बहुत से ग्रंथ इस संग्रह में हैं, जिनमें तांत्रिक 'यंत्र' सम्बन्धी 'ना-व्जाह-बे-ब्बम्' और 'फियाग्-र्डोर-बो-बम' ये दो पुस्तकें अपने विषय की परम महत्वपूर्ण है। 'ज्कोद-स्फोर' नामक पुस्तक में भूत-प्रेतों की बाधा को शमन करने तथा उनको पराजित कर अपना दास बना लेने के अद्भुत चमत्कारपूर्ण रहस्यों को उद्घाटित किया गया है।

३. धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थ

यह परम्परागत ऐतिहासिक मान्यता है कि तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ और इस धार्मिक अभ्युदय का श्रेय तत्कालीन तिब्बत नरेश 'स्रोम-

---

१. 'कालचक्र' की उत्पत्ति एवं उत्पन्न कर्मों की हिन्दी की संक्षिप्त व्याख्या बिहार रिसर्च सोसायटी के विद्वान् ग्रन्थागारिक पं० राजेश्वर झा ने मुद्रित रूप में प्रस्तुत किया है।

त्सोन-गैम्पो को है किन्तु इस एतिहासिक मान्यता को तिब्बती विद्वान् 'ढुमी-सांभोता' ने चुनौती दी है और यह सिद्ध किया है कि तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश अति प्राचीन काल—ईसा पूर्व पाँचवी सदी में हुआ। ढुमी-सांभोता ने यह दावा किया है कि 'न्या-खी-त्सान-पो' वैशाली के राजा प्रसेनजित का वंशज तथा लिच्छवि कुमार था। वह ईशा पूर्व की ५वीं शताब्दी में तिब्बत आया और बौद्धधर्म प्रचार के लिए इसने भगीरथ प्रयत्न किया। ढुमी-सांभोता की वह पुस्तक तिब्बती-ग्रंथ-प्रशाल में संग्रहीत है और शोध-कर्त्ताओं द्वारा गहरे अध्ययन किये जाने की अपेक्षा कर रही है।

बौद्ध धर्म की स्थापना हो जाने के बाद इसके विकास की लहरें भारत से तिब्बत आने लगीं। तिब्बत के भिक्षुगण अनेकों की संख्या में नालन्दा, उदन्तपुरी तथा विक्रमशिला के महाविहारों में आये और शिक्षा ग्रहण की तथा बाद में बौद्ध धर्म के आगम ग्रंथों का अनुवाद किया। भारतीय बौद्ध विद्वान् भी धर्म प्रचार के उद्देश्य से तिब्बत जाते रहे तथा उन्होंने भी अनेक भारतीय बौद्ध-ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया।

बिहार रिसर्च सोसायटी के इस महान् संग्रहालय में बहुत बड़ी संख्या में बौद्धधर्म-शास्त्र, बौद्ध-प्रार्थनाएँ तथा बौद्ध-दर्शन की पुस्तकें संग्रहीत हैं। 'र्नाम-पार-ह्दाग्-ब्स्तुस्-पा' जो 'सद्गजोरा-पा' द्वारा प्रणीत ग्रंथ है—तिब्बत में बौद्ध धर्म का विस्तृत परिचय देता है। एक दूसरी पुस्तक 'जशोत-श्चाह्-स्कुत' में धार्मिक विवादों के लिए विधि-विधान बताये गये हैं तथा 'द्क्यान्स इग' में धार्मिक गीतों के जगाने की पद्धति बतलायी गयी है। 'तपाल-इदन-ईसे' द्वारा लिखित 'ब्चाह्-ईग' नाम की पुस्तक में लामाओं द्वारा निर्धारित अनेक विधि-विधानों का उल्लेख है।

इस ग्रंथ-संग्रहालय में प्रमुख तिब्बती विद्वानों द्वारा लिखित व्याकरण, काव्य तथा अन्यान्य साहित्यिक विधाओं की अनेक पुस्तकें हैं, जो संस्कृत की प्रसिद्ध साहित्यिक पुस्तकों के अनुवाद हैं। 'स्नान-दनाग्स-मे-लोन' और 'द्व्यान्स-चान-द्ग्येस-ग्ल्' संस्कृत के महान् ग्रंथकार दंडी के 'काव्यादर्श' पर तिब्बती में समीक्षात्मक पुस्तकें हैं। 'द्याग-ब्साम-ह्रत्री' और 'चिन-जी-दौन-ह्ग्रेल' 'कल्पलता' संस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद हैं। इस ग्रन्थ भांडार में ऐसे काव्य-ग्रन्थ भी हैं, जो तिब्बत के महान विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं और उनका अपना विशेष साहित्यिक मूल्य है। 'ब्लाम्ही-र्नाल-ह्ब्योर', 'नागाजी-द्वाङ्-पा' द्वारा लिखित धार्मिक गीत हैं तथा 'पधोही-रशाल-ग्यी-ज्दोस-गार' 'दपाल-स्प्रूल' द्वारा संकलित तिब्बती काव्य-सूक्तियों का संग्रह है। अन्य प्रसिद्ध साहित्यिक पुस्तकों में 'स्क्याब-ड्रीन-पा' विरचित 'ड्री-मेद-कुन-ल्दान-र्तोत-ब्जोद' तिब्बती कवियों का जीवन परिचय प्रस्तुत करता है। व्याकरण ग्रन्थों में अनेक तिब्बती वैयाकरणों द्वारा मौलिक रूप में लिखे गये हैं और वे संस्कृत व्याकरणों के तिब्बती अनुवादों के समान ही उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं। 'वाइन्स-म्दो' दुर्गा सिमहा द्वारा पाणिनि के धातुपद का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त इस भांडार में 'चन्द्र-व्याकरण', 'चन्द्र-व्याकरण टीका', 'कल्पसूत्र', 'पाणिनि-सूत्र' आदि ग्रन्थ संग्रहीत हैं।

४. कला और ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार के साथ तिब्बत में भारतीय कला-शिल्प का भी

व्यापक विकास हुआ। तिब्बती चित्र प्रणाली में 'भावचक्रमुद्रा' की प्राचीन और नवीन दो शलियाँ प्रचलित ह तिब्बती ग्रंथावली म कला की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें उपलब्ध है, जो 'बुस्तौन-पाद्दी-निमा', 'म्खास-ग्रुब', 'क्लोन्-र्दोल-लामा', 'ल्ना-पा' आदि ख्यातिलब्ध विद्वानों द्वारा प्रणीत हैं। 'री-मोद्दी-द्पे-स्नातशोरस' और 'री-मोद्दी-द्पे-स्नात्शोरस' दूसरा भाग, तिब्बती-ग्रन्थ-भांडार में चित्रकारिता पर महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं, जिनमें चित्रकला के विविध पहलुओं का विभिन्न विचार-विन्दुओं से विश्लेषण किया गया है।

भारतीय विद्वानों से अनुप्रेरित होकर तिब्बती विद्वानों ने भी ज्योतिष विद्या की ओर अपनी गहरी दिलचस्पी प्रदर्शित की। यह सच है कि भारतीय ज्योतिष ने यथावसर तिब्बती गणन-प्रणाली को विशेष रूप से प्रभावित किया। प्रस्तुत पुस्तकावली में ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी अनेक पुस्तकें, जो प्रख्यात तिब्बती बौद्ध विद्वानों द्वारा परिश्रमपूर्वक लिखी गई हैं—प्राप्य हैं; जिनमें 'कुन-फान-मे-लान', 'बई-द्कार-ग्यारह्-सेत', 'बैद्र-द्कार-बो', 'बै-द्कार-रतसिस-ग्शी' तथा अन्यान्य ज्योतिष गणना सम्बन्धी पुस्तकें बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। भारतीय गणकों के समान ही तिब्बती ज्योतिष के जिज्ञासुओं का भी विश्वास था कि ग्रहों का मनुष्य के भाग्य तथा मांगलिक जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। तिब्बती मठों के धर्मगुरु प्रायः भविष्यवक्ता भी हुआ करते थे और जीवन के तीन विशेष अवसरों—विवाह, मृत्यु तथा नये वर्ष के प्रारम्भ में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से शुभाशुभ की भविष्यवाणी किया करते थे। तिब्बती ग्रन्थ-भांडार में ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी बुस्तोन, ल्ना-पा, स्दे-स्रीत, तथा अन्य ज्योतिष विशारदों के ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इन पुस्तकों में ग्रह-नक्षत्रों के विभिन्न स्थान तथा अन्य ज्योतिष के सूक्ष्म तत्व विवेचित किये गये हैं। आचार्य पद्मसंभव विरचित 'लुन-बुस्तोन-ग्साल-सग्रौन' ज्योतिष सम्बन्धी ऋतु-विज्ञान की प्रामाणिक पुस्तक है।

५. चिकित्सा-विज्ञान और अन्यान्य

अन्य विषयों की भाँति तिब्बत निवासियों ने चिकित्सा विज्ञान में भी काफी उन्नति की थी। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन तथा औषधि निर्माण आदि में उन्होंने अपना मनोयोग-पूर्ण उत्साह दिखाया था। एक ओर तिब्बत निवासी जहाँ जादू-टोना, तंत्र-मंत्र आदि में विश्वास करते थे, वहाँ दूसरी ओर उस पुराने युग में चिकित्सा तथा औषधि-विज्ञान में भी प्रगति की तथा सुख्यात विद्वानों ने इस विषय पर पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें से कुछ श्री राहुल जी द्वारा उपलब्ध इस ग्रन्थ-भांडार में सुरक्षित हैं। 'यान-त्सु-रग्या-म्त्सो' द्वारा लिखित 'स्मान-ब्दुद-र्त्सिह्दी-थेग-प' बहुत ही उपयोगी और प्रमुख भैषजीय संदर्भ ग्रन्थ है। अन्य चिकित्सा-ग्रन्थों में 'देसित' का 'बईदूर-स्नौन-पो', 'बुस्तौन' का 'स्थ्योर-बा-ब्रज्ञाही-म्छान' तथा अन्यान्य पुस्तकें, जो चिकित्सा को विवेचित करती हैं, भैषज-विज्ञान में विशेष महत्व रखती हैं।

उपलब्ध ग्रन्थ-भांडार में उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त अनेक ऐसी पुस्तकें भी हैं जो विभिन्न विषयों पर अधिकारिक प्रकाश डालने में समर्थ हैं और अपने विषय में उनका साहित्यिक तथा वैज्ञानिक मूल्य है। बिहार रिचर्स सोसायटी के इस बहुमूल्य धरोहर और स्वर्गीय महापंडित श्रीराहुल सांकृत्यायन के ज्वलन्त स्मारक में अनुसंधान और शोध की विपुल सम्भा

बनाए अन्तर्निहित है। किन्तु खेद की बात है कि इस राष्ट्रीय वैभव का मूल्यांकन अभी तक नहीं किया जा सका है, जिसके फलस्वरूप इस विराट् ग्रन्थ-संग्रह का अब तक कोई विस्तृत-विवरणात्मक एवं व्याख्यात्मक सूची-ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। इस 'तिब्बती-ग्रंथ-प्रशाल' में १,६,१९ जिल्दें, व्यवस्थित रूप में अपने ऊपर शोध कार्य की प्रतीक्षा कर रही हैं। आशा है, सरकार का ध्यान इस महान् राष्ट्रीय धरोहर की ओर आकृष्ट होगा।

● ●

देव और बिहारी विषयक विवाद : उपलब्धियाँ

●

किशोरी लाल

रीतियुग की काव्य-रचना ऐहिक जीवन के मादक एवं सरस प्रभावों से पूर्ण तथा अनुप्राणित रही है, यही कारण है कि उस युग की समस्त शृंगारिक रचनाएँ आधुनिक जीवन की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हैं। इनमें ऐन्द्रिय संवेदना के इतने बिखरे हुए चित्र मिलेंगे, जिन्हें दूसरे युग का वाङ्मय नहीं दे सकेगा। डॉ० ग्रियर्सन ने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य की रचनाओं की तुलना 'आगस्टन युग' की रचनाओं से की है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में यह युग काव्य-कला एवं काव्य-कौशल युग के रूप में अभिहित किया गया है। देव और बिहारी इसी 'आगस्टन युग' के कलाकार थे। डॉ० रसाल ने देव और बिहारी जैसे कवियों की उत्कृष्ट काव्य-कला समन्वित रचनाओं के कारण इस युग को 'काव्य-कला' युग कहना अधिक औचित्य-पूर्ण समझा है।

दूसरी ओर, जीवन की नैतिक मान्यताओं की कसौटी पर खरे न उतरने के कारण देव और बिहारी की रचनाओं को उपेक्षणीय दृष्टि से देखा गया है। किन्तु सत्य यह है कि रीति युग के कलाकार आत्म स्वर के साधक नहीं थे, उनकी वाणी यौवन के उन्माद का ही शृंगार करती रही। उनकी दृष्टि 'कला के लिए' जैसे सिद्धान्त में संतुलित रही, इस तथ्य को ठीक से न ग्रहण करने के कारण एडविन ग्रीव्ज महोदय की बिहारी विषयक समीक्षा विचारणीय है। उनके अनुसार बिहारी में मात्र बौद्धिक प्रगल्भता थी। उनमें स्वात्य वैशिष्ट्य निरूपण की चेतना का सर्वथा अभाव था। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को प्रगतिशील बनाने का कोई प्रयास नहीं किया। वास्तव में ग्रीव्ज महोदय के इस कथन में सत्यांश होते हुए भी इतना स्पष्ट है कि उन्होंने बिहारी की सूक्ष्म कला विधायिनी प्रतिभा और सौन्दर्यानुभूति के मार्मिक स्वरूप का विश्लेषण यथोचित रूप से नहीं किया। यही नहीं, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार ग्रीव्ज महोदय ने देव और बिहारी के कवि होने में भी संदेह व्यक्त किया है। वस्तुतः हिन्दी आलोचना के इति-हास में देव और बिहारी विषयक विवाद की चर्चा एक ऐसी महत्वपूर्ण कड़ी है जिसने परवर्ती

---

१. द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, भूमिका पृ० २०, प्र० सं० १८८९।

आलोचना के स्वरूप के संगठन में पर्याप्त योग दिया है। इस लेख का विषय देव और बिहारी विषयक विवाद की उपलब्धियों की विस्तारपूर्वक समीक्षा करना है। इस विवाद के मैदान में कई योद्धा एवं प्रभविष्णु आलोचक उतरे। बिहारी की अपने अमोघ वाग्-बाण से रक्षा करने वालों में लाला भगवानदीन एवं पं० पद्म सिंह शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। बाद में पंडित लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी भी इस क्षेत्र में उतरे, किन्तु देव विषयक विवाद शृंखला को बढ़ाने वालों में मिश्रबन्धु तथा पं० कृष्ण बिहारी मिश्र अग्रगण्य हैं।[1] देव और बिहारी के इस विवाद से मूलतः कई मौलिक तथ्य प्रकाश में आये। इन तथ्यों एवं उपलब्धियों की चर्चा सुविधानुसार इस प्रकार की जा सकती है :—

१. प्रौढ़ एवं व्यवस्थित तुलनात्मक आलोचना का प्रवर्तन।
२. शुद्ध पाठ और अर्थ विषयक भ्रांतियों का निराकरण।
३. शब्दों की निरुक्ति विषयक छानबीन।
४. भाषागत विकृतियों एवं व्याकरणिक स्वरूप का विवेचन।
५. भाव-सौन्दर्य एवं कलागत सूक्ष्म तत्त्वों का निरूपण।

काव्य-स्वरूप के विश्लेषण में तुलनात्मक अनुशीलन का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तु के स्वरूप का यथार्थ महत्व और ज्ञान तभी हो सकता है, जब असमानता की दृष्टि से पूर्णतया विवेचन किया जाय।[2] हिन्दी में इस पद्धति के प्रचलन के पूर्व इसका रूप हिन्दी एवं संस्कृत की महत्वपूर्ण सूक्तियों में ही सिमटा रहा था। उदाहरण के लिए :

(क) सूर सूर तुलसी शशी, उड्गन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥
(ख) दंडिनः पदलालित्यं भारवे अर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का अन्य रूप प्राचीन टीका-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। श्रीपति ने अपने 'काव्य सरोज' में सेनापति और केशवदास आदि के काव्य की समीक्षा की है। प्रधानतः तुलनात्मक आलोचना का उत्कृष्ट रूप मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' में देखने को मिला। इसमें श्रेष्ठता के अनुसार हिन्दी के नव कवियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई और सबसे मुख्य बात यह थी कि इसमे तुलसी और सूर के पश्चात् देव को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। देव और बिहारी विषयक विवाद की अविच्छिन्न धारा का सूत्रपात्र यहीं से होता है। इसके अनन्तर बिहारी पर लगाए गए आरोपों का समुचित उत्तर देने के लिए कमर कसकर इस युद्ध में कूदनेवालों में थे, पं० पद्मसिंह शर्मा। उन्होंने मिश्र-बन्धुओं के भद्दे और पक्षपातपूर्ण विचारों का प्रतिवाद बड़ी निष्ठा एवं गम्भीरता से किया। उनकी बिहारीसतसई के भाष्य की भूमिका इसी विवाद को पुरस्सर करती है। यहीं से हिन्दी में प्रौढ़ एवं व्यवस्थित तुलनात्मक आलोचना का दर्शन हमें होता है। इसकी सबसे

१. देव और बिहारी (भूमिका भाग) : पं० कृष्ण बिहारी मिश्र।
२. हिन्दी आलोचना-उद्भव और विकास : डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, पृ० २३७।

बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें संस्कृत एवं प्राकृत काव्य की सुदीर्घ परम्परा का अनुसरण करते हुए बिहारी की काव्यगत विशेषताओं का अत्यन्त मार्मिक एवं सहृदय-संवेद्य रूप उद्घाटित किया गया है। शर्मा जी की बिहारी विषयक गूढ़ एवं गम्भीर तथ्यग्राहिणी प्रतिभा का रूप 'सतसई' मे कई स्थलों पर देखने को मिला है। उनकी आलोचना का दूसरा रूप इसकी शास्त्रीयता थी। उनको शास्त्रनिष्ठा प्रतिभा ने संस्कृत काव्य-शास्त्र की मान्य एवं सुदृढ़ परम्परा को ग्रहण करते हुए बिहारी के दोहों का गूढ़ गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया। शास्त्रीयता के आलोक में उन्होंने बिहारी के कई अनुद्घाटित मौलिक उपादानों की चर्चा की। उन्होंने बिहारी की काव्यगत सौन्दर्य-दीप्ति और वचन भंगिमा का मूल्यांकन अमरशतक, गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती और विकट नितम्बा आदि के मुक्तक छन्दों द्वारा की।

शर्मा जी की तुलनात्मक समीक्षा के मूल में उनकी सहृदयता और आनन्द-भाव की तन्मयता भी व्याप्त रहती है। उनके 'वाह उस्ताद, क्या कहने हैं', 'कितना माधुर्य है' आदि वाक्य उनकी प्रभाववादी समीक्षा के ही रूप को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार शर्मा जी ने अपनी तुलनात्मक आलोचना के क्रोड़ में हिन्दी समीक्षा-सिद्धान्त के अनेक रूपों को पल्लवित किया। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-समीक्षा शर्मा जी की पर्याप्त ऋणी है। इस दिशा मे उनकी यह उपलब्धि श्लाघ्य एवं प्रशंसनीय है।

तुलनात्मक आलोचना के सामान्यत: तीन रूप मिलते हैं :—

१. किसी ग्रन्थ की टीका अथवा व्याख्या करते समय अन्य कवियों के समान भाव वाले छन्दों का उपयोग।

२. किसी कवि की सांगोपांग समीक्षा करते समय कुछ प्रसंगों में अन्य कवियों के छन्दों से तुलना।

३. दो कवियों की अनेक प्रसंगों में विशद व्याख्या और विवेचन।

पं० कृष्णबिहारी जी मिश्र की तुलनात्मक समीक्षा उक्त तीसरे रूप के अन्तर्गत आती है। मिश्र जी से पूर्व शर्मा जी ने इस रूप के सूत्रपात में किसी भी प्रकार का योग नही दिया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'देव और बिहारी संजीवन-भाष्यकार द्वारा मिश्र बन्धुओ पर लगाये गए आरोपों का जवाब देने के लिए लिखी थी। 'देव और बिहारी' के अन्तर्गत मिश्र जी ने बड़े संयम एवं गम्भीरता के साथ शर्मा जी के विचारों का खंडन किया है और देव और बिहारी विषयक अपनी धारणाओं को उत्तम शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित आलोचकों ने भी पं० कृष्णबिहारी मिश्र की इस संयमित आलोचना की प्रशंसा की है, और मिश्रबन्धुओं की अपेक्षा इन्हें आलोचना का सच्चा अधिकारी माना है।[1] मिश्र जी की तुलनात्मक आलोचना ने समीक्षा के गर्हित एवं अभद्र स्वरूप के उभारने का प्रायः कोई प्रयास नहीं किया। इस दृष्टि से मिश्र जी की आलोचना के दो रूप अत्यन्त स्पष्ट हैं :—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५३१।

१. आलोचना का अनाविल एवं निष्पक्ष स्वरूप।

२. विवेचना शक्ति और कवि-सुलभ सहृदयता का समन्वय।

मिश्र जी ने देव और बिहारी के विवादास्पद-स्थलों का निर्णय अपनी मान्य एवं तर्कसंगत कसौटी के आधार पर किया है, उनकी आलोचना व्यंग्य और उपहास की प्रवृत्ति से बहुत कुछ बची है। उन्होंने बड़े निष्पक्ष भाव से बिहारी और देव के काव्य गुणों के सौंदर्य और काव्य गरिमा का विश्लेषण किया है। उनकी आलोचना के संतुलित रूप का एक नमूना लीजिए—

"आकार एवं प्रकार में देव की कविता बिहारी के काव्य से अत्यधिक हैं, परन्तु लोकप्रियता में बिहारीलाल देव जी से कहीं अधिक यशस्वी हैं, संस्कृत एवं भाषा के अन्य कवियों के भावों को दोनों ही कवियों ने अपनाया है, पर यह वृत्ति देव की अपेक्षा बिहारीलाल में कदाचित् अधिक है, दोनों ही कवियों का काव्य मधुर व्रजभाषा में निबद्ध है। मिश्र जी की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक शक्ति और उनकी हृदयग्राहिता का नमूना :

"चतुर माली जितनी सफाई से एक छोटे चमन को सजा सकता है, उतनी सफाई से समग्र वाटिका को सजाने में बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। छोटे चित्र को रँगते समय यदि दो चार कूचियाँ भी चल गईं तो चित्र चमचमा उठता है। परन्तु बड़े चित्र को उसी प्रकार रँगना विशेष परिश्रम चाहता है।

'देव बिहारी' के पश्चात् लाला भगवानदीन ने मिश्रबंधुओं के देव विषयक अनुचित पक्षपात और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा देव और बिहारी विषयक उठाए गए विवाद का उत्तर देने के लिए 'बिहारी और देव' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। इसमें संदेह नहीं कि लाला जी की वस्तुनिष्ठ प्रतिभा ने देव की भाषा-विषयक विकृतियों की पकड़ में अपूर्व एवं अद्वितीय सफलता प्राप्त की, लेकिन देव की सूक्ष्म कलात्मक अनुभूतियों एवं सरसता के वे अधिक प्रशंसक नहीं थे। मिश्रबन्धुओं और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र की आलोचना करते समय लाला जी में संतुलित दृष्टि का प्रायः अभाव मिलता है।

देव और बिहारी विषयक दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि शुद्ध पाठ और अर्थ विषयक भ्रांतियों के निराकरण से संबंधित है। यद्यपि इस युग का सम्पादन वैज्ञानिक पाठ शोधन की दृष्टि से अत्यधिक संतोषजनक नहीं है लेकिन अपनी साहित्यिक शोध परिधि एवं इयत्ता के अन्तर्गत उनका महत्व आज भी अक्षुण्ण है। वैज्ञानिक पाठ शोधन प्रणाली के समर्थक साहित्यिक सम्पादन की उपेक्षा करके अपने पाठ को सर्व प्रकारेण सुग्राह्य और वैज्ञानिक रूप नहीं दे पाते। वस्तुतः देव और बिहारी के इस झगड़े ने नानाविध शुद्ध पाठों और अर्थ-समस्या मूलक गुत्थियों को सुलझाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अब उन विवादास्पद स्थलों पर विचार किया जायगा, जिनकी चर्चा उस युग की एक मनोरंजक घटना थी। बिहारी सतसई के कुछ भ्रष्ट पाठों का अंश लें :

(क) बिहारी बिहार और प्रभुदयाल पांडे की सतसई का एक पाठ है—

'इक कुइगत सी ह्वै चली दुकचित चली निहारि'

मिश्रबंधुओं ने यही पाठ उत्तम माना और अर्थ भी इसी के आधार पर किया। किन्तु

इस पाठ के विरुद्ध लाला भगवानदीन जी न एक उत्तम और अर्थसंगत पाठ स्वीकार किया। उनका पाठ इस प्रकार है

(ख) डगकु डगति सी चलि ठठकि, चितई चली निहारि'

उन्होंने डगकु के उचित अर्थ पर विचार करते हुए लिखा है कि यहाँ यह 'एक डग' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार मिश्रबंधुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में 'कुकत' शब्द की विकृति के संबंध में अपने विचार प्रकट किए। लाला जी ने इस पाठ की शुद्धता के संबंध में संदेह व्यक्त किया और सही तथा दुरुस्त पाठ इस प्रकार प्रस्तुत किया—नतरकु कत इन बिय लगत उपजत बिरह कृसानु। मिश्रबन्धु महोदयों ने 'नतरुक' शब्द को ठीक नहीं माना। उनके कथनानुसार 'नतरु' शब्द होना चाहिए इसमें 'कु' प्रत्यय व्यर्थ है। वस्तुतः मिश्रबंधुओं की यह जाँच ठीक प्रतीत होती है।

'खुंदी' शब्द को मिश्रबन्धुओं ने एक देशीय एवं असाधारण माना है, किन्तु लाला जी ने असाधारण एवं मरोड़ा हुआ नहीं माना।[1] 'लाय' शब्द 'लगनि' अर्थ में सर्वथा अशुद्ध है। लाला जी के अनुसार लाय 'आग' के अर्थ में अब भी बुंदेलखंड में बोला जाता है। लाला जी ने 'उलि' को अशुद्ध बताया और शुद्ध पाठ 'झूलि' माना है, जिसका अर्थ 'झूलना' होता है। उसे मिश्रबंधुओं ने स्वीकार नहीं किया। मिश्रबंधुओं ने लाला जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'बिहारी-बोधिनी' के कुछ शब्दों के पाठ और अर्थ के संबंध में आपत्ति प्रकट की है। 'बिहारी बोधिनी' के दोहा संख्या २१ में प्रयुक्त 'जोर' पाठ को मिश्रबंधुओं ने अशुद्ध माना है। उनके अनुसार 'जौर' (जुल्म) शब्द होना चाहिए। मिश्रबंधुओं की यह पकड़ उचित प्रतीत होती है, क्योंकि नीचे की पंक्ति में 'और' के तुक में 'जोर' अशुद्ध है। इसी प्रकार लाला जी के 'दौरि' अर्थ पर मिश्र-बंधुओं ने आपत्ति प्रकट की है। उनके अनुसार 'दौरि' दौड़ने के ही अर्थ में है, उड़ने के लिए नहीं।[2] लाला जी ने प्रभुदयाल पांडे के 'लैन' पाठ को अशुद्ध माना है और उसके स्थान पर 'ऐन' पाठ शुद्ध बताया है। इसी प्रकार पं० गणेश बिहारी मिश्र ने बहुत पहले देव के तीन ग्रंथों का सम्पादन 'देव ग्रंथावली' नाम से किया था। इसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था। इसमें पं० गणेश बिहारी मिश्र की गलत एवं भ्रांत टिप्पणियों की छानबीन लाला जी ने पर्याप्त श्रम के साथ की है। इसकी कुछ चर्चा की जा रही है। प्रेम चंद्रिका पृ० ३ पर उद्धृत 'चख के चखक भरि चाखत ही जाँहि' छन्द के 'चखक' का अर्थ मिश्र जी ने 'गजक' लिखा है। इसके शुद्ध अर्थ चषक (प्याला) के संबंध में लाला जी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। कहीं-कहीं मिश्र जी ने पाठ ही बदल दिया, यथा, 'जंबूरस बुंद जमुना जल तरंग में 'की जगह जंबू नद बुंद जमुना तरंग में पाठ कर दिया। 'जंबूनद' का अर्थ 'सोना' लिखा है। संस्कृत में सोना अर्थ अवश्य है, लेकिन प्रसंगानुसार यह अर्थ औचित्यपूर्ण नहीं है। आश्चर्य है कि

१. बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ० १२।

२. बिहारी बोधिनी : लाला भगवानदीन, दोहा सं० ७५।

३. जंबूनद सोने के अर्थ में, आप्टे कोश, पृ० २२०।

लाला जी ने भी जंबूरस 'जमुना का रस' माना। यहाँ जंबूरस जामुन का रस ही उचित है।[1] यत्र तत्र लाला जी की अर्थ-विषयक सूचनाएँ बड़े महत्व की हैं। एक स्थल पर उन्होंने मिश्र-बंधुओं के 'सौरई' और 'दौरई' की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'सौरई' का अर्थ स्मरण और 'दौरई' का बेचैन और 'रोमांच' कथमपि नहीं होता। उनके अनुसार दौरई 'श्यामता' अर्थ में कौरई 'सौरियाने' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सौरियाना भिखमंगे के हठ के अर्थ में आज भी बोला जाता है। आधुनिक एवं प्राचीन हिन्दी कोशों में सौरई शब्द नहीं मिलता है। लाला जी की यह खोज सराहनीय है। कहीं-कहीं पाठों के कारण सारा अर्थ-सौष्ठव लुप्त हो जाता है और विकृत पाठों का यह दोष कवि की प्रतिभा के सिर मढ़ दिया जाता है। मिश्रबंधुओं ने देव के एक उत्तम छन्द में पाठ-दोष का ध्यान न देने के कारण दुःप्रबंध दूषण बतलाया है। लाला जी ने इस दोष का निराकरण करते हुए एक प्राचीन पाठ की समीचीनता पर पूर्णरूपेण विचार किया है। मिश्र बंधुओं और लाला जी के पाठों की बानगी दी जा रही है—

मिश्रबंधुओं का पाठ : (क) बड़े बड़े नैननि ते आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलाने जात।[2]

लालाजी का पाठ : (ख) बड़ी बड़ी आँखिन ते आँसू बड़े ढरि ढरि
गोरे गोरे मुख परि ओरे से बिलात जात।[3]

अब 'डाढ़ी' शब्द लीजिए। इस शब्द का अर्थ मिश्रबंधु महोदय 'दौरहा आग' बतलाते है, लेकिन शिलाकारी जी ने लाला जी के आधार पर उसे 'जली हुई' अर्थ में ग्रहण किया है।[4] वास्तव में जली हुई अर्थ में सूर और तुलसी आदि कवियों ने भी इसे प्रयुक्त किया है। अतः यही अर्थ ठीक है।

इस विवाद ने कई शब्दों की निरुक्ति एवं उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों के औचित्य पर विचार करने की भी प्रेरणा दी। बहुत से लुप्त हो जाने वाले शब्दों की नये सिरे से छानबीन की गई। अतः निरुक्ति विषयक उपलब्धि उस युग की एक अति महत्वपूर्ण देन है। मध्ययुगीन काव्य के ये मनस्वी बहुत कुछ कोशकारों के भी दायित्व एवं अध्यवसाय को समेटे हुए अपनी साधना में सतत प्रयत्नशील रहे। देव के कुछ ऐसे शब्दों की सूची दी जा रही है, जिसे लाला जी ने देव के विकृत शब्दों की चर्चा करते हुए बहुत पहले पेश की थी—[5]

टिकासरो	टेक + आश्रय
दरब	दर्प

१. बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ० ५३।
२. मिश्रबंधु विनोद, प्र० भाग, पृ० ३२।
३. बिहारी और देव, पृ० ६०।
४. बिहारी दर्शन : लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी, पृ० ७७।
५ बिहार और देव, पृ० १८।

दुभीख	दुर्भिक्ष
मृगछी	मृगाक्षी
भभीख	भविष्य
ज्वारी	ज्वानी
कौल	कमल
उदेत	उदोत

'गौहरे' शब्द की चर्चा सबसे पहले लोकनाथ द्विवेदी ने की। गौहरे यथार्थ में ब्रजभाषा का ठेठ शब्द, अब भी 'गोशाला' अर्थ में बोला जाता है। 'पनिहा' शब्द का प्रयोग बिहारी-सतसई के अलावा हरीराम व्यास की रचनाओं में भी मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इसे बुंदेलखंडी शब्द कहा है,[१] लेकिन सिलाकारी जी ने इसे संस्कृत 'प्रणिधा' का अपभ्रंश माना है,[२] जो औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है, इसका अर्थ 'दूत या गुप्तचर' बतलाया गया है, 'संक्षिप्त शब्द सागर' में 'पनहा' शब्द मिला है, इसे कोशकार महोदय संस्कृत 'पण' का विकृत रूप बताते हैं और अर्थ चोर का 'पता लगाने वाला' दिया है। इसी प्रकार कई शब्दों की निरुक्ति विषयक वास्तविक सूचनाएँ पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रबंधुओं की भ्रांतियों का निराकरण करने के सिलसिले में दीं; यथा, 'समर' : सं० स्मर, संक्रांति : सं० संक्रमण (अपभ्रंश संक्रोन) 'सोने जाई' : सं० 'स्वर्ण जाति' अथवा स्वर्णयूथिका। संस्कृत में वारि और 'वार' दोनों हैं। 'वार्द' का अर्थ भी बादल होता है। लाला भगवानदीन ने 'बाथ' की उत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखा है कि यह शब्द राजपूताने में बोला जाता है। इसका अर्थ अँकवार (सं० अंकमाल) है। संक्षिप्त शब्दसागर में इसका अर्थ तो दिया गया है, लेकिन उत्पत्ति की जगह केवल संदेहात्मक चिह्न लगाकर छोड़ दिया गया गया है। 'तूठ्यौ' सं० 'तुष्ट' का विकृत रूप है और बींद शब्द की चर्चा करते हुए लाला जी लिखते हैं, यह 'वद्' धातु से बना है और अब तक राजपूताने में बोला जाता है। उलाहित[३] 'शीघ्रता के अर्थ में अब भी बुंदेलखंड में बोला जाता है। 'चुटकि' शब्द से परिचित न होने के कारण पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र ने इसकी बड़ी दुर्दशा की है।[४] सूर काव्य के एक मान्य विद्वान् ने भी 'चुटकि' की बड़ी भ्रामक टिप्पणी जड़ी है। वास्तव में यह हिन्दी का शब्द है और कोड़ा मारने के अर्थ में देव और बिहारी दोनों की रचनाओं में मिला है। 'आघु' सं० 'अर्घ' का रूप है और महार्घ का मँहगा विकृत रूप आज भी बोला जाता है।[५]

देव और बिहारी की भाषा विषयक दो विरोधी धारणाएँ हैं, पहली आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल और लाला भगवान दीन की और दूसरी मिश्रबंधु और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र की।

---

१. हिन्दी नवरत्न : मिश्रबंधु, पृ० २२८।
२. बिहारी दर्शन : सिलाकारी पृ० ८७।
३. पद्मसिंह शर्मा, पृ० २७३।
४. सूर सुषमा, पृ० ६००।
५. बिहारी और देव : लाला भगवानदीन, पृ० ८।

आचार्य शुक्ल और लाला जी ने बिहारी की भाषा को देव की तुलना में अधिक आदर्श और व्याकरण-सम्मत माना है और इधर मिश्रबंधुओं और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने देव की भाषा के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि भाषा साहित्य में देव और मतिराम इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। इसमें संदेह नहीं कि भाषा विकृति देव और बिहारी दोनों की रचनाओं में मिलती है, लेकिन नाद-सौन्दर्य, अनुप्रास और यमकप्रियता के कारण देव को बिहारी की तुलना में भाषा के प्रसाद गुण को प्राय: खो देना पड़ा। भूषण और देव को शुक्ल जी ने भाषा को तोड़ने-मरोड़ने के संबंध में अधिक दोषी ठहराया है। यह कथन जितना सत्य है, उतना यह भी सत्य है कि भाषागत मादक संगीत की जैसी अटूट धारा हमें देव में मिलती है, वह बिहारी में संभव नहीं है। देव और बिहारी के अन्यान्य गुणों के विवाद के साथ ही उनकी भाषागत विकृति और व्याकरणिक रूप के विवेचन में कम छानबीन नहीं हुई। लाला जी तो देव की भाषा के पीछे हाथ धोकर पड़े रहे। उनकी भाषा-विकृति विषयक पकड़ अचूक है। देव की भाषा को व्याकरण की प्रत्येक दृष्टि से कसने का प्रयास किया है। इधर डॉ० नगेन्द्र ने और विस्तार से देव की भाषा की सुन्दर विवेचना की है। देव की भाषा विषयक जाँच कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। क्रिया, वाच्य, वचन सभी दृष्टियो से उनकी भाषा का विश्लेषण किया जाता है। बिहारी की भाषा का विवेचन भी प्राय: इसी भाँति हुआ। पहले मिश्रबंधुओं द्वारा लगाए गए बिहारी की भाषा विषयक आक्षेपों पर विचार करना आवश्यक है।

१. संज्ञारूप :—मिश्रबंधुओं के अनुसार बिहारी ने केला को 'केलि' कर दिया, जो कि सर्वथा विकृत प्रयोग है। इसे लाला जी ने भी स्वीकार किया। इसी प्रकार पाँव के लिए 'पाउ' भी उचित शब्द नहीं है। बिहारी के दूसरे आलोचकों ने भी बिहारी के भाषा-स्वरूप का सम्यक् विवेचन किया है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति' एवं 'बिहारी' नामक ग्रंथों में उनकी भाषा पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

२. क्रियापद :—बिहारी ने यत्रतत्र 'कीन' 'दीन' जैसी अवधी क्रियाओं का भी प्रयोग किया है, जो आदर्श भाषा के लिए सर्वथा अनपुयुक्त है। 'देषिबी', 'लखिबी' जैसी बुंदेलखंडी भविष्यत् क्रियाओं का प्रयोग भी चिन्त्य है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी इसे उत्तम नहीं माना है।

(अ) क्रिया रूप : देव ने क्रियाओं का प्राय: मनमाना प्रयोग किया है। देव के तुकाग्रह और अनुप्रासप्रियता ने क्रियाओं के आदर्श रूप के सँवारने में किसी प्रकार का योग नहीं दिया। लाला भगवान दीन ने उनकी क्रियाओं के मनमाने प्रयोग की बड़ी कड़ी आलोचना की है।

लाला जी के अनुसार देव ने पोषण करने के लिए पुखात क्रिया का प्रयोग किया है, इसके उत्तर में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने केशव को प्रस्तुत किया है। मिश्र जी के अनुसार केशव ने शोभा पाने के लिए 'शोभजति' क्रिया का प्रयोग किया है। यही नहीं, चित्र

---

१. हिन्दी नवरत्न : मिश्रबंधु, पृ० २९२।

खोचने के लिए 'चित्रै' का प्रयोग किया है, इसी तरह क्रियाओं के लिंग के संबंध भी मे पर्याप्त गड़बड़ी हुई है, यथा, "खैंचि खरोदई दौरि सखी के उरोजन बीच सरोज फिराय कै" इसमें लाला जी ने दई सकर्मक क्रिया माना है, लेकिन कर्म के लुप्त होने के कारण यह अच्छा प्रयोग नहीं कहा जा सकता। "देव केलिकानन में कहकहा कोकिल की" में लाला जी ने कहकहा को पुलिंग माना है, लेकिन देव के अनुसार यह स्त्रीलिंग है, क्योंकि षष्टी विभक्ति स्त्रीलिंग सूचक है। ऐसा अनुमान है कि यह कहकहा 'कोकिली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लाला जी ने देव की लहरिया, घहरिया और छहरिया आदि को क्रियाओं का विकृत रूप माना है। पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने इसे उत्तम मानते हुए इसकी अच्छी वकालत की है और सूर के पदों में भी ऐसे प्रयोगों का संकेत किया है। 'बिज्जु छटा छहराय उठ्यो' को लाला जी ने व्याकरण से गलत माना है। लाला जी का यह तर्क सर्वथा सत्य है, क्योंकि 'बिज्जु' कर्त्ता स्त्रीलिंग में है। इसलिए यहाँ 'छहराय उठी' क्रिया होनी चाहिए। वास्तव मे क्रियाओं के प्रयोग में देव ने यत्र तत्र बडी अनियमितता दिखलाई है। उन्होंने भविष्यत् काल की क्रियाओं के लिए 'बितै हौंगी' जैसे प्रयोग कर दिया है। इसी प्रकार एक स्थल पर मिश्रबंधुओं ने बिहारी के 'मरिबो भयो असीस' मे 'मरिबो' क्रिया के रूप में माना है। किन्तु पं० पद्मसिंह शर्मा ने इसका अर्थ 'मरना आशीर्वाद के समान है' माना है। मिश्रबंधुओं ने बिहारी की क्रिया 'खटकति' को सदोष माना है। उनके अनुसार, यह बहुवचन में होनी चाहिए। इसके प्रतिवाद में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'खटकति' दोनों लिंगों में बहुवचन मानी गई है।

(ब) वाक्य विषयक गड़बड़ी : देव की भाषा में वाक्य से संबंधितबड़ी 'भूलें हुई हैं लेकिन यत्र तत्र भूलों की बलात् उद्भावना भी की गई है। देव की इस पंक्ति में "काके कहे लूटत सुने हो दधि दान मैं कर्म वाच्य की क्रिया का ध्यान न देने के कारण वाक्य कुछ अजीब-सा मालूम होता है। डॉ नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि इसका खींचतान कर अन्वय होगा, 'काके कहे दधि दान लूटत मैं सुने हो' लेकिन इसका अन्वय यदि इस प्रकार हो, 'काके कहे दधि दान मैं लूटत सुने हो' "किसके कहने से दान (टैक्स) के रूप दधि लूटते हुए सुने गए हो) तो अधिक उत्तम होगा। और ऐसे वाक्य पदों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शिकायत की गुंजाइश नहीं होगी।

३. विशेषण का भद्दा प्रयोग : देव की रचनाओं में लाला जी ने कुछ भद्दे विशेषणो के प्रयोग की भी चर्चा की है। यथा, 'धीमों तेज' के स्थान पर भीनों तेज मिलता है। देव मे विशेषणों के प्रयोग कहीं-कहीं क्रिया का भी भ्रम पैदा कर देते हैं इसीलिए हिन्दी के मान्य आलोचक डॉ० नगेन्द्र को भी देव की इस पंक्ति में वचन विषयक भूलें मालूम हुई है, 'पायन को चित चायन को बल लीलत लोग अथायनि बैठ्यौ'। फिर भी पंक्ति विचारणीय है। यहाँ उसका अर्थ यों होगा, 'अथायनि में बैठे हुए लोग।' 'लीलत' वर्तमान काल की क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ। डॉ० नगेन्द्र ने "बैठ्यौ' शब्द को क्रिया माना है। इसी से इसमें वचन विषयक दोष स्पष्ट लक्षित होता है।

मुहावरे भाषा की जान माने गए हैं। देव और बिहारी की भाषा में भी मुहावरो की अच्छी छानबीन की गई है। बिहारी के मुहावरों की प्रशंसा उनके आलोचकों ने हृदय से

की है। इधर देव की भाषा-विषयक भूलों की चर्चा करते हुए लाला भगवानदीन ने उनके रद्दी मुहावरों की भी चर्चा की है। उनके अनुसार, देव ने मुहावरों की मिट्टी पलीद की है। इसमें संदेह नहीं कि देव ने मुहावरों का उत्तम प्रयोग नहीं किया, लेकिन लाला जी ने देव के जिस छन्द में मुहावरे के दोषपूर्ण प्रयोग की बात कही है, वह फिर भी विचारणीय है। छन्द यों है :

'लाजनि हौं लरजौं गहिरी बरजौं
गहिरी कहिरी केहि दायन।'

लाला जी के अनुसार इसमें दो मुहावरे हैं, 'गहिरी लरजन' और 'गहिरी बरजन'—'बहुत काँपना' और 'बहुत बरजना' के अर्थ में ये शब्द मुहावरे हैं, किन्तु प्रतीत यह होता है कि इसमें एक ही मुहावरा है—'गहिरी लरजना', और दूसरे गहिरी को पूर्वकालिक क्रिया मानना अच्छा होगा। यहाँ विशेषण नहीं होगा, जैसा लाला जी ने माना है। पूरे वाक्य का अर्थ यों होगा—'अरी बतला, किसी ढंग से उन्हें (नायक को) पकड़ कर मना करूँ, क्योंकि मैं लज्जा से अत्यन्त काँप रही हूँ।'

यद्यपि देव और बिहारी को लेकर काफी मोर्चेबन्दी हुई, फिर भी उनकी कलात्मक और भावात्मक अनुभूतियों की गहरी पैठ की क्षमता रखनेवाले इन आलोचकों की सराहना आज भी होती है। एक युग था जब लाला भगवानदीन बिहारी के कला-विधन की जी खोल कर तारीफ़ करते थे और बहुविध कलात्मक सौष्ठव को उद्घाटित करने वाले अवयवों का सुन्दर परिचय पाठक को देते थे। लाला जी और उनकी सजग शिष्य मंडली रीति-काव्य की ऐसी सूक्ष्म पारखी थी कि भाव एवं कला दोनों दृष्टियों से यह निरूपित कर लेती थी कि कहाँ कितना और किस प्रकार का दोष है। यथा, लाला जी की रुग्णावस्था में देव के एक प्रसिद्ध सवैये को लेकर काव्य-चर्चा हो रही थी। लाला जी इसके भाव-सौन्दर्य पर जितने मुग्ध हो रहे थे, उतने ही अन्तिम पंक्ति के 'पतत्प्रकर्ण दोष' पर नाराज। यह सवैया यों है :

'माखन सो मन दूध सो जोबन है दधि ते अधिकै उर ईठी,
जा छबि आगे छपाकर छाछ समेत सुधा बसुधा सब सीठी,
नैनन नेह चुवौ कवि देव बुझावत बैन वियोग अंगीठी
ऐसी अनोखी अहीरी अहै कहौ क्यों न लगे मनमोहनै मीठी॥

इसकी बारीकियों पर ध्यान जाने पर पं० बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'मनमोहनै' शब्द को अनावश्यक बताया और प्रसंग के सर्वथा विरुद्ध। उनके अनुसार, सभी उपमान गोरस से सम्बद्ध हैं इसलिए 'क्यों न लगे या गुपालहि मीठी' कह देने से पतत्प्रकर्ष दोष का परिहार हो जाता है।[1] यह वही सवैया है जिसे पढ़ते-पढ़ते पं० कृष्णबिहारी मिश्र तन्मय हो जाते थे और जिसके भाव और कलागत सौन्दर्य के निरूपण में उहोंने काफी निष्ठा व्यक्त की है।

चमत्कार के साथ ही साथ कृष्णबिहारी मिश्र ने देव की गंभीर भाव-व्यंजना की प्रसंशा भी अधिक की है।

बहुत पहले की बात है जब 'माधुरी' के किसी अंक में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने

---

१. बिहारी : पं० बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५४।

देव के प्रसिद्ध छन्द ' राजपौरिया को रूप राध को बनाय लाई ' के एक एक शब्द की पच्चीकारी और भाव-व्यंजना के विश्लेषण के निमित्त कई पृष्ठों का उपयोग किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि बिहारी और देव के सम्बन्ध में विवादों के बावजूद इनके छन्दगत, वर्ण-मैत्री, शब्द मैत्री एवं भाव-सौन्दर्य से युक्त गुणों का उद्घाटन भी हुआ है।

● ●

ध्रुवदेवी की जाति

•

एस० एन० प्रसाद

ध्रुवदेवी की जाति प्राचीन भारतीय इतिहास की एक जटिल समस्या है, क्योंकि इतिहासकार के समक्ष किसी भी प्रकार की सुरक्षित सामग्री अभी तक सुलभ नहीं है, जिससे कि इसकी जाति-निर्धारण की महत्वपूर्ण समस्या पर प्रकाश पड़ता हो। संपूर्ण समस्या प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्येता के समक्ष पहेली के रूप में दिखाई देती है। अतः लेखक को कतिपय अन्य स्रोतों का आश्रय लेना पड़ रहा है, जिसके आधार पर वह केवल प्रकल्पना ही कर सकता है। ऐसे अन्य स्रोत भी दुर्भाग्य से बहुत ही कम हैं, यदि कुछ हैं भी तो उन पर सहसा विश्वास करके कुछ निष्कर्ष निकालना उचित नहीं प्रतीत होता।

इन कठिनाइयों के बाद यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस समस्या के हल निकालने के अध्ययन की प्रक्रिया स्वयं में महत्वपूर्ण और मनोरंजक है। ध्रुवदेवी के विवाह का गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्ध के परिवेश में केवल पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध के स्वरूप के अतिरिक्त, राजनीतिक विकल्प भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। गुप्त सम्राटों में वैवाहिक सम्बन्ध के माध्यम से राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ करने की एक स्वस्थ परम्परा पाई जाती है।[1] इस नीति से गुप्त-नृपों ने राज्य-विस्तार, संगठन आदि को ध्यान में रखते हुये इसे राजनीति के अस्त्र के रूप में प्रयोग किया था।[2]

---

१. (अ) जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १८, ६, पृ० ५५।
(ब) वही, १८ ९३, पृ० ८१।
(स) जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १९३७, पृ० १०५।
(द) इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द १५, पृ० ५८२।
(य) थामस कमोमोरेशन वाल्यूम, पृ० ११५ और अन्य।
(र) अल्टेकर : वाकाटक गुप्ता एज, पृ० १०३।

२. (अ) प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति २३-२४।
(ब) फ्लीट का इ० इ०, जि० ३, पृ० १४।

बहुत संभव है कि ध्रुवदेवी सर्वप्रथम समुद्रगुप्त के अयोग्य ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त की राजमहिषी रही हो और कालान्तर में वह शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, जो कि समुद्रगुप्त का सुयोग्य कनिष्ठ पुत्र था, उसकी महारानी हो गई हो। कतिपय विद्वान् इस सम्बन्ध की ऐतिहासिकता को सन्देह की दृष्टि से देखने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि समुद्रगुप्त, जो कि परमभागवत था, निश्चय ही हिन्दू धर्म का वास्तविक प्रतीक था। अनार्य भारतीय वर्ण-व्यवस्था के नियमो की मान्यताओं को तोड़कर अपने ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त का[1] विवाह एक शक-कन्या के साथ उसने कैसे किया होगा, यह प्रश्न निश्चय ही विचारणीय है। किन्तु समुद्रगुप्त ने स्वयं ही अपने अभिलेख मे इस प्रकार के विवाह का उल्लेख किया है।[2] प्रयाग प्रशस्ति, जिसमें इस तथ्य का उल्लेख है, उसका प्रशस्तिकार भी गुप्त-साम्राज्य के प्रशासन का एक विशिष्ट अधिकारी था। वह समुद्रगुप्त का सन्धिविग्रहिक (युद्ध और शान्ति का मंत्री) कुमारामात्य (गुप्त प्रशासन में वर्त्तमान आई० ए० एस० के प्रकार की राजकीय प्रशासकीय सेवा की गुप्तकालीन उपाधि) एवं महादण्डनायक (पुलिस-व्यवस्था एव न्याय का प्रधान) आदि महत्वपूर्ण पदों पर सुशोभित था। अतः इस उल्लेख की विश्वसनीयता में किंचित भी संदेह के लिए स्थान नहीं है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से यह तथ्य स्पष्ट है कि उसकी क्षण भर में उन्मूलन करने वाली भुजाओ के बल के भय से कुषाण, शक, मुरुण्ड, सिंहल तथा अनेक द्वीपों के शासकों ने उसकी प्रभुता स्वीकार की। इन्होंने समुद्रगुप्त की सेवाओं क लिए आत्मनिवेदन किया तथा उसकी गरुणांकित मुहर को अपने राज्य में, शासन के लिए याचना की। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने राज्य की सुन्दरी कन्याओं को उसे भेंट किया तथा वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये।[3] प्रयाग प्रशस्ति के इस विषय मे विद्वानों मे मतैक्य नहीं है। कुछ के अनुसार यह वाक्य शक के लिए प्रयुक्त हुआ है। परन्तु यह मत उचित नहीं है, क्योंकि प्रयाग प्रशस्ति में केवल तीन शक्तियों का ही वर्णन नहीं है। डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय ने हरिषेण के इस कथन की ऐतिहासिकता को नहीं स्वीकार किया है। उन्हे इसमे काव्यात्मक अतिशयोक्ति का दर्शन होता है।[4] परन्तु डॉ० चट्टोपाध्याय के मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि हरिषेण युद्ध और शांति का

---

१. (अ) आर सरस्वती : इंडियन एन्टीक्विटी, जिल्द ५२, पृ० १८१।
   (ब) डॉ० डी० आर भण्डारकर : मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० १८९।
   (स) डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल : ज० बि० उ० रि०सो० जिल्द २३, पृ० ४४४।
   (द) डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी : हिस्टारिकलस क्वार्टरली, जि० १०, पृ०४८।
   (य) डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार : वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४८-१५२।

२. देवपुत्रशाहिशाहानुशाहीशकमुरंडे : सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्क स्वविषयभुक्तिशासनयाचना-द्युपायसेवाकृत बाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य, प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति २३-२४।

३. प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति २३-२४।

४. डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय : अर्ली हिस्ट्री आफ नार्थ इंडिया, पृ० १९५।

मंत्री, कुमारामात्य तथा महादण्डनायक जैसे महत्वपूर्ण पदों का अधिकारी था।[१] वह पहले एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था, बाद में कवि। युद्ध और शांति का मंत्री युद्ध के अवसरों पर सम्राट् के साथ रहता था। उदयगिरि के गुहालेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्धिविग्रहिक युद्धादिक काल में राजा के साथ ही रहता था।[२] इस महत्त्वपूर्ण इतिहास के उल्लेख को सहसा कोरी कवि कल्पना तथा अतिरंजित उल्लेख मानना समीचीन नहीं है। प्रशस्ति की इस पंक्ति से स्पष्ट है कि इन विदेशी शासकों ने अपने तथा अपने यहाँ की सुन्दरियों, अपनी कन्याओं आदि को सम्राट् समुद्रगुप्त को भेंट किया होगा। इस संदर्भ में 'स्वामी' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। यह शब्द प्राय: शकों के साथ जुड़ा रहता था। ध्रुवदेवी को वैशाली की मुहर[३], संजन ताम्रपत्र अभिलेख[४] तथा राजशेखर की 'काव्य मीमांसा'[५] में ध्रुवस्वामिनी कहा गया है। 'स्वामी' शब्द शक उत्पत्ति का है तथा यह पुरुषवाचक है। इसका स्त्रीलिंग निस्संदेह 'स्वामिनी' ही होगा। इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी के साथ संलग्न 'स्वामिनी' के आधार पर इसे शक प्रमाणित किया जा सकता है। प्रयाग प्रशस्ति की तेईसवीं पंक्ति से यह स्पष्ट है कि शक आदि नृपो ने समुद्रगुप्त के आधिपत्य को ही नहीं स्वीकार किया, उन्होंने अपनी कन्याओं को उस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिये भेंट में दिया होगा। उसमें शकों की भी कन्यायें होंगी, यह स्वाभाविक है। इस समय के नामो में कन्यायों के साथ स्वामिनो से ध्रुव नाम कदाचित् ध्रुवस्वामिनी का ही है। प्रयाग प्रशस्ति की तेरहवीं पंक्ति से यह स्पष्ट है कि शकों ने समुद्रगुप्त के आधिपत्य को स्वीकार किया तथा अपने प्रति समुद्रगुप्त के मित्रतापूर्ण संबंध के लिए बहुत सम्भव है कि उसने अपनी कन्या ध्रुवस्वामिनी का विवाह समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त के साथ कर दिया हो। ध्रुवदेवी सम्भवतः ध्रुवस्वामिनी (जो कि शक नाम है) का भारतीयकरण जान पडता है। बहुत उचित है कि यह नाम शक-गुप्त वैवाहिक संबंध के बाद ही रखा गया हो। हिन्दुओं में आरम्भ से ही कन्याओं का नाम देवी या देवी तुल्य अन्य नाम रखने की परम्परा थी और आज भी है। ध्रुवदेवी शब्द पूर्णरूपेण भारतीय है। अतः यह प्रतीत होता है कि गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की कुलवधू ध्रुवस्वामिनी के नाम का ध्रुवदेवी के रूप में भारतीयकरण किया गया। इसी कारण गुप्तवंश के अभिलेखों में 'ध्रुवस्वामिनी' (मौलिक) नाम का प्रयोग नही मिलता। गुप्त राजाओं के अभिलेखों में उसके भारतीय नाम 'ध्रुवदेवी' से उसे अभिहित

---

१. सन्धिविग्रहिककुमारामात्यमहादंडनायक हरिषेणस्यसर्वभूतहितसुखायास्तु।
—प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति ३२।

२. कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।
भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत्॥
—चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहा अभिलेख, श्लोक ५।

३. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : दी गुप्ता इम्पायर, पृ० ४६।

४. अमोघवर्ष प्रथम का संजन ताम्रपत्र अभिलेख ए० इ०, जि० १८, पृ० २४८।

५. काव्यमीमांसा ९, ४७।

किया गया है ' गुप्त नृपों की विशेषत समुद्रगुप्त की भागवत धर्म के प्रति विशिष्ट निष्ठा तथा भारतीय परम्पराओं के प्रति अगाध श्रद्धा का द्योतन इसी से हो जाता है कि उसने अपनी ज्येष्ठ पुत्रवधू के शक नाम ध्रुवस्वामिनी तक को भी भारतीय संस्कृति के आवरण में रंग दिया।

गुप्त अभिलेखों से पता चलता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। परन्तु कतिपय साहित्यिक अभिलेख तथा मुद्रा-संबंधी स्रोतों से समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अनन्तर रामगुप्त नामक एक शासक के विषय में पता चलता है। बहुत सम्भव है, इन दोनों सम्राटों के मध्य कुछ समय के लिए उसने शासन की बागडोर सँभाली हो।

समुद्रगुप्त गुप्त-साम्राज्य का प्रधान राजा था। उसकी सैन्य-संगठन तथा बहुमुखी प्रतिभा से अनेकों समकालीन शक्तिशाली राजाओं को झुककर तथा मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर रहना पड़ा था। शकों की शक्ति ने, जो कि किसी भी शक्ति से कम भयंकर न थी, कन्योपायनदान की नीति से समुद्रगुप्त को अपने पक्ष में किया। समुद्रगुप्त ने सम्भवतः उसके वैवाहिक सम्बन्ध को अपने ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त के साथ स्वीकार किया होगा।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद ऐसा आभास होता है कि गुप्त साम्राज्य पर अल्प काल के लिए दुर्दिन के मेघ छा गये थे। यह समुद्रगुप्त के शत्रुओं के लिए निस्संदेह स्वर्णिम अवसर था कि उसके दुर्दिन से वे लाभ उठायें। कुछ ने उठाने की चेष्टा भी की। उनमें शक प्रमुख है। दुर्भाग्यवश उसका उत्तराधिकार, भारतीय राजनीति की परम्परा के अनुसार, रामगुप्त ऐसे निर्बल शासक को मिला। शकों ने उसको परेशान करने के लिए तथा अपनी कन्या अथवा बहन ध्रुवस्वामिनी को ऐसे क्लीव शासक के हाथ से छुड़ाने के लिए आक्रमण किया तथा उसमें सन्धि की सबसे प्रमुख शर्त ध्रुवस्वामिनी को वापस लेना रखा (चाहे जिस रूप में)। इसी आड़े समय में गुप्तवंश के राष्ट्र तथा वीर समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठा पर आँच लगते देख उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से न रहा गया होगा। फलतः उसने स्वयं शक स्कन्धावार में जाकर (ध्रुवदेवी के वेश में) शकराज की हत्या की तथा बाद में अयोग्य एवं क्लीब भाई रामगुप्त का भी वध कर दिया और उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से स्वयं विवाह कर लिया।

रामगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी शत्रु के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। प्रो० राखालदास बनर्जी के अनुसार वह कोई कुषाण शासक रहा होगा, क्योंकि 'शक' शब्द का प्रयोग भारतीय इतिहास में बहुत लचीले रूप में हुआ है, जैसे यवन शब्द का प्रयोग केवल मुसलमानों के ही

---

१. (अ) धर्मादित्य के काल फरीदपुर ताम्रपत्र अभिलेख में 'गोपाल स्वामी' सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, पृ० ३५४।
(ब) गोपालचन्द्र के काल का फरीदपुर ताम्रपत्र अभिलेख में वत्स 'स्वामी' सरकार, वही, पृ० ३५७।
(स) मल्लालमारुल का गोपाचन्द्र के समय का विजयसेन को अभिलेख में "महावा-मनस्वामी," वत्सस्वामी। सरकार, वही, पृ० ३६१।
मुरुण्डदेवी को 'मुरण्डस्वामिनी' भी कहा जाता था। वही, पृ० ३७०-३७१।

लिए नहीं वरन् विदेशी शत्रु के लिए होता था। इसी प्रकार शक शब्द का प्रयोग भी था। अतः 'देवपुत्रशाहिशाहानुशाहि' लोगों ने निश्चय ही समुद्रगुप्त की मृत्यु पर लाभ उठाने की चेष्टा की होगी। डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार यह कोई मुरुड शासक रहा होगा[1] परन्तु अधिकांश विद्वान् शक को ही मानते हैं, जिसकी चर्चा बाणभट्ट ने भी की है। राजशेखर ने उसे अपने 'काव्य मीमांसा' में 'शकाधिपति' ही कहा है। वे भारत के अधिकांश भागों पर शासन करते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य उनका पूर्णरूप से उन्मूलन कर शकारि की उपाधि से अलंकृत हुआ था। डॉ० अल्तेकर ने ठीक ही कहा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शक शासक रुद्रसेन द्वितीय से युद्ध हुआ था। इस मत की पुष्टि मुद्राओं से और अधिक हो जाती है। शकों की 'महाक्षत्रप' उपाधि दीर्घकाल से प्रयोग में नहीं थी परन्तु शक स्वामी रुद्रसेन द्वितीय ने उसे धारण किया था। यह निश्चय ही उसकी शक्ति तथा राजनीतिक समृद्धि का द्योतक है। वह अपने पूर्ववर्ती शक नृपों से निश्चय ही अधिक शक्तिशाली एवं राजनीति में आगे रहा होगा। अतः यह बहुत सम्भव है कि समुद्रगुप्त महान के मृत्योपरान्त, जबकि गुप्त-साम्राज्य का सिंहासन एक अति अयोग्य तथा क्लीव के हाथ में चला गया था, उसने उचित अवसर समझ कर गुप्त-साम्राज्य के कुछ अंश उससे छीन लिये होंगे। इस प्रकार रुद्रसेन द्वितीय ने समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त अपने राज्य का विस्तार किया तथा महाक्षत्रप की उपाधि से विभूषित हुआ। परन्तु उसे उस निर्बल नृप के कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त द्वितीय, जो कि वास्तव में विक्रम में आदित्य के समान था, पराजित किया।[2]

● ●

---

१. डॉ० दशरथ शर्मा : दी शक राइवल ऑफ रामगुप्त, इ० क० जि० ५, पृ० ३२८-३० ।

२. डॉ० उदय नारायण राय (रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय, प्रयाग) के अमूल्य मार्ग-दर्शन तथा सक्रिय सहायता के लिए मैं उनका ऋणी हूँ। श्री विद्याधर मिश्र (प्राध्यापक प्राचीन इतिहास विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) के प्रति आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने प्रस्तुत अनुसंधान में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

पद्मावत के अर्थ-संकेत

●

रामकुमार गुप्त

जायसी कृत पद्मावत में लोक और अध्यात्म का अद्भुत समन्वय है। पद्मावत के उत्कृष्टतम स्थल वही हैं जहाँ लौकिकता और आध्यात्मिकता की मिली-जुली अभिव्यक्तियाँ पाठक को लोकोत्तर आनन्द में डुबो देती हैं। ऐसे स्थलों पर लघु और विराट् की, व्यष्टि और समष्टि की तथा व्यक्त और अव्यक्त की एकता का आभास कवि बड़ी सहजता के साथ करा देता है और पाठक मंत्रमुग्ध होकर कवि की कुशलता पर स्तब्ध रह जाता है। नगर, सरोवर, उद्यान आदि प्रकृति-रूपों, गढ़, हाट, पिंजर आदि विविध वस्तुओं तथा वेणी, नेत्र, आदि शरीर अवयवों के वर्णनों में कवि की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

जायसी के इन वर्णनों में आए हुए आध्यात्मिक संकेतों की प्रकृति इतनी वैविध्यपूर्ण है कि उनको केवल अन्योक्ति, समासोक्ति या रूपक की शास्त्रीय सीमाओं में बाँधना कठिन है। भिन्न स्थलों पर कवि आध्यात्मिक संकेतों के लिए भिन्न युक्तियों का आश्रय लेता है। सिंहलद्वीप की घनी अमराइयों का वर्णन करते हुए कवि पहले चित्र-विधान का सहारा लेकर अमराइयों के स्थूल दृश्य को इन्द्रियगोचर बनाता है फिर अतिशयोक्ति का सहारा लेकर दृश्य के प्रभाव को तीव्र बनाने की चेष्टा करता है। पुनः एक कदम आगे बढ़कर वह इस लघु दृश्य का विराट् सृष्टि के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध जोड़ता है। इसी क्रम में वह समासोक्ति के सहारे दृश्य की अलौकिक क्षमता को इंगित करते हुए संपूर्ण लौकिक दृश्य को आध्यात्मिक आभा से मंडित कर देता है। निम्नाङ्कित पंक्तियाँ इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं :—

> घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा।
> तरिवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छाँह रैनि होइ आई।
> मलय समीर सोहावन छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ।
> ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास देखावै।
> पथिक जो पहुँचै सहिकै घामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू।
> जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा।[1]

1, जायसी ग्रन्थावली : संपादक रामचन्द्र शुक्ल, चतुर्थ संस्करण पृ० ११-१२।

उपर्युक्त पंक्तियों में आध्यात्मिकता के पुट से प्रस्तुत विषय का सौन्दर्य नष्ट नहीं होता वरन् वह और भी प्रदीप्त हो उठता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक निष्कर्षों की सटीक व्यंजना काव्य के तात्पर्य को विकसित कर कवित्व को ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। अंतिम दो चौपाइयों में समासोक्ति का आधार है प्रतीक। अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ प्रतीकों के सहारे व्यंजित हुआ है।

मानसरोवर के वर्णन में कवि मानसरोवर के स्थूल दृश्य को इन्द्रियगोचर नहीं कराता वरन् उसके प्रधान गुणों और प्रमुख विशेषताओं को पद्मावती के दिव्य (पारस) रूप के साथ सम्बद्ध करके अलौकिक वातावरण की सृष्टि करता है। इस वर्णन में अतिशयोक्ति और समासोक्ति का आधार भी कवि ने नहीं लिया है। इसमें कवि पहले मानसरोवर का मानवीकरण कर हमें लौकिकता से आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करता है और फिर पद्मावती के दिव्य रूप को सृष्टि-सौन्दर्य का मूल-स्रोत सिद्ध करने के लिए परंपरागत उपमानों को आधार बनाता है :—

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पाँयन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे।
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल, गै तपनि बुझाई।
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा। भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा।
पावा रूप रूप जस चहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।[1]

उपर्युक्त अंशों में मानसरोवर के जल की निर्मलता, वायु की शीतलता, कमलादि पुष्पों की प्रफुल्लता, हीरे-रत्न आदि की झिलमिलाहट और हंसों की शुभ्रता को सौन्दर्य के मूल स्रोत से दृष्टि-स्पर्श द्वारा संबद्ध करके अलौकिक सौन्दर्य की व्यंजना की गयी है।

उद्यान-वर्णन के अन्तर्गत नाना प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे हैं। कवि की आध्यात्मिक वृत्ति उनके स्वरों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों या परमसत्ता के व्यंजक शब्दों को स्पष्ट सुन लेती है। उसके नेत्र जब संपूर्ण सृष्टि में परमसत्ता का दर्शन करते हैं तो उसकी श्रवणेन्द्रिय ही क्यों पीछे रहे :—

बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाखा। करहिं हुलास देखि कै साखा।
भोर होत बोलहिं चुहचुही। बोलहिं पांडुक "एकै तुही"
सारौं सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परेवा औ करबरहीं।
"पीव पीव" कर लाग पपीहा। "तुही तुही" कर गडुरी जीहा।
"कुहू कुहू" करि कोइल राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाखा।
"दही दही" करि महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपुन हारा।
कुहुकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कुराहर बोलहिं कागा।

१. जायसी ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, संपा० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २५।

आवत पंखी अमत के भरि बैठे अमराउँ।
आपनि आपनि भाषा, लहि दई कर नाउ।[1]

उपर्युक्त अवतरण में कवि का संकेत है कि न केवल मानव वरन् पशु-पक्षी भी उस परम सत्ता के विरह में व्याकुल होकर उसकी आराधना करते हैं। यहाँ आध्यात्मिक संकेत के हेतु आलंकारिता का आश्रय नहीं लिया गया है। लौकिक दृष्टि से इस प्रसंग में भिन्न-भिन्न पक्षियों की बोली की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने में कवि की सजगता का आभास मिलता है और ध्वनि-साम्य के आधार पर भिन्न-भिन्न स्वरों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों की झंकार को सुन लेना कवि की पारमार्थिक वृत्ति को इंगित करता है।

सिंहलगढ़ के वर्णन में जो सांकेतिक अर्थ व्यंजित हुआ है वह परमसत्ता का संकेत न देकर योग साधना के अंगों की ओर संकेत करता है। इस विस्तृत वर्णन में गढ़ के स्थूल अंगों का ब्यौरा अतिशयोक्तिमूलक है। गढ़ की ऊँचाई, खाईं, परकोटा, ड्योढ़ी, सिंहद्वार एवं रक्षकों आदि का वर्णन अपने प्रस्तुत अर्थ में अत्यन्त प्रभावशाली है। गढ़ के कतिपय उपकरण योग-परक अप्रस्तुत अर्थ व्यक्त करते हैं। जैसे नवपौरी, दशमद्वार, पंचकोतवाल, राज घड़ियाल आदि। गढ़ के भीतर की संपूर्ण रचना मानव-शरीर की भीतरी रचना के समानान्तर है और इसका वर्णन पूर्णतः योग साधना में सहायक शरीरावयवों के अनुसार हुआ है :—

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुण्ड एक मोती चूरू। पानी अमृत, कीच कपूरू।

ओहि क पानि राजा पै पीया। बिरिध होइ नहिं जौ लहि जीया।
कंचन बिरिछ एक तेहि पासा। जस कलपतरु इंद्र कबिलासा।
मूल पतार, सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा।
चाँद पात, औ फूल तराईं। होइ उजियार, नगर जहँ ताहिं।
वह फल पावै तप करि कोई। बिरिध खाइ तो जोबन होई।[2]

प्रस्तुत अवतरण का प्रतीकार्थक कोश निम्न प्रकार है :—

गढ़	काया
नीर-खीर दो नदियाँ	इड़ा-पिंगला नामक नाड़ियाँ
द्रौपदी	(प्राण शक्ति के) अक्षय भंडार वाली
मोतीचूर का कुंड	सहस्रार या सहस्रदल कमल
कंचन वृक्ष	सुषम्ना का मार्ग
पातालस्थ मूल	मूलाधार चक्र

---

१. वही (सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड) पृ० ११।

२. जायसी ग्रंथावली, चतुर्थ संस्करण, संपा० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६।

स्वर्ग	ब्रह्मरन्ध्र
अमर बेलि	ब्रह्मानन्द

सिंहलद्वीप खण्ड में हीरामन योगी रत्नसेन के समक्ष गढ़ का जो वर्णन करता है उस पर आध्यात्मिक रंग अधिक गाढ़ा है :—

सो गढ़ देखु गगन तें ऊँचा। नैनन्ह देखा, कर न पहूँचा।
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी। औ जमकात फिरै जमकेरी।
धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएउ दुइ आधा।
चाँद सुरुज और नखत तराईं। तेहि डर अंतरिख फिरैं सबाहिं।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस टूट भुइं रहा।
अगिनि उठी जरि बुझी निआना। धुआँ उठा उठि बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ आइ भुइं चूआ।[1]

उपर्युक्त अवतरण में गढ़ की ऊँचाई को अतिशयोक्ति के सहारे व्यंजित किया गया है। फिर उसे अगम्य तथा केवल अनुभव की वस्तु बताकर उसमें अलौकिकता का आभास दिया गया है। आगे की पंक्तियों में उसे एक ओर जगन्नियन्ता की विभूति का केन्द्रस्थल बताया गया है और दूसरी ओर, योगी के चरम साध्य ब्रह्मरन्ध्र का प्रतीक बताया गया है। चाँद, सूर्य, पवन, अग्नि, जल आदि प्राकृतिक पदार्थ जैसे उसी परमतत्व को पाने के लिए ऊँचे उठने की चेष्टा करते हैं किन्तु असफल होकर पुनः भूमि पर वापस आ जाते हैं। इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा के सहारे कवि ने संपूर्ण वातावरण को घने आध्यात्मिक आवरण से ढंक दिया है।

सिंहल की तरह हाट का वर्णन भी कवि अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में प्रारंभ करता है किन्तु वर्णन के उपरान्त कवि साधक की क्षमता को चुनौती देता हुआ आध्यात्मिकता का आभास देता है :—

जिन्ह एहि हाट न कीन्ह बेसाहा। ता कहँ आन हाट कित लाहा।

कोई करै बेसाहनी, काहू केर बिकाइ।
कोई चलै लाभसन, कोई मूर गँवाइ।[2]

यहाँ क्रय-विक्रय, हानि-लाभ आदि सांकेतिक प्रयोग सांसारिक जीवन में आध्यात्मिक उपलब्धियों के महत्व को प्रतिपादित करते हैं। यहाँ जीव को सावधान रहने की जरूरत है, क्योंकि लक्ष्यप्राप्ति में बाधक-तत्वों की कमी नहीं :—

चरपट चोर गँठिकटा, मिले रहहिं ओहिनाच।
जो ओहि हाट सजग भा, गथ ताकर पै बाँच।[3]

---

१. जायसी ग्रंथावली, चतुर्थ संस्करण, संपा०, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८-१९।
२. वही, सिंहलद्वीप-वर्णन खंड, पृ० १४।
३. वही. सिंहलद्वीप-वर्णन खंड, पृ० १५।

कवि की दृष्टि संसार के सभी पदार्थों में आध्यात्मिक संदेश की झलक देख लेती है। पिंजड़ा खाली कर पक्षी उड़ गया। कवि के समक्ष जीवन का सत्य उभर कर आ गया :—

पींजर जेहिक सौंपि तेहि गएऊ। जो ताकर सो ताकर भएऊ।
दस दुवार जेहि पींजर माहाँ। कैसे बाँच मँजारी पाहाँ।[1]

इसी प्रकार नैहर, हार आदि अनेक वस्तुओं का वर्णन करते हुए कवि ने पारमार्थिक संकेतों की व्यंजना की है। ये संकेत किसी विशेष मतवाद का पोषण नहीं करते, सामान्य सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं।

पद्मावती के रूप वर्णन के प्रसंग में जायसी के आध्यात्मिक संकेत सबसे सुन्दर बन पड़े हैं। व्यक्ति सौन्दर्य से विराट् सौन्दर्य की ओर कवि की दृष्टि अनायास चली जाती है—

सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई।
ससिमुख अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।
ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहाँ।
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चन्द दिखावा।
दसन दामिनी कोकिल भाखी। भौंहैं धनुष गगन लेइ राखी।
नैन खंजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं।

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहि लेइ।
पावँ छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहि देइ।[2]

यहाँ रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, भ्रांतिमान आदि अलंकारों के सहज प्रयोग से पद्मावती का लौकिक सौन्दर्य अलौकिक दीप्ति से भर गया है। उसके जूड़ा खोलकर बाल झाड़ने से स्वर्ग और पाताल तक अंधकार व्याप्त हो जाता है—

बेनी छोरि झार जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा।[3]

पद्मावती की भौंहों के श्याम धनुष वही हैं जिनसे कृष्ण ने कंस को, राम ने रावण को, अर्जुन ने मछली को और परशुराम ने सहस्त्रबाहु को मारा था।[4] यहाँ पौराणिक प्रतीकों के प्रयोग ने वर्णन में अलौकिकता का संचार कर दिया है। नेत्रों की एक साधारण क्रिया वर्णन को असाधारण और अलौकिक बना देती है—

जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अडार जाहि पल माहाँ।[5]

इसी प्रकार पद्मावती की बरौनियों के बाणों ने सारे संसार को बेध डाला है—

---

१. जायसी ग्रंथावली, चतुर्थ संस्करण, संपा० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६।
२. वही, मानसरोदक खंड, पृ० २४।
३. वही, नखशिख खंड पृ० ४१।
४. वही, नखशिख खंड, पृष्ठ ४२।
५. वही, नखशिख खंड, पृष्ठ ४२।

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ि देहिं सब साखी।
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े।

बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पाँखिहि तन सब पाँख।[1]

पद्मावती के दाँतों की चमक संसार के समस्त चमकीले पदार्थों की ज्योति का कारण है—

जेहि दिन दसन ज्योति निरभई। बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं, ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।

+ + +

हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि।[2]

पद्मावती के अंगों और विराट् सृष्टि के उपादानों में तादात्म्य स्थापित कर कवि ने पद्मावती के सौन्दर्य को व्यापकत्व प्रदान किया है। पद्मावती के कपोल पर अंकित तिल उसके सौन्दर्य की अतिशय वृद्धि करता है। उस सौन्दर्य पर दृष्टिपात करते हुए आकाश भी ध्रुव के रूप में अपनी आँख गड़ाकर रह गया है—

सो तिल देखि कपोल पर, गगन रहा धुव गाड़ि।
खिनहिं उठै, खिन बूड़ै, डोलै नहिं तिल छांड़ि।[3]

उपर्युक्त विवेचन में पद्मावत के ऐसे प्रमुख स्थलों का निर्देश किया गया है जहाँ कवि ने प्रस्तुत वर्ण्य-विषय के माध्यम से आध्यात्मिक व्यंजनाएँ की हैं। इन अवतरणों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनमें कथा-पक्ष की नितान्त अवहेलना कहीं भी नहीं हुई है वरन् अधिकांश स्थलों पर काव्य का सौन्दर्य आध्यात्मिकता के पुट के कारण बढ़ गया है। साथ ही आध्यात्मिक तथ्य लौकिक प्रसंगों के सहारे अधिक आकर्षक और ग्राह्य बन गए हैं। यहाँ तक कि योग साधना के नाड़ी-चक्र आदि नीरस विषय भी सरस और बोधगम्य हो गए हैं।

इन वर्णनों में संकेतित अध्यात्मवाद केवल सूफी मतवाद का समर्थन करता है, ऐसा कहना भ्रान्तिपूर्ण है। सर्वमान्य जीवन-सत्यों और व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों को ही कवि ने स्थान-स्थान पर व्यंजित किया है। इन वर्णनों से ध्वनित होने वाले कतिपय आध्यात्मिक संदेश इस प्रकार हैं—

१. वही, नखशिख खंड, पृष्ठ ४३।
२. जायसी ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, संपा० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४।
३ वही, नखशिख खंड पृ० ४५।

१. ब्रह्म और जगत एक हैं। सृष्टि और उसके सौन्दर्य का मूल कारण ब्रह्म और उसका सौन्दर्य है।

२. जीव मात्र एवं सृष्टि के नाना उपकरण उस परम तत्व के विरह में व्याकुल होकर निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं।

३. ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना की अनेक अवस्थाओं को पार करना पड़ता है, जो आत्म-त्याग के लिए प्रस्तुत है वही साधक सफल हो सकता है।

४. योग साधना से साधक अमरता प्राप्त करता है और सिद्धि प्राप्ति के बाद पुनः सांसारिकता में नहीं फँसता।

५. जीवन थोड़ा है, नश्वर है, अतः व्यक्ति को पारमार्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बिना समय गँवाए प्रयत्नशील होना चाहिए।

गाहा सतसई कालीन आंध्र का लोक-जीवन

●

तिरुमल रामचन्द्र

राजनीति और साहित्य की पृष्ठभूमि में पल्लवित भाषा, दूसरी भाषाओं तथा जातियों को अपने में समाहित कर लेती है। पहले धर्म तथा राजनीतिक विषयों में अन्तर नहीं था। इसलिए संस्कृत ने इतर भारतीय भाषाओं को कुछ सदियों तक पनपने न दिया। संस्कृति के साथ साथ विकसित संस्कृत भाषा का विभिन्न जातियों तथा समुदायों से जैसे-जैसे संबंध सुदृढ़ होने लगा, वैसे-वैसे उन भाषाओं के शब्द-भण्डार संस्कृत को समृद्ध करने लगे। अन्य भाषा के शब्द अगर संस्कृत में इतने न मिलते तो संभवतः संस्कृत साहित्य इतना विशाल और सम्पन्न नहीं बनता।

भगवान बुद्ध ने अपने धर्म-चक्र को पाली में उद्घोषित किया। बुद्ध के सन्देश, धर्म और पाली भाषा—ये तीनों अशोक से पहले दक्षिणापथ की ओर अग्रसर होकर, आन्ध्र तथा मध्य देश में पदार्पण कर चुके थे। अशोक ने तो उनका प्रचार-प्रसार ही किया। धर्म से जुड़ी पाली राज-भाषा बनी थी। इस तरह बौद्ध और जैन धर्मों के माध्यम से दक्षिणापथ में अग्रसर होने वाली पाली तथा प्राकृत भाषाओं ने संस्कृत की तरह ही देशज भाषाओं के संप्रदायों तथा शब्दों को अपने में आत्मसात् कर लिया था। प्राकृत में मिश्रित 'रोलंब' 'रिंचोलि', 'तालूर' आदि शब्दों का संस्कृत के महाकवियों ने भी यदा-कदा प्रयोग किया और वैयाकरणों ने भी उन्हें ग्रहण कर उन पर संस्कृत का कलेवर चढ़ाया।

प्राकृत में तेलुगु के सुबंत शब्द विद्यमान थे ही, साथ-साथ 'चेपु' (बता), 'चेक्कु' (तरास) 'चूचु' (देख) जैसे तिजंत शब्द, 'चवइ', 'चग्गइ', चछ्छइ', 'चज्जइ' आदि परिवर्तनों के साथ वे इतने घुल-मिल गये कि उनको पहचानना दुष्कर हो गया। इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा था कि अगर क्षेत्रज (देशी) शब्दों से इनका समन्वय नहीं हो गया होता तो भी इनका समझ में आना बहुत कष्टप्रद था।[1] देशज शब्दों की व्युत्पत्ति से अनभिज्ञ होने के कारण प्राचीन परम्परागत अर्थ को ही ग्रहण करने का आदेश हेमचन्द्र ने दिया। देशज शब्दों को न जानकर

---

१. देशी दुस्संदर्भा, प्रायस्संदर्भितापि दुर्बोधा
आचार्य हेमचन्द्र ; इत्तां संदृभति, विभक्ति च —देशी नाममाला।

गलत अर्थ निकालने वालों को देख चिंतित होकर उन्होंने कहा आजकल के देशी कवियों तथा व्याख्याताओं की कितनी गलतियाँ निकालूँ।"[१]

गाहा सतसई की रचना आन्ध्र के भूभाग पर हुई है। लोक कवियों द्वारा वाणी-बद्ध की गयी इन अमर गाथाओं का संग्रह कर प्राकृत साहित्य को समृद्ध करने का श्रेय सातवाहन नरेश हाल को था। आन्ध्र साम्राज्य पर शासन करने वाले हाल द्वारा संग्रहीत गाथाओं में लोक-गीत, प्रधानतः तेलुगु लोकगीत व लोक जीवन चित्रित हुए बिना कैसे रह सकते थे। कहा जाता है कि साहित्य जातीय जीवन का प्रतिबिम्ब है। अतः तेलुगु जाति का जनपद-लावण्य इन गाथाओं में अगर प्रतिबिम्बित हो रहा हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

"गाँव पर सैकड़ों (गाज) गिरे तो भी ग्रामाधिकारी के कान पर जूँ तक न रेंगेगी," यह एक आन्ध्र लोकोक्ति है। एक जाति की सभ्यता अन्य जाति और देश की सभ्यता निगल ले तो भी ग्राम्य-सौन्दर्य में जरा भी व्यतिरेक नहीं उत्पन्न होगा। ऐसे ही तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए उक्त लोकोक्ति प्रचलित है। सात लाख ग्रामों के आधारभूत देश भारत में, विशेषतः आन्ध्र देश में, आजकल जो ग्राम्य-परिपाटी दिखाई देती है, इसकी तुलना गाहा सत-सई में वर्णित परम्परा से करें तो पता चलेगा कि उनमें विशेष अन्तर नहीं है।

सर्वविदित है कि आज के गाँवों की दशा, ग्रामाधिकारियों के विलास, अधिकारी-वर्ग की मनमानी, रोज-रोज की झंझटें, जनपदों की वेश-भूषा, रहन सहन, साहस-वीरता, आमोद-प्रमोद जैसे उस समय सहज, स्वाभाविक थे, वैसे ही आज भी हैं। यह कोई नया विषय नहीं है कि हमारे ग्राम के वृद्धजन पेड़ के चबूतरों या मन्दिरों के मण्डपों पर बैठकर राजनीति को नया मोड़ देते थे। वरन् यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है कि दो हजार वर्ष पहले हाल सातवाहन के समय की प्रचलित परम्परा अब भी विद्यमान है।

देखिये! कोलाहल सुनाई दे रहा है। शायद कोई ग्राम्य-उत्सव है। स्त्री-पुरुष इधर-उधर दौड़ रहे हैं। तुरही की मन्द आवाज सुनाई पड़ रही है। हवा की सनसनाहट में कुछ भी ठीक से सुनाई नहीं पड़ता।[२] रंगीन चूर्ण बिखेरा जा रहा है।[३] स्त्री-पुरुष परस्पर के भेदभाव को भूलकर एक दूसरे पर कीचड़ भी उछाल रहे हैं। वे ऐसे झूम रहे हैं जैसे मद के नशे में हों। सच ही तो है—सभी आकंठ पिये हुए हैं। झुंड के झुंड जोड़े नाच रहे हैं। वेणियों के बंधन खुलते जा रहे हैं।[४] कुसुम और केसरिया रंग के पट पहनी हुई नारियों के आंचल हवा में खुलते जा रहे हैं। पीन-पयोधर! ओह दो-तीन के कंचुक तक कुसुम रंग के हैं।

---

१. देशी नाममाला, अष्टम सर्ग।

२. उप्पहहाविहजणो पविजिम्मिवाय अकलअलोपह अनू; अव्वो सोच्चेअच्छणो तेण विणा गामडा होव्व—६-३५।

३. घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं परिसूनसि आएवेपमाणाए; सिभिणे मित्तेपिअअमं हत्थे गंधोधअं लाअं—४-१२।

४. दइअ करग्गहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगंधिअं वअणं।
मअणम्मि एत्तिअं चिअपसाहणं हरई तरुणीणं—६-४४।

कौन-सा उत्सव है यह। होली जैसी लगती है। हाँ! हाँ! होली ही तो है, नहीं तो भेदभाव रहित यह उल्लास क्या है? हमारे प्रान्तों में आजकल यह नहीं है। परन्तु तेलंगाना अब भी इसका आदी है। आज फाल्गुन पूर्णिमा है न!

आइए! पास आकर देखें। सब के सब आमोद-प्रमोद में मग्न हैं, तो फिर हम क्यो न प्रसन्न हों। आज प्रकृति देवी इनकी परिचारिका बन गयी हैं। रंग-बिरंगे फूल, कलियाँ और विभिन्न प्रकार के अंकुर चारों ओर हैं। वेणियाँ फूलों से लदी हैं। तरह-तरह के फूलों से मण्डित वेणियाँ, मानो फूलों को उगल रही हैं। उत्सव के अनुरूप ही वेष। कानों से लटके गहने हैं? कर्णफूल? वालियाँ? नहीं। सभी फूल के हैं, अंकुरों से बने हैं। नील कमल, जामुन के अंकुर,[1] आद्रिफूलों के गुच्छे, महुए के फूल के गुच्छे, चमेलियाँ, अंकोल-पल्लव, धवल कास के फूल, यहाँ तक कि बाँस के पत्ते भी कानों के अलंकार बने हुए हैं। उस रमणी के कानो मे लसित कुसुम उसके कपोलों के सौन्दर्य को झुककर आस्वादन करते दृष्टिगत हो रहे हैं।[2] पुरुष भी कर्णावतंस धारण किये हुए हैं। बाल भी पुष्प-मण्डित हैं। उस कृषक के बालों में आम्र-मंजरी का गुच्छा है! उसके चारों ओर भ्रमर गुंजार करते पीछा कर रहे हैं।[3] उस वृद्ध के बालों मे आद्रिफूल गंध बिखेर रहे हैं।[4] कौन है वह? शायद कोई ग्रामाधिपति या उसका पुत्र होगा! नहीं तो इतना वैभव, इतना ठाट-बाट किसका? हाँ, ग्रामाधिपति ही हैं। ग्रामणी ही है।

सब बड़ी प्रसन्नता से सुधबुध खोकर मग्न हैं। इन्हें इसी तरह मग्न रहने दें। आइये! हम ग्राम जाकर विश्राम करें।

प्रायः हर घर के चारों ओर वेष्टनी लगी हुई है। वातायन से झाँकता एरण्ड-पत्र ऐसा दिखाई देता है, जैसे वह हमें बुला रहा हो। पीन-स्तनी नारियाँ इन घरों में रहती हैं, यही यह पत्र सूचित कर रहा हो। ऐसा मत समझिये, यह ग़लत भावना है।[5] वेष्टनी के वातायन से देखिए। शायद कोई दिखाई दे? वहाँ की वेष्टनी उतनी ऊँची नहीं है। उचक कर देखिए, कोई दीख पड़े तो बुला लें।[6] घर के चबूतरे पर विश्राम के बाद मुर्गे की बाँग

---

१. सामाइ सामलिज्जई अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा; जंबूदलकअ कण्णावअंसभरिए हरिउत्ते—२-८०।

२. सामाइ गुरुअ जोव्वण विसेसभरिए कवोल मूलम्मि; पिज्जई अहो मूहेण व कण्णावअंसेण लावण्णं—५-३९।

३. णक्खक्खुडिअं सहआरमंजरिं पामरस्स सीसम्मी; बंदिम्मव हीरंतं भमर जुआण अणुसरंति—४-३१।

४. गामणि घरम्मि अत्ता एक्कच्चिअ पाडला इहग्गामे; बहु पाडलंच सीसं दिअरस्स ण सुंदरं एअं—५-५९।

५. वइ विवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइव्व तरुणाणं एत्थघरे हलिअवहू एद्दहमेत्त-त्थणी वसइ—३-५७।

६. एक्केक्कम वइवेठण विवरंतर दिण्णतरलणअणाए तइं बोलंते बालअ पंजर-सउणाइअं तीए—३-२०।

ता किं करेउ जइ तं सितीअ वइवेट्ठ पेल्लि अथणीए, पालंकुट्ठव्खिख त्ताणी-सहांमीअ विण दिठ्ठा—३-२१।

सुनते ही उठकर चल देंगे।[१] बिछाने के लिए शय्या भी चाहिए क्या ? अच्छा ही है यहाँ की परम्परानुसार गृहस्वामी तृण-शय्या देते हैं। विदेश है, किसी न किसी तरह काम चला लेंगे। तृण फैलाकर, अंगवस्त्र डालकर शयन करें तो उष्ण अनुभव होगा। शायद इस घर की स्वामिनी घास का गट्ठर देने में भी संकोच कर रही है। कुछ बड़बड़ा भी रही है। यहाँ तो प्रतिदिन हमारे जैसे आने-जानेवालों का तारतम्य लगा ही रहता है। खीझ भी उठी, तो बेचारी का क्या कसूर ?[२] उफ़। गाँव के कुत्तों का चीत्कार हमसे सहन न होगा। नये लोग दीख पड़ें तो लगातार भूँकते ही रहते हैं।[३]

उठो, मित्र ! उठो ! मुर्गा बाँग दे रहा है। अरे ! हमसे कहते हो कि यात्रा के लिए प्रस्तुत हो और अन्य जन से कहते हो कि अपने अपने काम-काज में लग जाओ।[४] मुर्गे की बाँग से यह चौंकना कैसे ? मेरा मित्र था, जो पराये घरों में रात्रि व्यतीत करने का आदी था। परन्तु मुर्गे की पहली बाँग सुनते ही अपने घर चुपचाप पहुँच जाया करता। किसी कारणवश अगर उसे अपने घर मे ही विश्राम करना हुआ तो स्वभावानुसार मुर्गे की बाँग सुन, पराया गृह समझ, घर से निकल पड़ता।[५] चलिए, निकल चलें। गाँव के बाहर तालाब मे नहायेंगे। ओह ! तालाब निर्मल और कितना सुन्दर है। जलाशय के अन्दर नीला आकाश प्रतिबिम्बित जब होता है, तो ऐसा दिखाई देता है, मानो किसी ने आकाश को उतार कर तालाब में डाल दिया हो। इतने बड़े आकाश के गिरने पर भी एक कमल न कुचला, एक हंस न उड़ा।[६] ओह ! जल कितना मनोहर है। आइए, हम संतरण करें। महिलाएँ भी मज्जन कर रही हैं। जरा हटकर हम स्नान कर लें। ग्राम की महिलाएँ भी तैराकी में निपुण मालूम होती हैं। अरे रे ! वह ग्राह है क्या ? जो मेरा पैर खींच रहा है ?....धत् ! यह तो मानव निकला।

यह कैसा ? वधू को रिक्त कंठ ही बैठा दिया गया है ? इस आनन्दमय बेला में

---

१. तहसोण्हाइ पुलइओ बखलि अंतद्ध पहिओ; जह वारिओ वि घरसायिएण ओलिन्दए वसिओ—३-५४।

२. भाउंतीअ तणाइं सोत्तुं दिण्णाइ जाइ पइअस्स; ताइं च्छेअ पहाए अज्जा आअट्टइ रुअंती—४-७९।

३. तुणअपउरम्मिगामे हिण्डंती तुह कएण सावाला; पास अ सारिव्व घरं घरेण कइआ वि खंजिहिए—२-३६।

४. चोराण कामुआण अपामरवहिआण कुक्कुडो वअइ; रे वमह वमह वाहयह ऐत्थ तणुआअए रअणी—७-९६।

५. णिअघणिअं उपऊहस कुक्कुडसद्देन झत्तिपडिबुद्ध; पर वसइ वाससंकिर णिअएवि घरम्मि मा भासु—६-९२।

६. कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा; केणावि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलं २ १०।

शायद कुछ भी नहीं सूझा हो ! मरकत की माला गले में डलवाइये।[1] माँग संवार कर, बिखरे बालों को गूँथिये। आनन का तिलक अगर पुँछ आये, तो मुखड़ा सुन्दर कैसे लगेगा ? तिलक ठीक तरह से संवारिए।[2] मुख में उबटन और चरणों में अलक्तक लगवाये।[3] वाह ! काजल भी लगाया गया है। ठीक है। जूड़े में सजाये गये फूल यों दिखाई देने लगे, मानो सुगंध निमज्जन के कारण भारी हुई केशराशि फूल थूक रही हो। यह और सुन्दर है।[4] सब कुछ हो, किन्तु कंचुकी के बिना सौंदर्य कहाँ ? इस शुभ अवसर पर कोई भी सही—काली, लाल चाहे कुसुम रंग की कंचुकी ही पहनाइये। लाल ही पहनाइए न ! बादलों में छिपे चाँद की छटा आ जायेगी वक्ष स्थल पर।[5] उरोजों पर पुता चन्दन मिटेगा नहीं। मोतियों की मालाएँ यमुना की तरंगों पर बहते हुए फेन की तरह सुन्दर भी दीखती हैं।[6] पहनी हुई साड़ी की गाँठ न खिसके, ऐसी वज्रगाँठ लगाइए।[7] स्वर्ण-मेखला बड़ी भाग्यशाली है। क्योंकि पहले आग में तपकर, बाद में पानी में डूब कर, श्यामशबल व्रत इसने किया है, इसलिए यह एक सुन्दर स्थान की शोभा बढ़ा रही है।[8]

वैवाहिक कोलाहल मे भोजन भूल न जायँ। पाकशाला की तरफ चलिये। पकवान बडे जोर शोर से बन रहे हैं। कहीं (चावल का) आटा कूटा जा रहा है तो कहीं पूआ बनाया जा रहा है। आटा सारे शरीर पर गिरने से क्षीर-सागर से उत्पन्न हुई लक्ष्मी की तरह सुन्दर

---

१. उअ पोम्मराअ मरगअ संवलिआ णहअलाओ ओअरइ; णहसिरि कंठब्भट्ठ व्व कंठिआ कीररिंछोली—१-७५।

२. तीअ मुहाहि तुह मुहं तुज्झमुहाओ अ मज्झ; चलणम्मि हत्थहत्थोअ गओ अइदु-क्करआरओ तिलओ—२-७६।

३. अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ; पेम्माइं सहि आअणो अलाहि किं पाअराएण—२-२७।

४. खिण्णस्स उरे पइणो ठवेइ गिम्हावरण्हरमिअस्स; ओलं गलंतकुसुमं ण्हाणसुरंधं चिउरभारं—३९६।

५. तावमवणेइ ण तहा चंदणपंको वि कामि मिहु णाणं; जह दूसहे वि गम्हे आण्णोण्णालिंगण सुहेल्ली—३-४४।

६. मग्गं च्चिअ अलहंतो हारो पीणुण्णआण थणआणं उव्विग्गो भमइ उरो जमुणा-णइफेण पुंजो व्व—७-६१।

७. जाओ सो वि विलक्खो सए बि हसिऊण गाढ मुवगूढो पढमोसरिअस्स णिअंस-णस्स गंठिं विमग्गंतो—४-५१।

८. इअरो जणो ण पावइ तुह जघणारुहण संगम सुहेल्लि अणुहवइ कणअडोरी हुअवह वरुणाण माहप्पं—३-११।
दोहह् णपउरणीसासपआविओ बाहसलिल परिसित्तो; साहेइसामसवलं व तीए अहरो तुह विओए २-८५।

लग रही है।[१] लड्डू भी बन रहे हैं।[२] वाह ! मोदक भी ! बेसन से बनते हैं या आटे से ? तो इसलिए भुने हुए चने सूप में डाले गये हैं। सूप को (चूल्हे से) दूर रखें, नहीं तो जल जाने का डर है।[३] क्यों श्रीमती जी ! चूल्हे का कालिख सारा अपने मुख पर पोत लिया है ? लेकिन कालिख लग जाने पर भी सौन्दर्य में कोई व्यवधान नहीं आया। फिर भी लोग हँसेंगे।[४]

रसोई कब तक बनेगी ? भूख लग रही है। कम से कम भुने हुए चने ही इधर दीजिए। चबाकर ठंडा पानी पी लूंगा। यह क्या है ? ठंडा पानी माँगा तो उबाल कर ठंडा किया गया पानी दिया है, जैसे बुखार से पीड़ित आदमी को दिया जाता है। उस पानी में कहीं स्वाद भी है।[५] या प्यास ही बुझती है ? स्वप्न में पिये पानी की तरह, कलाकृति में देखे लड्डू की भाँति।[६] इससे तो तृष्णा ही बढ़ेगी।

विवाह मंडप में बच्चों का ऊधम भी आनन्ददायक होता है। परन्तु उन भोले-भाले सज्जन को सब कोई रुला देते हैं। बेचारे धर्मनिष्ठ व्यक्ति की तरह लगते हैं। पता नहीं क्यो, प्राचीन संप्रदायों से अपने आप को घिरे रखने वाले—धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ये बच्चे पसन्द नहीं करते। क्यों उन सज्जन को रुला रहे हैं। वह उचककर, तोते के काटे कच्चे आम को पेड से तोड़ रहे है।[७] बालक उनकी हँसी उड़ा रहे हैं—"क्या बात है, धार्मिक पुरुष। उचक क्यों रहे है ? आम तोड़ते तोड़ते, उसी तरह स्वर्ग तक उड़ जाने का विचार है क्या ?"[८]

बाप रे, यह बिलकुल दरिद्र गाँव है। केवल अनपढ़ों का गाँव लगता है।[९] किससे बात

१. पेच्छंति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्ठपंडुरि; अं दुद्ध समुद्दुत्तरंतलच्छिं विअ सअहुणा—४-८८।

२. कमलं मुअंत महुअर पिक्ककइत्थाण गंध लोहेण आलेक्ख लड्डुअं पामरो व्व छिविअण जाणिहिसि—७-४१।

३. सुघं डड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कंतो; अन्ता वि घरे कुविआ भूआणंव वंसो—६-५७।

४. घरिणीए महाणस कम्मलग्गमसि मलिइएण हत्थेण; छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दा-वत्थं गअं पइणा—१-१३।

५. पेम्मस्स विरोहिअ संधिअस्स पच्चक्ख दिट्ठविलिअस्स; उआअस्स व ताविअस्सी-अलस्स विरसोरमोहोइ—१-५३।

६. कमलं मुअत्तं महुअर पिक्कक्कइत्थाणं गंध लोहेण; आलेक्टव लड्डुअं पामरोव्व छिविअक्ष जाणिहिसि—७-४१।

७. चंचुपुडाहअं विअअअ सह आररसेण सित्तदेहस्स; कीरस्स मग्गगं गंधं भमइ भमरउलं—७-६६।

८. भंजंतस्सवि तुह सग्गगामिणो णइकरंज साहाओ; पाआ अज्ज वि धम्मि तुह कहँधराणि विह छिवंति—२-६७।

९. वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुहंव दुक्खंवा; केणासमं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे २-६४।

करे, किससे मजाक करें ? ग्रामणी तो और भी निरक्षर हैं। काला अक्षर भैंस बराबर। ग्रामणी की पुत्री विष की बेल है।[1] उसके विषय में लोग तरह-तरह की बातें करते हैं। ग्रामणी के पास सुन्दर उपजाऊ ईख के खेत हैं, कोल्हू चलते हैं, पर इससे क्या ? घर में तो बिना नमक-घी का भात है।[2] सरकं (ईख की मदिरा) निकालकर, बेंचकर पैसा कमाते हैं।[3] यहाँ क्या स्त्री क्या पुरुष-सब पियक्कड़ ही दीखते हैं।[3] अगर कोई भी ग्रामणी के घर जाय—स्नान के लिए पानी भी नहीं दिया जाता है। किन्तु जम्बू वृक्ष के छाल के पिष्ट को आगंतुक के हाथ थमाकर, ग्रामणी उससे कहती है कि वह गोदावरी में डुबकी लेकर आयें।[4] घर के पिछवाड़े आम का पेड़ है। अगर बच्चा मचल जाय, तो भी आम का एक फल नहीं मिलेगा।[5] पुरानी गुप्त-निधियाँ प्राप्त हुईं, परन्तु राजा को सूचित किये बिना ही सब उदरस्थ कर दिया गया। साँप की तरह सम्पत्ति पर कुण्डली मारकर बैठे हैं।[6] भिखारी को भी भीख नहीं देते। अपार धन हैं, मगर किस काम का ? जलती धूप में चलते हुए व्यक्ति की छाया की तरह![7] गवाक्ष में दुधारू गाय मिलेंगी, पर वंध्या गौ को भी दुहना चाहते है। अच्छे और सुन्दर कपड़े पहनना स्वप्न की बात है। चिथड़े और उपलों के धुआँ लगे पुराने कपड़े पहनते हैं।[8] फिर भी अधिकारी तो हैं! गाँव वाले भय से आतंकित हैं। राजद्रोह की भावना रखने वालों की तरह ग्रामणी से संबंधित वार्तालाप गाँववाले दबी आवाज से किया करते हैं। किन्तु खुलकर नहीं करते।[9] एक पानी की पनशाला है। उसमें एक नवयौवना है। उसके हाव-भाव, अंग-संचालन

---

१. भुंजसु जं साहिणं कुत्तोलोणं कुगाम रिद्धम्मि; सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं णत्थि—४-१६।

२. आरुहइ जुण्णअं खुज्जअं वि जं उअहवल्लरी तउसी; णीलुप्पल परिमलवासिअस्स सरअस्ससोदोसो—६-२४।

३. सकअग्गह रहसुन्ताणि आणणा पिअइ पिअमुह; विइण्णं थोअं थोअं रोसोसह व उअ माणिणी मइरं—६-५०।

४. तुज्झंगराअ सेलेण सामली तह खरेणसोमारा; सा किर गोला ऊले ह्णाआ जंबूकसाएण—२-८९।

५. बिसमट्ठिअ पिक्केक्कंब दंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए; को को ण पत्थिओ पहिआण डिंभे रुअंतम्मि—६-९५।

६. चोरा समअ सतह्णं पुणोपुणो पेसअंति दिट्ठीओ; अहिरक्खिअ णिहिकलसे व्व पोढ़वइआ थणुच्छंगे ६-७६।

७. होंती वि णिप्फलच्चिअ धणरीद्धीहोइ किविणपुरिसस्स; गिह्माअव संतत्तस्स णिअअ छाहि व्व पहिअस्स—२-३६।

८. सुइज्जइ हेमंतम्मि दुग्गओ फुफ्फुआ मुअंधेण; धूम कविलेण परिविरलतंतुणा जुण्णवडएण—४-२९।

९. राअविरुद्धं व कहं पहिओ पहिअस्स साहइ संसकं; जत्तो अंबाणदल त्तत्तो दरणिम्मर्व किं पि ४९६।

और साज शृंगार देखने के लिए ही पनशाला में मनचले युवकों की भीड़ लगी रहती है। पानी देते वक्त उनकी छेड़ छाड़ और हँसी मजाक लिखने से नहीं, देखने से ही बनती है।[1]

बात क्या है ? लोग दौड़ क्यों रहे हैं ? हाथों में पानी के घड़े भी हैं। शायद आग लग गयी है। हमें भी एक जलपात्र दीजिए।[2] पंक्तिबद्ध खड़े हो जाइये, भले ही चार मील से क्यों न पानी लाना पड़े। पर हाय, गाँव उजड़ गया। कर्म किया, पर फल न मिला। बड़े-बड़े घर जल गये। सिर्फ मूलबंध नींव बचे हैं।[3] पशुधन भी जल गया। उस जले घर को देखिए न![4] कुछ लोग भी स्वर्ग सिधार गये। आह! उस (नारी) का वैधव्य वेश तो देखा नहीं जाता। बलि के लिए प्रस्तुत बलिपशु-सी निरीह लगती है।[5] कैसा क्रूर समाज है ? सहगमन भी है। पहाड़ पर से कूदकर भी सहगमन किया जाता है।[6] वाह! वाह!! श्मशान ले जाते समय मृत पुरुष के शरीर में प्राण आ गया, और उसकी स्त्री के विधवावलय अविधवा (लक्षण) वलय बन गये हैं!....वह कौन है ? घर-फूंक के इस अट्टहास में अग्निदेव के नमस्कार की अपेक्षा सूर्यदेव का प्रणाम कितना विडम्बनापूर्ण है![7]

यह कैसी विडम्बना है! इस गाँव में पदार्पण करते ही पानी बरसने लगा। सब वीथियाँ पंकमय हो गयी हैं। वह कृशकाय गाय कीचड़ में धँसी हुई है। निकालूँ ? वह अपने आप बाहर क्यों नहीं आ जाती ?....हमें आश्रय देने वाली गृहणी कितनी भली है। घर में पानी के परनाले बहते हैं, तो भी हमें अच्छी जगह ही दी है।[8] हम भाग्य के धनी हैं। हाथ पसारते ही लड्डू मिले हैं। गृहपति (सेठ) की बेटी प्रथम बार रजस्वला हुई है। पहली पुष्पवती के पट (आनन्द पट) को सब लोगों में प्रदर्शित करना एक प्रथा है। वैसे भी इस पुष्प चीर का

---

१. उद्धच्छोपिअइ जलं जहजह विरलंगुली चिरंपहिओ; पावालिआ वि तहतह धारं तणुइं पि तणुएइ—२-६१।

२. सव्वस्सम्मि विदड्ढे तह वि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ; जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ—३-२९।

३. घण जहण सिअंबो वरिणह रंका गअवआण वणिआणं; उव्वसिआणंगणिवास मूलबंध व्व दीसंती—३-३३।

४. गेहंव वित्तरहिअं णिज्झरकुहरंव सलिलसुण्णविआं; गोहणरहिअं गोट्ठं व तीअ वअणं तुह विओए—७-९।

५. गोलक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज तीआ खणदिअहे; वज्झ महिसस्स मालव्व माण्डणं उअह पडिहाइ—५-९६।

६. खरपवण रअ गलत्थिअ गिरिऊडा वडण भिण्णदेहस्स; धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स—६-९३।

७. सूरच्छलेन पुत्तल कस्य तुमं अंजलिं पणामेसि; हासकडक्खुम्मिस्सा ण होंति देवाणजंक्कारा—४-३२।

८. पहिअवहू विवरंतरगलिअजलोल्ले घरे अणोल्लं; पि उद्धेसं अचिरं-अवाहसलिणिवहेण उल्लेइ—६-४०।

प्रदर्शन क्यों ?[१] मुँह पर घी और रंग पोत रहे हैं। मुँह बड़ा भद्दा दीखता है। शायद यह भी एक प्रथा है ? ठीक ही है। ये सब नारियाँ उस तरह क्यों दूर बैठी हैं ? घर से बाहर हैं ? छू तो नहीं लेंगी ?[२] फिर यह नई पुष्पवती ? गृहपति की कई पत्नियाँ हैं। ये सब अभी फलवती नहीं हुई है ? शायद बहुपत्नी का शौक होगा। न्यास (धरोहर) रखकर यह अनावश्यक खर्च क्यों ? ठीक ही है, कैसे भी क्यों न हो, व्यय तो हो रहा है। पुष्पवती के बैठने के स्थान के पीछे सुन्दर कुड्य चित्र रचवाइए।[३] अच्छी-सी वर्ति रखिये। अरे रे! वह गिर रही है। आसंदि (चौकी) के चारों पैर एक समान नहीं है। बढ़ई को बुलाकर, चारों पाइयों पर धागा (प्रमाण सूत) लगवाइए और आरी से ठीक करवाइए।[४] फिर अच्छी तरह उनपर कीले ठोंकवाइये। वायन अभी तक बटे नहीं ?[५] रात में नाटक भी खेला गया। बहुत अच्छा रहा। पूर्वरंग से ही मालूम हो गया था कि नाटक अच्छा रहेगा। जानते हैं, कौन-सा नाटक था ? क्षीराब्धिमंथन-नवरसों से ओतप्रोत !

जामाता का उतावलापन दर्शनीय है। घर के पिछवाड़े में स्नानरत वधू की चूड़ियों की झनकार सुनकर उसका हृदय गद्गद् हो रहा है। स्नान के पानी, जो घर की नाली से बाहर आ रहा है, में प्रिया द्वारा प्रयुक्त हल्दी को परखता जा रहा है। सालियाँ जीजाजी को खूब रुलाती हैं। उत्फुल्लिकाएँ (बिद्दें बिद्दें) खेलाना चाहती हैं क्या ?

यह गाँव अनुपम है। वर्षा समाप्त हुई। तह दलदल से भरी है, भीतर कोमल है। खेत की जोताई आरम्भ हो गयी है। घर से भोजन लेकर आनेवाली पत्नी की प्रतीक्षा में किसान अपनी सुध-बुध खो बैठा है। प्रिया को आते देख हल की मूठ मत छोड़ो ![६] कुछ ही महीनों में खेत पककर पीले हो जायेंगे। पटसन के खेत लहलहा रहे हैं। अधखुले कपास के फूल

---

१. कारिममाणंदवडं भामिज्जंतं बहुअसहिआहिं; पेच्छइ कुमारि जारो हासुम्मिस्सेहिं अच्छीहिं—५-५७।

२. जइ लोअणिंदिअं जइ अमंगलं जइ विमुक्कमज्जाअं; पुप्फवइ दंसणं तहवि देइ हिअअस्स णिव्वाणं—५८०।

वण्णअघअलिप्पमुहि जो मं अइआअरेणचुंबंतो एहणि सो भूसण भूसिअं पि अलसाअइ छिवंतो—६-१९।

३. हिअअं हिअए णिहिअं चित्तालिहिअ व्व तुहमुहे दिट्ठी; आलिंगण रहिआइं णवरं खिज्जंति अंगाइं—५-८९।

वण्णक्कम रहिअस्स वि एसगुणो णवरि चित्तकम्मस्स; णिमिसं पि जंण मुंचइ पिओ जणो गाढमुव ऊढो—७-१२।

४. विरह करवत्त दूसह फालिज्जंतम्मि तीअ हिअअम्मि; अंसू कज्जल मइलं पमाण-सुत्तं व्व पडिहाइ—२-५३।

५. विढमूल बंधगंठि व्व मोइआ कह वि तेण मे बाहू; अम्हेहि वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ—३-७६।

६. णवकम्मिएण हुअपासरेण दट्ठूण पाउहारीओ; मोत्तव्वे जोत्तअपारम्मि अवरासिणी मुक्का—७९२।

खेत में इस तरह लहरा रह हैं, जैसे किसान-दम्पति के सुख-सौभाग्य पर मुस्करा रहे हों।[1] कपास के खेत में बैल स्वच्छन्द चर रहा है तो उसे देख क्या रहे हो ? भगाओ भी !

कृषक गीत गा रहा है। फसल के पकने पर, आनन्द विभोर हो, चाँदनी-जो अच्छी तरह कूटे धान की तरह धवल लग रही थी, में राग अलाप रहा है।[2] खेत के चारों ओर बाड लगाओ। अनजान को देखकर शोर मचाने वाले इन कुत्तों को जरा धमका दो, जिससे हम निकल जायें।

फसल भरपूर पक गयी है। उमंग में गाने-बजाने और नाच हो रहे हैं। मृदंग को और अधिक अन्न की परत पोतकर बजाइए। यह क्या है ? महिष बलि ! श्यामक प्रेत का वायन बाँटिए। स्वयं खाइए। एक तरफ बुद्ध भगवान की पूजा, फिर यह पशु-बलि कैसी ? श्मशान का भस्म बदन पर रमाये हुए कापालिक भी है। रहने दीजिए। दूसरी तरफ विष्णु-पूजा भी हो रही है। कृष्ण भगवान के नाम पर भी भक्त जन उन्मुक्त हैं।

शीत ! भयंकर शीत ! हड्डियों को हिला देनेवाली। हम इस ग्राम में आये ही क्यो ? बहुत ही छोटा ग्राम है। मंदिर के खण्डहर के सामने कोई आग जला रहा है। फूस की आग बुझ रही है, फिर भी वहीं चलें। एक आदमी उसे भालू का हृदय चीर देने जैसे, लकड़ी से कुरेद रहा है।[3] किस का मन्दिर है वह ? गणपति देव की मूर्ति इस तरह क्यों गिर गयी है ? एक तरफ घिस भी गयी है। शायद गाँववालों ने तकिये की तरह इसका प्रयोग किया है।

यहाँ की शुक-सारिकायें भी वाचाल हैं। रात में शयन-कक्ष के देखे दृश्य की आवृति कर, दिन भर गली को मुखरित किये रहते हैं।

सारे गाँव को सुशोभित करनेवाला वह कमल-वन, पाला पड़ने से मरकर कटे तिल के खेत की तरह सिर्फ डंठल ही बाकी बच रहा है। मंदिर की दीवारों पर ये रेखाएँ कैसी है ? कोई संकेत होंगे। दो-तीन अक्षर भी न लिख-पढ़ने वाले ही है सारे गाँव में। मोतियों को छोड़कर घुंघचियों के लिए तरस खाती हैं नारियाँ। दलदल में फँसे हल को खींचते पति थककर सो जायें तो उस कृषक की स्त्री उसकी सेवा किये बिना ही वियोग की व्यथा से किसलिए तड़पती है ? गरीबों की आकांक्षाओं के पूरी होने का अवसर ही यहाँ नहीं है ?

देवरों से भाभियों का यह मजाक कैसे ? निर्बल की पत्नी गाँव भर की भाभी होती है। यह कैसा पाप कर्म ? औरतें बंदी बना दी गई हैं ? कल वे ही बलवान होकर अगर तुम लोगों को बन्दी बना दें तो ? नहीं ! नहीं ! ऐसे गाँव में नहीं रहना चाहिए ! दूसरे गाँव को चलें।

---

१. अज्जं मोहण सुहिअं मुअत्ति मोत्तो पलाइए हलिए; दर फुडि अवेंटभारोणआइ हसिअं व फलहीए —४-६० ।

२. णिप्पण्ण सस्सरिद्धी सच्छंद गाइ पामरो सरए दलिअ णवसालितंडुल धवलमिअंकासु राईसु—७-८९ ।

३. फालेइ अच्छभल्लं व उअह कुग्गमदेउलद्दारे; हे मंतआल पहिउ विज्झरंतं पलालग्गि—२:९ ।

हमें घर से निकले साल भर हो गया। फिर दूसरा गाँव क्यों? वसंत राज के रथ-शिखर ध्वज की तरह आम के अंकुर दिखाई देने लगे। उस पलाश की डाल के चारों तरफ़ गिरे पलाश के फूलों को देखिए, तथागत के चरणों पर नत सिर समाज की तरह। हम भी भगवान बुद्ध का स्मरण करते हुए अपने गाँव लौट चलें।[1]

● ●

---

१. कीरमुहि सच्छहेह रेहइ वसुहापलासकुसुमेहिं; बुद्धस्स चलण वंद पडिएहिं व भिक्खु संघेहिं —४-८।

इतिहास दृष्टि का विकास
(पश्चिम और पूर्व)

●

रघुवंश

मानव समाज की रचना और उसका विकास एक ही प्रक्रिया में घटित हुए हैं। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में व्यक्ति का समाज की गति का सचेत अनुभव इतिहास-बोध है। समाज के सन्दर्भ में यह बोध मानवीय जीवन-क्रम से सम्बद्ध है और जीवन की गतिशीलता का बोध कराने वाला यह कालानुभव भी है। इतिहास का बोध या उसकी धारणा काल-प्रवाह के अनुभव पर आधारित है और काल की स्पष्ट होती हुई अवधारणा के साथ इतिहास का अनुभव संभव हो सका है। विभिन्न प्राचीन समाजों में काल सम्बन्धी इस धारणा तक पहुँचने का क्रम और रूप अलग रहा है, और इसका प्रभाव उनकी इतिहास की समझ और ग्रहणशीलता पर पड़ा है। यह समझना सही नहीं है कि काल-प्रवाह के सम्बन्ध में सूक्ष्म धारणा विकसित करने वाले समाजों में उसी अनुपात में अपने इतिहास के आकलन की प्रवृत्ति होती है। तथ्य इसके विपरीत है। भौतिक, सामाजिक, जातीय, सामूहिक, राजनीतिक (राज्यों के उत्थान-पतन से सम्बन्धित), राष्ट्रीय घटनाओं के क्रम में प्रकृति तथा मानव जीवन के नाटक को देखने वाले समाजों ने अपने इतिहास को सुरक्षित रखने की अधिक चेष्टा की है। इसके प्रतिकूल जब जिस समाज में काल-चेतना जितनी सूक्ष्म और पूर्ण होती गई, उसका इतिहास-बोध भी उतना ही गहराता गया है। बाहरी परिवर्तनों, घटना-क्रमों, उत्थान-पतनों, सामाजिक प्रक्रिया के इतिवृत्त को प्रस्तुत करने के बजाय अथवा उनके कार्य-कारण सम्बंधों, प्राकृतिक नियमों तथा द्वंद्वात्मक स्थितियों के विवेचन की अपेक्षा यह समाज वस्तु की आन्तरिक प्रक्रिया, सामाजिक मूल्यों, मानव नियति, मानव व्यक्तित्व की स्वतंत्रता, मानवीय ज्ञान, सत्य तथा भावना और मानवता की सर्जनशील कल्पना की प्रकिया के रूप में इतिहास की उद्‌भावना करता है। इस स्तर पर इतिहास साम्राज्यों और राज्य-वंशों के उत्थान-पतन, जातियों के अभ्युदय-विलयन, समाजों के संघटन-विघटन, राष्ट्रों के शक्ति-सन्तुलन और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विवरण अथवा कारणमूलक विवेचन नहीं रह जाता वरन् इतिहासकार मानव संस्कृतियों की अन्तर्वर्ती धाराओं को ग्रहण करने की चेष्टा करता है, उनके सन्दभ में मानवीय मूल्यों की विवेचना करता है, मानव नियति और भविष्य पर प्रकाश डालता है और मानवता की सम्पूर्ण सर्जनात्मक क्षमता का निरूपण करता है।

अनेक समाजों में राजनीतिक अथवा सामाजिक परिवर्तनों के बारे में उनकी समझ अपने आदिम संस्कारों की स्मृति से मुक्त नहीं हो सकी है। प्रकृति के दृश्य रूप में गतिमान् शक्तियों के पीछे दैवी शक्तियों की कल्पना विकसित हुई। इसी आदिम कल्पना ने क्रमशः देवी-देवताओं का रूप ग्रहण किया। इन समाजों में मनुष्य और देवता के सम्बन्धों के आधार पर सामयिक परिवर्तनों और राज्य के उत्थान-पतन को समझने की कोशिश की गई। यह संस्कार मिस्री, सामी और यहूदी समाजों की संस्कृतियों में पाया जाता है। सामी जीवन की गतिशीलता को मानव और देवताओं के सतत सहयोग और सम्पर्क के आधार पर ग्रहण करते थे। उनकी संस्कृति को सक्रिय करने वाले आदर्श सामाजिकता और सामूहिकता उनके देवताओं के द्वारा स्वीकृत हैं। इतिहास के घटना-चक्र में परिलक्षित होने वाली जीवन की गतिशीलता सामी दृष्टि में दैवी संकेतों, हर्ष-रोष से, परिचालित है।

मिस्री संस्कृति प्रकृति के परिवर्तन से मानवीय क्षण-भंगुरता के आधार पर अमरता की परिकल्पना पर विकसित हुई है। प्रकृति-जीवन के स्तर पर मिस्रियों ने काल का बोध ध्वंसक कराल रूप में किया है। अतः उन्होंने इस नश्वरता को चुनौती देकर स्थायित्व और अमरता की साधना की। इस परिकल्पना के कारण यह संस्कृति मनुष्य और देवता के एकीकरण पर पहुँची। सामियों के विपरीत इनका राजा देवता का प्रतिनिधि न होकर स्वयं देवता माना गया है, जो दैवी शक्तियों से युक्त है। इस एकीकरण की परिकल्पना के पीछे प्राकृतिक नियमों, विश्व के विधान और सामाजिक न्याय के माध्यम से नश्वरता को परास्त कर अमरता के अन्वेषण का महान् प्रयत्न निहित था। स्थायित्व और अमरता मिस्र की स्थापत्य, मूर्ति-कला, मंत्र-विधान और शासन-तन्त्र में सर्वत्र अभिव्यंजित है। इस संस्कृति में इनकी अवधारणा प्रत्यय-परक और भावमूलक होने की अपेक्षा मूर्त और प्रत्यक्ष रही, इस कारण मिस्री काल को गति और परिवर्तन के प्रवाह रूप में ग्रहण नहीं कर सके और उनका इतिहास-बोध समाज की एकता, स्थायित्व और अक्षुण्णता के अनुभव को ही प्रत्यक्ष करता रहा।

मिस्री संस्कृति की तुलना में यहूदी संस्कृति में सामियों के समान इतिहास-बोध आदिम संस्कार की स्मृति पर अधिक प्रतिष्ठित है। यहवेह की देव-शक्ति से मनुष्य को उसके पापों के लिए दण्डित करने के लिए प्रलय का प्रकोप होना, और पुनः जाति के उद्धार के लिए यहवेह का समस्त सृष्टि-तत्त्वों के साथ नोह की रक्षा करना, यहूदी जाति के मानस पर अंकित किसी प्रकृति के बहुत बड़े विपर्यय के सूचक हैं। इस जाति के उत्थान-पतन का इतिहास इस प्रकार दैवी अनुशासन पर गतिशील हुआ है। देवता की आज्ञा का उल्लंघन करने से जाति का पतन होता है, वह विनाश के भँवर में फँसती है। परन्तु आज्ञा पालन का आश्वासन देकर वह जाति सुरक्षित होती है। इस भावना के आधार पर दैवी व्यवस्था द्वारा संसार के कल्याण और रक्षा की कल्पना विकसित हुई। आगे चल कर ईश्वर की लीला के रूप में प्रकृति और इतिहास की गति को माना गया है। मनुष्य का समस्त जीवन-क्रम, इतिहास को सारी चेष्टा भगवान् की इच्छा पर निर्भर माने गये।

ईसाई धर्म का मूल स्रोत सामी और यहूदी संस्कृतियों में निहित है। यही कारण है कि आगे चल कर यूनानी-रोमीय संस्कृति के सम्पर्क और संघात के बावजूद इतिहास विषयक ईसाई

दृष्टि दैवी-प्रेरणा पर आधारित है। उनके अनुसार इतिहास का सारा घटना-क्रम ईश्वरीय लीला का विधान है। समस्त मानवीय जीवन-क्रम में ईश्वरीय इच्छा व्यंजित होती है। सृष्टि-प्रलय के माध्यम से उसकी शाश्वत नाटकीय योजना चलती रहती है। व्यक्तियों के कार्यों अथवा विचारों और विशिष्ट संस्थाओं के विकास-क्रम का आलेख इतिहास नहीं है, यह सब ईश्वर की इच्छा शक्ति से घटित होने वाले व्यापार के रूप में इतिहास है। इस धार्मिक व्याख्या के साथ ऐतिहासिक घटनाओं को आन्तरिक गति के रूप में भी माना गया। साथ ही विभिन्न देशों और जातियों के इतिहास को व्यापक सार्वभौम रूप मे परिकल्पित किया गया। इस व्यापक भावना के साथ एक नैतिक दृष्टि भी सन्निहित रही है, जिसे देव-नगर और पाप-नगर के विरोधाभास का प्रतिपादन करते हुए आगस्तीन की इतिहास की व्याख्या में देखा जा सकता है। इस प्रकार न केवल समस्त सृष्टि उसकी कृपा का परिणाम है, उसमें न्याय, सौन्दर्य और सत्य सब उसकी लीला है। सत्य और पाप के द्वंद्व से ही इतिहास में परिवर्तन होते हैं, साम्राज्यों का उत्थान-पतन होता है, संस्कृतियों का सर्जन-विनाश होता है। ईसाई धर्म में चर्च के अभ्युदय और सन्तों के चरित्र मे अमरत्व की कल्पना है, जो इस प्रसंग में नैतिक जीवन का द्योतक है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से किसी समाज के पतन का दायित्व उसके अपने दोषों पर निर्भर करता है। किसी राष्ट्र पर बाहरी आक्रमण उसके आन्तरिक ह्रास का बिम्ब मात्र है। ईश्वर के अमोघ न्याय के चक्र के कारण साम्राज्यो का उत्थान-पतन होता है और मानवीय भावनाएँ आन्दोलित और संवेदित होती हैं। ईसाई समाज ईसा के जन्म की घटना को ईश्वरीय महान् और विशाल योजना मानता है, जो मनुष्य को पाप से हटा कर सत्य और अमरत्व की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार ईसाई दृष्टि जातियों और संस्कृतियों के क्रम को नियमानुसार मानती है और व्यक्तियों की इच्छा के साथ समष्टि की गति पर बल देती है।

इस्लामी समाज की धार्मिक भावना में संघटन शक्ति का बहुत महत्व रहा है। ईश्वर की इच्छा से मनुष्य की सृष्टि हुई है और मनुष्य का उसकी इच्छा के प्रति पूर्णतः समर्पण करना उसकी नियति है। निश्चित आदि-अन्त वाली काल-गुफा में ज्योतिमान् प्रकाश और गहन अन्धकार में संघर्ष चल रहा है, और यही द्वंद्व इस्लामी स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप तथा फरिश्ता और शैतान के द्वंद्व का प्रतीक है, परन्तु इस संस्कृति में इतिहास की दृष्टि इस्लामी समाज (जमइय्यत) के निरन्तर प्रसार से सम्बन्धित है और यह समष्टि उनके धार्मिक जीवन का केन्द्र है। यद्यपि जिस चिरन्तन सत्ता से इस्लामी इतिहास आभासित हो उठा, वह दैवी इच्छा, न्याय-विधान और दण्ड-पुरस्कार की भावना पर आधारित था; पर उसका सारा क्रम-विकास धर्म-समाज के प्रचार-प्रसार और उसके लिए लड़े गये युद्धों तथा खलीफ़ाओं के प्रयत्नो से सम्बन्धित है। इस्लामी 'असबिया' अर्थात् सामूहिकता के आधार पर समाज के संगठन और उसकी संस्थाओं के विकास की परिकल्पना इस दृष्टि को समाजशास्त्रीय तथा वैज्ञानिक आधार प्रदान करती है। राज्य को इस समाज का एक रूप माना गया, जिसका विकास रक्त-सम्बन्ध, सामूहिक भावना, पारस्परिकता और विनियम पर प्रतिष्ठित 'असबिया' से हुआ है। धर्म के द्वारा यह संगठन दृढ़ होता है। परन्तु इस सीमा पर इस्लामी इतिहास-चिन्तन मानव

समाज, विश्व-संस्कृति, मानवीय कार्य-व्यापारों, समाज के स्वरूप को प्रकट करने वाले सार परिवर्तनों को इतिहास की गति-रूप में समझने में समर्थ हुआ।

प्रारम्भ में कहा गया है कि विभिन्न समाजों और संस्कृतियों का इतिहास-बोध उनकी काल की अवधारणा पर आधारित होता है। यूनानी मानस मूर्त और प्रत्यक्ष के आधार पर स्थायित्व की खोज में संलग्न रहा है। अचल, अमर और शाश्वत को मूर्त, आकार तथा निश्चित रूप में व्याख्यायित करने का उसका सदा प्रयत्न रहा है। परिणाम स्वरूप यूनानी संस्कृति देश-काल की अनन्त और गतिमान परिकल्पना करने में असमर्थ रही। भारतीय मानस देश-काल की इसी धारणा के आधार पर आत्म-तत्व की खोज में प्रवृत्त हुआ है। परन्तु यूनानियों के अनुसार मानव मस्तिष्क प्रधान है और वह उसी तत्व को ग्रहण करता है जिसका रूप और आकार निश्चित हो, स्थायी हो और मूर्त हो। उनका प्रत्ययपरक तार्किक चिन्तन भी इसी आधार पर अग्रसर हुआ है। उनकी इतिहास-दृष्टि समस्त घटना-क्रम में एकता और अक्षुण्णता का गतिमान् सूत्र ग्रहण करती है। यह एकसूत्रता साम्राज्यों और शक्तियों के उत्थान-पतन और उत्कर्ष-अपकर्ष में क्रियाशील गति और परिवर्तन के बीच खोजी गई है। इस प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया का भविष्य के स्थायित्व की दृष्टि से अध्ययन इतिहास माना गया।

जीवन और जगत् की परिवर्तित होती घटनाओं के पीछे स्थायित्व की खोज के कारण उनके पीछे क्रियाशील नियमों का विवेचन आवश्यक हो गया। और नियमों का विवेचन आलोचनात्मक बुद्धिवाद के द्वारा सम्भव हो सका। यह इतिहास दृष्टि एक ओर वैज्ञानिक हेतुवाद से निरूपित थी, तो दूसरी ओर सत्य और नैतिकता के मूल्यों पर आधारित है। थूसीदाइदिस राष्ट्रों के उत्थान की नैतिक शक्ति को स्वीकार करता है और सत्य तथा न्याय को सांस्कृतिक संचार का प्रेरक मानता है। रोमन साम्राज्य के अभ्युदय के साथ यूनानी इतिहास दृष्टि विश्व के समस्त घटना-क्रम को नियति द्वारा ऐक दिशा की ओर, एक ही लक्ष्य की ओर प्रवाहित पाती है। घटनाओं से इतिहास के सूत्रों के संयोजन में इतिहासकार एकता, अक्षुण्णता और सार्वभौम का साक्षात्कार कर सका। पोलीबस जैसे इतिहासकार ने राष्ट्रीय इतिहास को विश्व-इतिहास के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा की। उसके अनुसार एक राष्ट्र के घटना-क्रम के आधार पर इन घटनाओं के विस्तार और समग्रता को नहीं समझा जा सकता और न ही युग की प्रमुख प्रवृत्तियों को प्रेरित करने वाले नियति के साधनों तथा संस्थानों का अनुसंधान किया जा सकता है। जब तक विश्व के विभिन्न प्रदेशों अर्थात् राष्ट्रों की समसामयिक प्रतिक्रियाओं के सन्दर्भ में उस घटना-क्रम के कार्य-कारण पर विचार नहीं किया जाता, तब तक विश्वव्यापी इतिहास प्रक्रिया के अन्तर्निहित मर्म को सही रूप में नहीं समझा जा सकता।

प्रारम्भिक रोमन इतिहासकार केतो प्रथम ने महान व्यक्तित्वों और महापुरुषों के प्रभाव से मुक्त कर इतिहास को सामान्य जनता के जीवन-क्रम के रूप में देखा। उसके अनुसार इतिहास की प्रक्रिया सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को आत्मसात् कर के गतिशील होती है और उसके माध्यम से नैतिक मूल्यों का प्रतिफलन होता है। क्रमशः रोमीय इतिहास-चिन्तन से यूनानी दर्शन का आधार खिसकता गया और नैतिक आदर्शों तथा राष्ट्रीय भावना की

दृष्टि उसमें प्रमुख होती गई। नैतिक आदर्शों की व्यंजना के साथ इतिहास में पुण्य और पाप के प्रदर्शन को भी कभी-कभी महत्त्व मिला। सब मिला कर यूनानी-रोमन इतिहास-दृष्टि मानवीय कार्यकलापों को प्रधानता देती है। इसके अनुसार इतिहास का लक्ष्य मानव बुद्धि के विकास-क्रम को निरूपित करना और मानव प्रकृति के गतिशील रूप का अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसीलिए इतिहास को शिक्षक रूप में भी माना गया। पर दार्शनिक चिन्तन के प्रभाव से इतिहास के विकास-क्रम में मनुष्य की अन्त: मन:स्थितियों के महत्त्व को स्वीकार किया गया। इस सबके बावजूद काल की वास्तविक अनुभूति के अभाव में यूनानी और रोमन इतिहास को संस्कृति के सर्जनात्मक मूल्यों की अनवरत चेष्टा के रूप में देखने में असमर्थ रहे।

यूरोप के मध्ययुग में ईसाई धार्मिक भावना के साथ आलोचनात्मक दृष्टि भी परिलक्षित होती है। इतिहास की घटनाओं को ईश्वरीय महान् योजना के क्रम में स्वीकार करने के साथ उनके कारणों के विवेचन की प्रवृत्ति भी देखी गई। कुछ इतिहासकारों ने ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण विद्वत्ता के साथ, वैज्ञानिक पद्धति से, और प्रमाणों के आधार पर किया और उनके विवेचन में सूक्ष्म दृष्टि, सन्तुलित विचार और तटस्थ भाव मिलते हैं। विशेष कर बाइजेन्तियम इतिहासकारों ने यूनानी आदर्श पर वैज्ञानिक, तत्त्ववादी और सत्यनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने घटनाओं का विश्लेषण कर उनके सूक्ष्म आन्तरिक कार्य-कारण रूप की व्याख्या की और उसके माध्यम से इतिहास की नियामक नियति का निर्देश किया।

पुनरुत्थान युग के यूरोप का इतिहास-चिन्तन ईसाई धर्म के बन्धन से मुक्त होकर क्रमश: उदार और उदात्त मानववाद के आधार पर विकसित हुआ। यूनानी बुद्धिवाद की प्रेरणा से यहाँ इतिहास-दृष्टि में मौलिक परिवर्तन घटित हुआ। इतिहास की आलोचनात्मक शैली ने तुलनात्मक और व्याख्यात्मक पद्धतियों को आत्मसात् किया और मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों का विस्तृत विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस युग में मनुष्य के साथ उसके व्यक्तित्व को स्वीकृति मिली और इतिहास में युगीन व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति हुई। राज्यों, जातियों और राष्ट्रों के स्थान पर व्यक्तियों के चरित्र को व्यक्त करने वाले घटना क्रम को महत्त्व मिला। विश्व और जीवन के विस्तार तथा उनमें सर्वत्र घटित होते हुए परिवर्तनों को मानव बुद्धि के प्रकाश में विवेचित करने की चेष्टा की गई। यहाँ माना गया कि इतिहास की गति के सूक्ष्म संकेतों और मर्मों को बुद्धि के सहारे समझा जा सकता है। पुनरुत्थान युग मानव जीवन के प्रति भावोल्लास के साथ यूरोप के आधुनिक जीवन की भूमिका प्रस्तुत करता है। इतिहास के प्रवाह में परिलक्षित होने वाली नियति को मानव अपनी विवेक-बुद्धि से अपने भविष्य के अनुकूल कर सकता है, इस आशा और विश्वास ने इस युग के विचारक को नई स्फूर्ति से प्रेरित किया। इस युग का नया काल-बोध सारी इतिहास प्रक्रिया को निश्चित, नियोजित और प्रयोजनीय दिशा के प्रवाह के रूप में अनुभव करता है। परिणामस्वरूप मानव जीवन के अनेक पक्षों का अध्ययन सम्भावनाओं की दृष्टि से किया गया।

आधुनिक युग के आरम्भ के साथ यूरोप में दार्शनिक चिन्तन का नया युग शुरू होता

है। और विभिन्न चिन्तन पद्धतियों के अनुसार इतिहास की अवधारणाओं में अन्तर पड़ा है। इसी प्रकार इन शताब्दियों में वैज्ञानिक दृष्टि के विकास के अनुरूप तथा विज्ञान के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोणों के अनुसार इतिहास सम्बन्धी चिन्तन परिवर्तित हुआ है। बुद्धिवाद पर बढ़ते हुए बल के कारण विश्लेषण पद्धति के आधार पर आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ हुआ। भौतिक प्रकृति के नियमों को गणित के नियमों के समान निश्चित माना गया, अतः विज्ञान की दृष्टि यांत्रिक समझी गई। परिणाम स्वरूप सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के निश्चित नियमों की खोज के साथ इतिहास के क्रम-प्रवाह की यांत्रिक व्याख्या की गई। देकार्त ने मनुष्य जीवन को प्रकृति के अटल नियमों से नियंत्रित माना है और इस कारण न केवल उसके सामाजिक तथा संस्थागत जीवन की प्रक्रिया को इन नियमों के आधार पर समझने की चेष्टा की है, वरन् काव्य और कला में अभिव्यक्त होने वाले मूल्यों को भी भावों की यांत्रिक अभिव्यक्ति मानी है। इस दृष्टि का दुष्परिणाम वैज्ञानिक नियतिवादी जड़ता के रूप में माना जा सकता है। पर इस आधार पर इतिहास के नियमों के अनुसन्धान की सीमाओं का विस्तार हुआ। मानव इतिहास की गति को समझने के लिए और उसमें निहित नियमों का निरूपण करने के लिए परम्परित रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, धार्मिक विश्वास, नैतिक आदर्श, राजनीतिक व्यवस्था और यहाँ तक कि प्राकृतिक परिवेश तक को ध्यान में रखा गया। मानव जीवन के विभिन्न पक्षों और आधारों के विश्लेषण-विवेचन से ऐतिहासिक प्रक्रिया के नये-नये आयाम उद्घाटित हुए, साथ ही अनेक मानवीय शास्त्रों का स्वतंत्र विकास हुआ। वोल्तेयर जैसे विचारक ने इतिहास को मनुष्य के सर्वांगीण व्यक्तित्व और आचरण की अभिव्यक्ति का साक्षी माना और इस दृष्टि से इतिहास में मनुष्य की सांस्कृतिक चेष्टाओं का बहुविध आकलन किया है। उनके अनुसार किसी युग के इतिहास में उस युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक चेष्टाओं के साथ धर्म, दर्शन, कला और साहित्य की अभिव्यंजना भी शामिल होती है।

भौतिक प्रकृति की प्रत्यक्ष स्थिति और उसके नियमों की निश्चितता के आधार पर यह चिन्तन सामने आया कि अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्त होता है। अनुभव इतिहास-क्रम से ग्रहण किया जाता है, अतः ज्ञान इतिहास-क्रम की सापेक्षता में ही विकसित हो सकता है। ह्यूम ने मानवीय ज्ञान की सापेक्षता सत्य की अमूर्त परिकल्पना से प्रतिपादित नहीं की, वरन् इतिहास-क्रम में विकसित होने वाली मानवीय चेतना और संवेदना से स्थापित की है। इसी कारण अपने इतिहास में उन्होंने राज्यवंशों और सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन कला, साहित्य, धर्म, नीति आदि मानवीय अनुभव के भिन्न क्षेत्रों के अन्तःसम्बन्ध के साथ किया है। आधुनिक युग के इस चरण में इतिहास-दृष्टि मनुष्य के क्रमिक विकास पर केन्द्रित थी। गिब्बन ने आकर्षक शैली में बौद्धिक तर्कशीलता के साथ मानवीय जीवन-प्रवाह में संस्कृति के विकास का वर्णन किया है। वह यह भी मानते हैं कि इतिहास का सारा घटना-चक्र मानवीय संस्कृति को पूर्णता, सम्पन्नता और समृद्धि की ओर ले जा रहा है। एक बार मनुष्य की बुद्धि और मानव भविष्य पर विश्वास जम जाने पर कोंदौसे जैसे विचारक इतिहास की घटनाओं और तथ्यों के तार्किक विवेचन से यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य में पूर्णता के विकसित होने की सम्भावना और क्षमता असीम है। इस युग के अन्य दार्शनिक चिन्तकों ने मानव प्रगति और

स्वतन्त्रता म अपना विश्वास प्रकट किया है और कोदोर्से जैसे इतिहास चिन्तकों पर इनका प्रभाव है इस मानवतावादी चिन्तन और उसकी आशावादी दृष्टि का प्रभाव आगे के चिन्तको पर पड़ा है। इसके अनुसार समस्त इतिहास-क्रम मनुष्य के अपने कार्य-व्यापारों से निर्मित है, वह स्वयं इतिहास का निर्माण करता है। मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुओं, घटनाओं, संस्थाओं, विचारों और कल्पनाओं से इतिहास बना है, आज भी बन रहा है और आगे भी बनेगा। यह इतिहास-दृष्टि मानवीय जीवन-प्रवाह की व्याख्या तक अपने को सीमित नहीं रखती, वह उसको संभावनाओं की नई दिशाओं में मोड़ने की चेष्टा भी करती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि इस युग में इतिहास दर्शन धार्मिक और नैतिक मूल्यों के स्थान पर गहरी सांस्कृतिक मूल्य दृष्टियों को विकसित कर रहा था।

मनुष्य अपने इतिहास का निर्माता है, अतः इतिहास में समानता परिलक्षित होती है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में मौलिक समानता निहित है और क्योंकि उसमें आकस्मिक परिवर्तन घटित नहीं होते, इतिहास में अक्षुण्णता की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इतिहास मानवीय क्रिया और चिन्तन का परिणाम है, क्योंकि इसकी प्रक्रिया में भाषा, परम्परा, संस्कार, नियम और अनुशासन की सर्जनात्मक प्रगति सन्निहित है। वीचो इसीलिए इतिहास को रचनात्मक मानता है और सामाजिक विकास की मानवीय रचना प्रक्रिया स्वीकार करता है। और वह इतिहास के अक्षुण्ण क्रम में उत्थान-पतन के रूप को निश्चित मानता है। इसके चिन्तन में सांस्कृतिक चेष्टा के जिस रूप को इतिहास माना गया है, उसका सम्बन्ध महान् पुरुषों, राज-वंशों, योद्धाओं और सामन्तों से न होकर युग के पूरे परिसर और समूह मन (ग्रुप माइण्ड) से है। सभ्यताओं की प्रगति समूह मन के द्वारा होती है और सामाजिक विकास का मूल्यगत अनुभव, जो वास्तव में सांस्कृतिक बोध है, संस्कृति के विभिन्न पक्षों के अन्तर्वर्ती सम्बन्धों के माध्यम से सम्भव होता है। इस अन्तःसम्बन्ध के आधार पर इतिहास की कल्पना शरीर के रूप में की गई। लाइबनित्ज़ ने इतिहास के घटना-क्रम को अस्थिपंजर, वंश-परम्पराओं को शिराएँ, प्रच्छन्न उद्देश्य को अन्तरात्मा, उपयोगी दृष्टान्तों को रस, परिस्थितियों को मांस के रूप में माना है। परन्तु उनके अनुसार इतिहास की जीवनी-शक्ति सत्य है। वस्तुतः इतिहास की यह अवयवी कल्पना उसके सांस्कृतिक संचरण की भावना पर आधारित है और आगे चल कर इसका समुचित विकास हुआ है।

यूरोप का इतिहास-दर्शन अपने युग के तत्त्ववादी चिन्तन से अनुप्राणित होता रहा है। अब तक इतिहास की गति को मानव नियति से संचालित माना गया था, इस प्रकार मनुष्य को इतिहास का निर्माता और उसके विकास की सम्भावना के रूप में माना गया। परन्तु कांट ने स्वीकार किया कि यह प्रक्रिया मानव नियति को नियंत्रित रखती है। कांट के दर्शन में दृश्यमान् और अन्तर-वस्तु जगत् में फ़र्क है। दृश्यमान् जगत् को प्रत्यक्ष रूप में देखा-समझा जा सकता है, पर अन्तर-वस्तु को दृश्यमान् में निहित जीवन के मानसिक तथा आध्यात्मिक साक्षात्कार से ही जाना जा सकता है। वस्तु जगत् (दृश्यमान्) के नियमों से स्वतंत्र अन्तर्जगत् के अपने नियम हैं। मनुष्य प्राकृतिक नियमों से क्रमशः मुक्त होकर सामाजिक नियमों से परिचालित होता है। इस प्रकार दृश्यमान् के आन्तरिक तत्त्वों के प्रत्यक्षीकरण के माध्यम से

मानव प्रकृति की योजना से पूर्णतः स्वतंत्र होने के लिए अग्रसर है। वह यह भी मानता है कि मनुष्य की बौद्धिक प्रगति काल-क्रम और परम्परा पर आधारित है, अतः प्रकृति की मानवीय इतिहास विषयक योजना व्यक्तिगत जीवन में प्रतिफलित न होकर पूरे मानव-इतिहास में विकसित होती है। वस्तु जगत् में वस्तुओं का विकास उसके प्राकृतिक इतिहास में गतिशील है, पर यह बाहरी प्रगति आन्तरिक शक्तियों का ढाँचा मात्र है। आन्तरिक शक्तियाँ अपने निश्चित नियमों के अनुसार मानव जीवन में क्रियाशील रहती हैं। इस प्रकार इतिहास का बाहरी विकास-क्रम प्रकृति की सम्पूर्ण अन्तःप्रक्रिया के इतिहास को ही व्यंजित करता है। मानवीय इतिहास काल-चक्र पर गतिशील एक अनवरत प्रक्रिया है जो उसे स्वतंत्रता और सभ्यता की ओर अग्रसर कर रही है। और इस विकास के क्रम में आन्तरिक एकता और सम्बन्ध है, संघटनात्मक विकास है। इस स्तर पर पहुँच कर यूरोपीय चिन्तन काल को एक सर्जन-शक्ति के रूप में कल्पित करता है और इतिहास को इसलिए व्यापक रचना प्रक्रिया स्वीकार करता है। इस रूप में सामाजिक विकास में सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति का महत्त्व सिद्ध हुआ।

इस प्रकार प्रकृति में आन्तरिक शक्तियों की क्रियाशीलता और मानवीय इतिहास की सर्जनशीलता के अन्तःसम्बन्ध को समझ कर भी अब तक मानव जीवन को बौद्धिक स्थिरता, समन्वय, स्पष्टता और व्यवस्था के नियमों से परिचालित माना गया था। मानव प्रगति को भावना और कल्पना के माध्यम से सर्जन के नये आयामों में विवेचित करने का काम रोमेण्टिक युग के विचारकों ने किया। इन दोनों के सन्धि-स्थल पर कवि गेटे की 'जीवित प्रकृति' की कल्पना है। गेटे के अनुसार प्रकृति का प्रत्येक बदलता हुआ रूप निर्माण की प्रक्रिया का अंग है। निर्माण (गेटे ईश्वर रूप मानता है) परिवर्तित और विकसित जगत् में व्यंजित है, स्थित और निर्मित जगत् तो केवल ज्ञान का विषय है। मानव बुद्धि सजीव प्रकृति की गत्यात्मक रचनाशीलता के साथ उच्चतम मूल्यों का अनुसन्धान करती है। क्रमशः रोमेण्टिक युग में स्वीकार किया गया कि प्रकृति और मानव जीवन में निहित सर्जनशीलता को बुद्धि और तर्क के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसके रहस्यमय स्तरों के उद्घाटन के लिए मानव भावना और कल्पना अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक इतिहास की गति की एक नियति स्वीकार की जाती थी, जिसका एक साध्य है, लक्ष्य है। यह नियति मानव भविष्य को नैतिक मूल्यों तथा बौद्धिक आदर्शों के उद्देश्य की ओर ले जा रही है। परन्तु रोमण्टिक इतिहास दृष्टि मानव प्रगति को किसी ऐसे उद्देश्य या लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट नहीं मानती। मानव जीवन का प्रवाह किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख न होकर सहज प्रवाहित होने में ही मूल्यवान् है। यह जीवन स्वतः सर्जन है, प्रकृति के विकास-क्रम में और मानव के निर्माण में इसकी नानाविध अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवन की आन्तरिक सर्जन-चेष्टा प्रकृति और मनुष्य के व्यापारों को अपनी अभिव्यक्ति में उपकरण के रूप में इस्तेमाल करती रहती है। यह जीवनी-शक्ति अपने अन्तर्वर्ती प्रस्फुटन और उन्मीलन से जीवन और जगत् को प्रगतिशील रखने में समर्थ रहती है। पिछले युग के चिन्तकों ने बाह्य परिस्थितियों और शक्तियों को इतिहास की गति में महत्त्व-

पूर्ण माना था। काण्ट जैसे विचारक न अन्तर वस्तु जगत् को दृश्यमान जगत से सम्बन्धित मान कर उसके विकास के निश्चित नियम मान है, जिनके आधार पर मानव संस्कृति गतिशील है। इस प्रकार इनको जीवन के नियामक माना गया है। पर इस युग में जीवन की प्रगति को स्वतःस्फुरित और स्वतःचालित माना गया, अपनी अन्तःप्रकृति के आधार पर वह रचनात्मक मूल्यों के नये आयामों को उद्घाटित करता चलता है। यह जीवन प्रकृति, समाज और व्यक्ति में समान रूप से प्रवाहित है। जिस प्रकार यह गतिशील है, उसी प्रकार समग्र है। इतिहास की चेष्टा अपने आन्तरिक नियमों से स्वतंत्र रूप में विकसित होती है और उसकी यह प्रक्रिया समष्टिगत तथा अवयवी है अर्थात् समाज एक शरीरधारी के समान जन्म-विकास, जरा-मरण के क्रम से चल रहा है।

रोमेण्टिक युग में बुद्धि के स्थान पर मानव भावना और कल्पना के सहारे मानवीय प्रगति को समझने की चेष्टा की गई। परिणाम स्वरूप आदिम बर्बरता से आधुनिक सभ्यता तक के विकास को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की गई, जो प्रकृति के स्वतंत्र और स्वच्छन्द जीवन के अनुरूप है और मानवीय व्यक्तित्व की समानता और स्वाधीनता को प्रतिपादित करती है। रूसो की इस धारणा को हेडगर के प्रकृति के विकास से मानवीय जीवन को सम्बद्ध मानने के विचार से समर्थन मिला। हेडगर ने मानव विकास की पूर्ण अवयवी व्याख्या की, जिसमें मानव अंगी से जातीय अंगी, जातीय अंगी से ऐतिहासिक अंगी का विकास माना गया है। ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में ही संस्कृति की प्रगति संभव होती है। हेडगर की इस धारणा के आधार पर आगे चल कर जातीय संस्कृतियों और संस्कृतियों के चक्रवत् विकास की अवधारणाएँ सामने आईं। इसके साथ विश्व इतिहास के विकास की सम्पूर्ण एकता की कल्पना की जाने लगी। शीलर आधुनिक युग को संस्कृति के स्वरूप को बर्बर युग के विकास-क्रम मे विवेचित करते हैं। सम्पूर्ण इतिहास-क्रम और उसके विश्व-व्यापी स्वरूप की व्याख्या का लक्ष्य अतीत की सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच से वर्तमान मानवीय मूल्य-दृष्टि की खोज करना माना गया, और इतिहास में राजनीतिक क्रम-विकास की अपेक्षा अर्थ, धर्म, दर्शन, साधना और कला के सांस्कृतिक संचरण को अधिक महत्त्व मिला।

रोमेण्टिक युग में इतिहास का अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि पर विशेष रूप से आधारित रहा है। और उसका लक्ष्य विभिन्न संस्कृतियों के सर्जनात्मक मूल्यों से अपने युग की मूल्य-दृष्टि को पहचानना था। हर युग की संस्कृति की एक वैयक्तिक और विशिष्ट आत्मा मानी गई, जो उस युग के आदर्शों, विचारों और मूल्यों में अभिव्यक्त होती है। इसी अभिव्यंजना का विवेचन करना और विभिन्न युगों में इनका क्रम खोजना इतिहासकार का काम स्वीकार किया गया। फ़िश्ते ने इस प्रक्रिया को मूलभूत विचार का बौद्धिक ढाँचा मान कर वाद, प्रतिवाद और समवाद के क्रम से उसके विकास की गति निरूपित की है। स्मरणीय है, पिछले बुद्धिवाद से इस धारणा का अन्तर है। यहाँ यह क्रम प्रकृति के नियमों से उस प्रकार अनुशासित तथा नियंत्रित नहीं है और न मानव नियति का पिछला रूप ही निर्दिष्ट है। विकास का यह द्वन्द्वात्मक (बाद में हेगल द्वारा स्पष्टतः निरूपित) क्रम मनुष्य की स्वतंत्रता और सर्जनशीलता जैसे भावपरक मूल्यों को प्रतिपादित करता है। समवाय या सामंजस्य के रूप में फ़िश्ते

रचनाशीलता की ओर संकेत करता है। मनुष्य की विकास की दिशा (कलात्मक स्वतंत्रता) को मानने के पीछे यही धारणा है, क्योंकि प्रेम, औदार्य, सौहार्द्र जैसे मूल्यों का सम्बन्ध इससे स्थापित किया गया है। हेगल ने इस द्वंद्वात्मक बौद्धिक प्रक्रिया को मानव स्वतंत्रता की चेतना के रूप में प्रतिपादित किया है, जो घटनाओं के कार्य-कारण के बजाय आन्तरिक प्रवृत्तियों के सूक्ष्म कार्य-कारण में विकसित होती है। इसका प्रसार देश-काल व्यापी है, अतः इतिहास मानव प्रगति का पूर्ण वृत्त है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्षों में इसके बाह्य रूप तथा प्रतिक्रियाओं को देखा जा सकता है। हेगल इतिहास को प्रकृति के विकास-क्रम के रूप में नहीं देखते, प्रकृति का परिवर्तन चक्र आवृत्तिमूलक है, जबकि मानव प्रगति में नवीनता रहती है। वह भावना को बुद्धि का विरोधी न मान कर उसका उपकरण मानते हैं। इस प्रकार इतिहास के संचरण में मनुष्य के विचार और इच्छा का महत्त्व है। शेलिंग के चिन्तन में दो विरोधी प्रक्रियाओं के अन्तर्द्वंद्व में पूर्ण की स्थापना है। वस्तुतः बुद्धि द्वारा ग्राह्य वस्तु-जगत् में परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। प्रकृति और इतिहास अपने-अपने ज्ञेय रूप में पूर्ण तत्त्व के विभिन्न आकार हैं। प्रकृति के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर बना रहता है, जबकि इतिहास की मानसिक तथा वैज्ञानिक क्रिया प्रक्रिया में यह अन्तर मिट जाता है। अतः आत्म-ज्ञान तथा आत्म-चेतना रूप मनुष्य के मन की मुक्ति और नियमन दोनों चेतनाओं का सर्जन-क्रम इतिहास में परिलक्षित होता है।

१९वीं शती के इतिहास चिन्तकों ने हेगल की इतिहास सम्बन्धी बौद्धिक दृष्टि को अस्वीकार नहीं किया है, वरन् उन्होंने मन को मूर्त रूप में स्वीकार किया तथा हेगल द्वारा अस्वीकृत तत्त्वों पर बल देते हुए उन्हें अविभक्त पूर्णता में नियोजित किया। मार्क्स और रांके ने ठीक हेगल के अर्थ में इतिहास में 'विचार' को स्वीकार किया है। मनुष्य का अपने जीवन के बारे में यह विचार युगीन परिवेश से ग्रहण किया जाकर सम्पूर्ण जीवन के संयोजन में सहायक होता है। परन्तु मार्क्स स्वीकार करते हैं कि द्वंद्वात्मक पद्धति से यह विचार अनेक विचारों में बदल जाता है और उसको व्यक्त करने वाली जीवन-पद्धति विशृंखल हो जाती है। खण्डित होने के बाद यह पुनः दूसरे विचार को अपने स्थान पर अभिव्यक्त करता है। हेगल के समान मार्क्स यह मानते हैं कि मानव इतिहास के अन्तर्गत आर्थिक, राजनीतिक, कलात्मक, धार्मिक आदि सभी पक्षों का समाहार है। और जिस प्रकार हेगल ने इतिहास की इस प्रकार की अवयवी एकता को नहीं स्वीकार किया, जिसमें विकास के सभी सूत्र अपनी निरन्तरता तथा अन्तःसम्बन्ध को सुरक्षित रखते हैं, वरन् माना कि इस ऐकता में राजनीतिक इतिहास का सूत्र निरन्तर सभी अंगों को संयोजित रखता है; उसी प्रकार मार्क्स ने आर्थिक इतिहास-क्रम को यह महत्त्व प्रदान किया। मानवीय इतिहास के विभिन्न तत्त्वों में मार्क्स के अनुसार निरन्तरता नहीं है, वे अपने विकास के प्रत्येक बिन्दु पर मौलिक आर्थिक तथ्य की प्रतिच्छवियाँ हैं। हेगल के अनुसार विचार-तत्त्व न केवल प्रकृति की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं, वरन् इतिहास की रूप-रेखा भी निर्मित करते हैं। प्रकृति-बोध के पूर्व मनुष्य की बौद्धिक चेष्टा (तर्क शक्ति) स्वीकृत है, अतः ऐतिहासिक योजना-क्रम का निर्धारण इसी से होता है, प्रकृति केवल उस परिवेश को

निश्चित करती है जिसमें यह योजना कार्यशील होती है परन्तु मार्क्स के चिन्तन में प्रकृति का महत्त्व इतिहास के परिवेश से अधिक है, वस्तुतः उसी स्रोत से इतिहास के प्रतिरूपों का विकास होता है। मार्क्स अठारहवीं शती के ऐतिहासिक प्रकृतिवाद की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं; जिस सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं के प्राकृतिक कारण होते हैं। हेगल ने इतिहास की धारणा को इससे मुक्त किया था, मार्क्स ने 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' के रूप में किंचित् भिन्न रूप में उसे पुनः प्रतिष्ठित किया।

परन्तु १९वीं शती के इतिहास दर्शन पर मार्क्स की विचार-धारा का बहुत कम प्रभाव पड़ा। बल्कि इस शती के प्रत्यक्षवाद ने इतिहास में आलोचनात्मक इतिवृत्त को महत्त्व प्रदान किया। प्रत्यक्षवाद ने तथ्यों के विवेचन और नियमों के प्रतिपादन की वैज्ञानिक शैली अपनाई। इस स्कूल के इतिहासकार सामग्री का संकलन, आलोचनात्मक दृष्टि से तथ्यों का अनुसन्धान, और अन्ततः भावों और विचारों के संस्पर्श से इतिहास युग को सजीव करना अपना कार्य स्वीकार करते थे। प्रत्ययवादियों के विपरीत प्रत्यक्षवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया को प्रकृति की प्रक्रिया के समान मानते हैं। इसीलिए ये भौतिक विज्ञान की पद्धति को इतिहास की व्याख्या में स्वीकार करते हैं। वस्तुतः १९वीं शती में डार्विन के विकासवाद ने प्रकृति के सम्बन्ध में विज्ञान की दृष्टि को बदला। विकासवाद ने प्रकृति के विकास-क्रम को भी निरूपित किया। इस प्रकार इतिहास और प्रकृति दोनों को एक समान विकास के नियमों से परिचालित देखा गया। नीबूहर, मेतलैण्ड, मामसेन, हुम्बोल्ट तथा रान्के आदि इतिहासकारों ने तथ्यों को बहुत श्रमपूर्वक संकलित किया और उनको प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अनेक तरह के साक्ष्य जुटाए। प्रत्येक तथ्य को स्वतंत्र रूप में विवेचित किया गया, यहाँ तक कि जानने वाले से उसे पूर्ण स्वतंत्र स्वीकार किया गया। इस प्रकार इतिहास से इतिहासकार का आत्मपरक पक्ष बहिष्कृत हो गया, इतिहासकार का काम तथ्यों का यथावत् वर्णन करना माना गया, न कि उन तथ्यों का विवेचन करके निर्णय लेना।

१९वीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रत्यक्षवादी इतिहास दृष्टि का विरोध हुआ। क्योंकि प्रत्यक्षवादी प्राकृतिक विज्ञान की पद्धति को व्यापक पद्धति मानते थे और ज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के रूप में स्वीकार करते थे। इनके विरोधी विज्ञान और बुद्धि के प्रति विद्रोही जान पड़ते हैं। वस्तुतः वे स्वयं इतिहास के बारे में वैज्ञानिक दृष्टि रखते हैं। उनका केवल विरोध ऐसे दर्शन से था जो विज्ञान को ही ज्ञान मानता था और ऐसे सिद्धान्त से था जो बुद्धि को प्राकृतिक विज्ञान की कोटि के चिन्तन तक सीमित करता था। एफ़. एच. ब्रेडले ने स्वीकार किया कि ऐतिहासिक ज्ञान केवल साक्ष्यों की तटस्थ स्वीकृति मात्र नहीं है, वरन् आलोचनात्मक व्याख्या है। ऐसी ऐतिहासिक व्याख्या के लिए कसौटी आवश्यक है। यह कसौटी इतिहासकार को, ब्रेडले के अनुसार, वैज्ञानिक ज्ञान से मिलती है, जो प्रत्यक्षानुभव के आधार पर ही परिकल्पित किया जाता है। ब्रेडले के अनुसार यथार्थ न अलग-अलग विशेषों से बना है और न अमूर्त सामान्यों से, वरन् व्यक्तिगत तथ्यों का ऐतिहासिक होना ही यथार्थ है। वस्तु के आभास से भिन्न उसमें अन्तर्निहित सत्ता यथार्थ नहीं है, वरन् आभास ही यथार्थ है। इन आभासों से पूर्ण

व्यवस्था का रूप सामने आता है जो अनुभव से बना है और हमारे सारे अनुभव उसकी प्रतीति के अंश हैं। यथार्थ न केवल अनुभव है, वरन् तात्कालिक अनुभव है, विचार इस यथार्थ को विभक्त, विभिन्न और बाधित करता है। अतः विचार अनुभव की तात्कालिकता को नष्ट कर यथार्थ को विरूप करता है। हम मानसिक जीवन के तात्कालिक प्रवाह में यथार्थ की प्रतीति करते हैं। इस प्रकार ब्रेडले ने प्रत्यक्षवादियों का विरोध करके पुनः दूसरे स्तर पर उनका प्रभाव स्वीकार कर लिया है। इस चिन्तन के प्रभाव में बोसांके और इंगे इतिहास को क्रमिक घटनाओं की सन्देहास्पद कहानी मान कर अस्वीकार करते हैं।

वैज्ञानिक इतिवृत्त की दृष्टि के साथ इस युग में इतिहास का विवेचन प्रवृत्तपरक भी रहा है। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में प्रगति का विचार आस्था का विषय हो गया था। राबर्ट मेकंज़ी जैसे इतिहासकार अज्ञान, पाशविकता और बर्बरता से विज्ञान, सभ्यता और स्वतंत्रता की ओर इतिहास की प्रगति विवेचित करते हैं। क्रमशः एक वर्ग के इतिहास चिन्तकों ने इतिहास की प्रक्रिया को मनुष्य के जीवन को प्रगतिशील बनाने और सार्थक करने के लिए प्रयोजनीय माना। वैज्ञानिक पद्धति से अन्य तथ्यों के समान इतिहास के तथ्यों के नियमों की खोज की जा सकती है। जिस प्रकार दर्शन और विज्ञान का लक्ष्य अन्ततः समाज के जीवन को संघटित और उन्नत करना है, उसी प्रकार वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इतिहास के अन्तर्गत सामाजिक जीवन-क्रम की व्याख्या की जा सकती है, जिसके आधार पर पुनः उसका निर्माण भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से आगस्त कॉम्ते ने इतिहास चिन्तन को दर्शन के तत्त्व-वादी सिद्धान्तों से अलग किया। इस प्रकार परीक्षण के आधार पर इतिहासकार की कल्पना इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन में प्रवृत्त हुई। कॉम्ते सामाजिक जीवन के अध्ययन से प्राप्त नियमों के प्रकाश में ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन के पक्ष में हैं और स्वीकार करते हैं कि इस अध्ययन से इतिहास की आन्तरिक प्रक्रिया के द्वारा उसकी भावी गतिविधि की दिशा निर्धारित की जा सकती है। इन्होंने परिसर (मिल्यू) के आधार पर सामाजिक रचना और उसके विकास पर विचार किया, जिसका प्रभाव बाद के इतिहास चिन्तन पर देखा जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक घटना या तथ्य को उसके परिसर में ही ठीक विवेचित किया जा सकता है, अतः तेन और बकिल जैसे इतिहास चिन्तकों ने इतिहास के विभिन्न युगों की संस्कृतियों का विकास इन भौतिक परिस्थितियों और कारणों के आधार पर माना है। यह युग विशेष का परिसर (मिल्यू) उसकी सभ्यता को निरूपित करता है। ये विचारक ऐतिहासिक तथ्यों के संग्रह और विश्लेषण मात्र को इतिहास स्वीकार नहीं करते। उन्होंने इतिहास के विभिन्न युगों का विवेचन राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक, बौद्धिक आदि सभी पक्षों के साथ प्रस्तुत किया। इस वैज्ञानिक इतिवृत्त के युग में इन चिन्तकों ने इतिहास को युगीन संस्कृति के रूप में विवेचित करने की चेष्टा की, संस्कृति की प्रक्रिया में मनुष्य के धार्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक तथा बौद्धिक मूल्यों के अन्तःसम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया और अन्ततः किसी न किसी स्तर पर उनके चिन्तन में मानव प्रगति और भविष्य का स्वरूप भी निहित है।

प्रत्यक्षवादियों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरोध में चिन्तन शुरू हो चुका था। ब्रेडले

आदि की चर्चा ही गई है। परन्तु इस प्रतिक्रिया के दौरान प्राय: ऐसा हुआ कि जिन विचारकों ने प्राकृतिक विज्ञान का इतिहास के क्षेत्र में विरोध किया, अन्ततः दूसरे ढंग से उन्होंने उसे स्वीकार भी किया। बरी प्रत्यक्षवाद को खुले मन से स्वीकार नहीं कर सके, अतः उनका प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण अपूर्ण और विरोधी रहा है। इतिहास को उन्होंने अलग तथ्यों के संयोजन के रूप में माना, जिनमें से प्रत्येक की बिना दूसरे के सन्दर्भ के जाँच की जा सकती है। परन्तु कालिंगउड के अनुसार वे यह नहीं देख सके कि एक नये तथ्य को पुराने तथ्य समूह में जोड़ देने पर पुराने का पूर्णतः रूपान्तरण हो जाता है। बरी ने प्रकृति के अनुभववादी विज्ञानों की प्रत्यक्षवादी तर्क-पद्धति से विद्रोह किया और इतिहास की पद्धति को इससे भिन्न बताया। इतिहास के विशिष्ट दृष्टिकोण से मानवता को संसार की एक नयी दृष्टि मिली। बरी के अनुसार जहाँ तक इतिहास व्यक्तिपरक है उसमें प्रत्येक वस्तु आकस्मिक है और आवश्यक कुछ नहीं है। वह स्वीकार करते हैं कि इतिहास का वास्तविक कार्य आवश्यक तत्वों से आकस्मिक तत्वों का अन्तर करना है। परन्तु जहाँ तक इतिहास के व्यक्तिगत रूप का प्रश्न है, मानवीय विकास के इस रूप में ज्यों-ज्यों समय बीतेगा आकस्मिकता का महत्त्व कम हो जायगा, और घटना-क्रम में मौके का हाथ कम रह जायगा। इसलिए बरी ने कहा कि इतिहास व्यक्तिपरक ज्ञान है। ऑकशाट ने ब्रेडले के समान यह नहीं माना कि अनुभव तात्कालिक चेतना है, अर्थात् संवेदनों तथा अनुभूतियों के प्रवाह रूप में है। यह अनुभव सदा विचार, मूल्यांकन तथा सत्यापन भी है। क्योंकि अनुभव को तात्कालिक नहीं माना गया, वरन् उसमें विचार और ध्यान भी निहित माने गये हैं। ऐसी कोई अनुभूति नहीं जो चिन्तन के तत्व से रहित हो और ऐसी कोई संवेदना नहीं है जो निर्णय से रहित हो। विज्ञान और इतिहास दार्शनिक अनुभूति की अभिव्यक्ति की शैलियाँ हैं, विज्ञान में अनुभव-जगत् को माप-योजना के रूप में समझा जाता है और इतिहास का वैशिष्ट्य इस बात में है कि इस पद्धति से अतीत को घटनाओं के रूप में पूर्ण अनुभव जगत् को संयोजित किया जाता है। इस प्रकार ऑकशाट इतिहास को पृथक् घटनाओं का संग्रह नहीं मानते, वरन् भावनाओं और विचारों की अनवरत परम्परा के रूप में अपने आप में पूर्ण मानते हैं। इतिहास वस्तुपरक घटनाओं का जगत् न होकर भावों का जगत् है और ये अमूर्त न होकर आलोचनात्मक, सत्य और विचार रूप हैं। वैज्ञानिक पद्धति से घटनाओं के पृथक्करण, वर्गीकरण और विश्लेषण द्वारा इसे नहीं समझा जा सकता। ऐतिहासिक अतीत को वर्तमान से भिन्न और स्वतंत्र मानने का अर्थ उसे निश्चित और समाप्त मानना है। पर इतिहास का अतीत वर्तमान के साक्ष्य के आधार पर वर्तमान काल में बनाया गया भाव-जगत् है।

जर्मनी में १९वीं शती के अन्तिम चरण में इतिहास चिन्तन वैज्ञानिक पद्धति से स्वतंत्र होने के प्रयत्न में संलग्न है। कांट और हेगेल के समय से वहाँ इतिहास और विज्ञान में अन्तर करने की प्रवृत्ति प्रचलित थी। लात्स जैसे विचारक ने इस शताब्दी के मध्य में कहा था कि प्रकृति का क्षेत्र आवश्यकता है और इतिहास का क्षेत्र स्वतंत्रता है। ड्रायसन ने घटनाओं (अस्ति) के सह-अस्तित्व को, प्रकृति और घटित होने के क्रम को इतिहास कहा था। इसके अनुसार स्थायी तत्वों के संविधान के रूप में प्रकृति को माना गया और इतिहास को निर्माण

की अनवरत प्रक्रिया स्वीकार किया गया। विन्देलबान्त के अनुसार विज्ञान का प्रयोजन सामान्य नियमों का निर्धारण है और इतिहास में वैयक्तिक तथ्यों का वर्णन रहता है। विधिपरक विज्ञान (nomothetic), प्रकृति विज्ञान सार्वभौम और सामान्य का ज्ञान है और भावात्मक विज्ञान, इतिहास, वैयक्तिक तथा विशिष्ट का ज्ञान है। इनके अनुसार विज्ञान का कार्य नियमों की खोज करना है और इतिहास का प्रयोजन मूल्य निर्धारण है। यूरोपीय दार्शनिक परम्परा में वैयक्तिक और विशिष्ट का ज्ञान असम्भव माना गया है, विशिष्ट या विशेष का क्षणिक और अनित्य प्रत्यक्षानुभव किया जा सकता है, जो कभी स्थिर और तार्किक वैज्ञानिक ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। विन्देलबान्त ने इस प्रश्न का समाधान ऐतिहासिक घटना-क्रम के ज्ञान को मूल्य-प्रक्रिया मान कर किया है। रिकर्त ने इस चिन्तन को अधिक व्यवस्थित किया है। उनके अनुसार विज्ञान और इतिहास में एक के बजाय दो अन्तर हैं, पहला सामान्यीकरण और विशेषीकरण का अन्तर है और दूसरा मूल्य-प्रक्रिया और मूल्यविहीनता का है। यदि प्राकृतिक विज्ञान अपने शुद्ध रूप में सामान्यीकरण की मूल्यविहीन बौद्धिक प्रक्रिया है, तो इतिहास का मुख्य क्षेत्र मूल्यांकन और विशेषीकरण की प्रक्रिया है। रिकर्त के अनुसार प्रकृति भी पृथक्-पृथक् तथ्यों से निर्मित है, जैसे इतिहास के तथ्य हैं। और विज्ञान की बौद्धिक चेष्टा प्रकृति के इन तथ्यों के आधार पर सामान्य नियम तथा सिद्धान्त खोजती है। अन्ततः यह निरपेक्ष बौद्धिक संयोजन का आश्रय लेकर यथार्थ से पूरी तरह विच्छिन्न हो जाती है। अतः एक सीमा पर रिकर्त के अनुसार निरपेक्ष अमूर्त चिन्तन है और दूसरी ओर मूर्त और वास्तविक ज्ञान है, जो यथार्थ का उसके विशेष अस्तित्व के रूप में ज्ञान माना जा सकता है। इस प्रकार वे घूम कर प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक दृष्टि को स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे इतिहास में वैयक्तिक और विशेष तथ्यों के संयोजन को मान लेते हैं। इतना अन्तर वे जरूर मानते हैं कि इतिहास के विशेष तथ्य मूल्यों के वाहक भी होते हैं। सिमेल विज्ञान और इतिहास के तथ्यों की प्रकृति में अन्तर मानते हैं। विज्ञान के तथ्य सामने उपस्थित होते हैं, परीक्षण की वस्तु होते हैं, पर इतिहास के तथ्य इस अर्थ में प्रस्तुत नहीं होते। वह विभिन्न साक्ष्यों, प्रमाणों और सामग्री से तथ्यों की रचना करता है। इस प्रकार इतिहास मानव आत्मा और व्यक्तित्व का कार्य है। परन्तु सिमेल की दृष्टि के बारे में यह प्रश्न उठेगा कि आत्मीय व्याख्या वस्तुपरक व्याख्या कैसे होगी!

इस प्रकार इतिहास के पिछले वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरोध में जो प्रतिक्रिया शुरू हुई, वह उतनी वैज्ञानिक पद्धति के विरोध में नहीं थी जितनी इतिहास के क्रम में मूल्यांकन को स्वीकार करने के पक्ष में थी। डिल्थे ने मानसिक विद्याओं को मिल के 'नैतिक विज्ञान' के अन्तर्गत नियोजित किया। उनके अनुसार प्राकृतिक विज्ञान का कार्य केवल वर्णन करना और सामाजिक विद्याओं का कार्य लक्ष्य और मूल्य की ओर उन्मुख करना है। विज्ञान नियमों का अन्वेषण करता है और सामाजिक विद्याएँ वस्तुओं को समझने का प्रयास करती हैं। इसी प्रकार इतिहास का वास्तविक ज्ञान वस्तु का आन्तरिक अनुभव है, जबकि वैज्ञानिक ज्ञान बाह्य वस्तु-जगत् को समझने की चेष्टा है। इतिहासकार अपने वस्तु-जगत् में जीता है अथवा अपने में वस्तु को सजीव करता है, डिल्थे की यह धारणा महत्त्वपूर्ण है। उनके लिए जीवन का अर्थ

तात्कालिक अनुभव है, जो चिन्तन और ज्ञान से भिन्न है। अतः उनको अपने इतिहास दर्शन में मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ा। अपने को जानने के लिए अर्थात् अपने व्यक्तित्व की संरचना को समझने के लिए अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा। इसी प्रकार इतिहासकार अतीत को अपने मानस में जीता है, पर इतिहासकार के रूप में उसे अतीत को समझना होता है जिसे वह इस प्रकार जीता है। और इस पुनर्जीवन की प्रक्रिया में वह अपने व्यक्तित्व को विस्तार देता है, विकसित करता है। वह अतीत के लोगों के अनुभवों को अपने अनुभवों में संयोजित करता है। और यह सब उसके व्यक्तित्व की रचना का अंग हो जाता है। डिल्थे ऐतिहासिक प्रक्रिया को तार्किक चिन्तन की अपेक्षा जीवन-दर्शन से व्याख्यायित करने के पक्ष में हैं। और उनकी मूल्य-दृष्टि इतिहास की घटनाओं तथा व्यक्तित्वों की आध्यात्मिक प्रक्रिया के मानसिक अनुभवों के वर्तमान साक्षात्कार के आधार पर विकसित हुई। मेयर ने इस इतिहास की मूल्य-दृष्टि को भिन्न कोण से ग्रहण किया है। उनके अनुसार ऐतिहासिक चिन्तन का वस्तुगत आधार अपने वैशिष्ट्य में ऐतिहासिक तथ्य है। पर संयोग और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति इतिहास के निश्चयात्मक कारण हैं, जिनको इतिहास के सत्त्व को नष्ट किये बिना इतिहास-प्रक्रिया से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। मेयर इतिहास में घटित को महत्व देते हैं, परिवर्तन को गौण स्थान देते हैं, जो घटित के साथ लगा हुआ है। कालिंगवुड ने ठीक ध्यान आकर्षित किया है कि मेयर ने स्वतंत्र इच्छा-शक्ति को स्वीकार करके भी कार्य के स्थान पर घटित को महत्व देने में चूक की है। वस्तुतः घटनाएँ इच्छा-शक्ति द्वारा सम्पादित होती हैं और स्वाधीन तथा विवेकी कर्त्ता के विचारों में अभिव्यक्त होती हैं। इतिहासकार वस्तुतः अपने मन में इसी विचार को पुनः चिन्तन करके अन्वेषण करता है।

फ्रांसीसी विचारकों ने प्राकृतिक विज्ञानों की कार्य-कारण-प्रक्रिया को इतिहास के क्षेत्र में अस्वीकार किया और उसके स्थान पर उसे स्वतंत्र और स्वतः प्रसारी आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में विवेचित किया। रावेसाँ तथा लाशलिए जैसे विचारकों ने अन्तिम कारण की दृष्टि से ज्ञान को आत्मिक, स्वतःसर्जनशील और स्वसंयोजित स्वीकार किया। यहाँ इन्होंने यही जीवन प्रकृति में स्वीकार किया, जिसे प्रत्यक्षवादी देखने में असमर्थ रहे। प्रकृति सोद्देश्यवादी दृष्टि से जीवित शरीर है और इसी कारण इसके अंगों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। यहाँ देखने की बात है कि आत्मिक यथार्थ को प्रतिपादित करने के लिए प्रकृति के यथार्थ को आत्म-तत्त्व के रूप में प्रस्तावित किया गया है। लाशलिए ने यह भी माना कि आत्मिक जीवन केवल जीवन नहीं वरन् तर्कसंगत भी है। वस्तुतः ज्ञान रूप विचार स्वतंत्रता का व्यापार है, और क्योंकि आत्मिक क्रिया पूर्णतः स्वतः प्रवर्तित है, ज्ञान भी संभव है। वैज्ञानिक की आत्मिक क्रियाओं का परिणाम विज्ञान है, और आत्मा तथा मन की स्वतंत्र स्थिति और क्रिया से ज्ञान संभव होता है? बर्गसाँ जीवन को मानसिक अवस्थाओं का क्रम मानते हैं। पर यह नैरन्तर्य विशेष अर्थ में माना गया है। एक अवस्था दूसरी अवस्था का अनुसरण नहीं करती, क्योंकि जब दूसरी शुरू होती है तो पहली समाप्त नहीं होती, वरन् एक दूसरे में प्रविष्ट होती है अर्थात् अतीत वर्तमान में जीता है और दोनों मिल कर एक हो जाती हैं। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुभव अनेक अनुभवों के स्थान पर विशेष रूप से संयोजित एक अनुभव होता है। जिस प्रकार यह संयोजित

होता है, वह काल रूप है। काल के प्रवाह में अनेक घटना-खण्ड एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार वर्तमान में अतीत सम्मिलित रहता है। यह कालिक संयोजन चेतना की विशेषता है और स्वतंत्रता का आधार है। क्योंकि वर्तमान अतीत को धारण करता है, अतः वर्तमान का निर्णय अतीत को बाहरी वस्तु मान कर नहीं किया जा सकता। वर्तमान स्वतन्त्र है, सजीव और क्रियाशील है, और वह अपने अतीत को अपने ही कार्यों से समाविष्ट करता है और जीवित रखता है। इस प्रकार बर्गसाँ के अनुसार अतीत के वर्तमान से अन्तर्मिलन के कारण व्यक्ति अतीत का अनुभव प्रतिक्षण करता है। वह इसका आनन्द भी पाता है, किन्तु इसे चिन्तन से समझ नहीं सकता। इतिहासकार को चाहिए कि अपने इतिहास युग में अपने को निमग्न कर दे और ऐसा अनुभव करे कि युग-विशेष स्वतः उसके मन में गतिशील हो उठा है। परन्तु मानसिक प्रक्रिया बौद्धिक प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती, यह विचारों की निरन्तरता न होकर संवेदनाओं और संवेदनों का नैरन्तर्य है और इनको ज्ञान नहीं माना जायगा। पर बर्गसाँ की दृष्टि में चेतना का जीवन सदा तात्कालिक अनुभव का जीवन रहा है, जिसमें विचार, चिन्तन और तार्किकता का नितान्त अभाव रहा है। अतः यह वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया नहीं हो सका, यद्यपि वर्तमान में अतीत को अन्तर्निहित रखने के कारण यह ऐतिहासिक प्रक्रिया के समान जरूर लगता है।

क्रोचे भी मानते हैं कि इतिहासकार का कार्य अपने युग के जीवन को अपने अन्दर संक्रान्त करना है। क्रोचे ने कला को व्यक्तित्व का सहजानुभव और अभिव्यंजना माना है। इतिहास एक प्रकार की कला है, क्योंकि इतिहास का सम्बन्ध वैयक्तिक तथ्यों से होता है। कला भावों-संवेगों की क्रियाशीलता नहीं है, वरन् बौद्धिक क्रिया है। यह व्यक्ति का या विशिष्ट का बोध है। विज्ञान सामान्य का ज्ञान है, इसका काम सामान्य प्रत्ययों की सृष्टि करना है और उनमें सम्बन्ध निर्धारित करना है। क्रोचे सामान्य और विशेष, नियमपरक और व्यक्ति-परक के अन्तर को बेमानी समझते हैं। सहजानुभव की प्रक्रिया में सामान्य और विशेष अभिन्न रूप से सन्निहित हैं। सामान्य तभी सार्थक है जब विशेष में व्यक्त हो सके। अमूर्त परिभाषाओं के पीछे विचारक की दृष्टि, समस्या की विशिष्टता और समाधान की वैयक्तिकता प्रच्छन्न रहती है। अतः इतिहास के तथ्यों के साक्षात्कार में निर्णय की प्रवृत्ति निहित रहती है। इस प्रकार क्रोचे के अनुसार इतिहास वैयक्तिक तथ्यों के क्रम-विकास को हृदयंगम करता है और उसको अभिव्यक्त करने की क्रिया है। इतिहास का एक पक्ष तथ्यों के काल्पनिक वर्गीकरण द्वारा नियमों का निरूपण करता है। इतिहास समसामयिक होता है, जिसका साक्ष्य विद्यमान है। यह यथार्थ घटित है, अतः सम्भाव्य के अन्तर्गत आता है और इस दृष्टि से क्रोचे इतिहास को सम्भाव्य को अभिव्यक्त करने वाली कला के रूप में स्वीकार करते हैं। इस परिकल्पना में इतिहास को प्रस्तुतीकरण और मूल्यांकन, सार्वभौम और वैयक्तिक, सामान्य और विशेष की प्रक्रिया के रूप में एक साथ स्वीकार किया गया है।

कॉलिंगवुड ने पिछली प्रत्यक्षवादी और अनुभववादियों की वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि का विरोध करने वाले विचारकों के चिन्तन को प्रस्तुत करते समय उनकी सीमाओं का निर्देश किया है। उनके अनुसार इनमें से अधिकांश विरोध से शुरू करके पुनः किसी न किसी रूप में

वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय ग्रहण करते हैं और इस कारण उनकी इतिहास दृष्टि में विभ्रम और असंगतियाँ आ गई हैं या अपने द्वारा उठाई गई समस्याओं का उचित समाधान करने में वे सफल नहीं हुए हैं। कॉलिंगउड के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर करना उचित नहीं है। ज्ञान का सर्जन-प्रक्रिया से आन्तरिक सम्बन्ध है। निर्माण की प्रक्रिया में ही हमको वस्तु का वास्तविक ज्ञान होता है। इस दृष्टि से इतिहास का अतीत वर्तमान में सुरक्षित नहीं माना जा सकता। और न समसामयिक अर्थ में यह वर्तमान माना जायगा। ऐतिहासिक अतीत हमारे वर्तमान अनुभव जगत् में भिन्न तत्त्व के रूप में बाधा नहीं पहुँचाता है, वरन् वह इस अनुभव के साथ संश्लिष्ट रूप ग्रहण कर लेता है। वर्तमान में अतीत सजीव रूप में उपस्थित होता है, केवल भौतिक घटना के रूप में नहीं, क्योंकि अतीत का ज्ञान तभी संभव होगा जब वह हमारे सर्जनात्मक अनुभव का रूप हो। वस्तुतः ऐतिहासिक मानस का अस्तित्व अतीत के मानसिक विकास से संभव हुआ है और इसी कारण वह इतिहास की प्रक्रिया को ग्रहण करने में समर्थ होता है। इतिहासकार अतीत के विचारों के दाय के आधार पर अतीत का सजीव ज्ञान ऐतिहासिक चेतना में ग्रहण करता है। इस प्रकार इतिहास का सजीव अतीत वर्तमान में रहता है, परन्तु उसे वर्तमान के तात्कालिक अनुभव के रूप में न मान कर वर्तमान अन्तःबोध के रूप में समझना चाहिए। इतिहासकार का स्वयं ज्ञान उसके मानस में अतीत के अनुभवों को पुनरुज्जीवित तथा पुनरवतरित करके अतीत को वर्तमान में सजीव करता है। मन अपने को जानता है, और ऐतिहासिक प्रक्रिया मानसिक जीवन के रूप में ऐसी प्रक्रिया है जो अपने आप को समझती है, अपनी आलोचना करती है और अपना मूल्यांकन करती है। इतिहासकार का ऐतिहासिक ज्ञान या विचार घटना के रूप में न होकर कार्य के रूप में होता है, क्योंकि मानसिक सर्जन-प्रक्रिया में ही इतिहास बनता है। कॉलिंगउड के अनुसार इतिहास विचारों का इतिहास है, उसके अतिरिक्त इतिहास का विषय कोई वस्तु नहीं हो सकती। सच्चा ज्ञान विचारों का ही होता है, यह मन की आन्तरिक प्रक्रिया है। कॉलिंगउड की इतिहास-दृष्टि के बारे में कहा गया है कि इसमें बौद्धिक चिन्तन पर अधिक बल है, जबकि मनुष्य के जीवन में भावना, वासना और इच्छा-शक्ति का अधिक महत्त्व है। परन्तु उसकी मानसिक प्रक्रिया में इनको निहित माना जा सकता है।

प्राचीन सामी और मिस्री तथा यहूदी, इस्लामी और ईसाई इतिहास-दर्शन में हम देख चुके हैं कि दैवी और ईश्वरी इच्छा और विधान का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इतिहास-क्रम में समाज-रचना, उसके विकास और मूल्यों तथा मूलभूत आदर्शों का विवेचन इसी आधार पर किया गया। इसके विपरीत यूनानी और रोमीय इतिहास-चिन्तन, जो आधुनिक व्यापक और गम्भीर इतिहास-चिन्तन का आधार रहा है, बौद्धिक है। उसमें निरन्तर मानवीय बौद्धिक प्रक्रिया से वस्तु के यथार्थ को समझने और उसके माध्यम से परम सत्य को विवेचित करने का प्रयत्न निहित रहा है। परिणामस्वरूप आधुनिक यूरोप की इतिहास-दृष्टियाँ मनुष्य के अतीत को इतिहास के घटना-क्रम (वस्तु जगत्) के रूप में ग्रहण करती हैं। यह अलग बात है कि इस विषय में चिन्तकों में मत-भेद है कि घटना-क्रम का विचार, भावन या परिकल्पना

किस प्रकार की जाती है। ऐतिहासिक व्यक्तित्व अथवा ऐतिहासिक मानस के रूप में अतीत के अनुभव को वर्तमान अनुभव-जगत् में अन्तर्निहित माना गया है। और वैज्ञानिक नियमों की अपेक्षा इतिहास में आत्मिक और विचार प्रक्रिया को अधिक महत्त्व दिया गया है। इन दृष्टियों और चिन्तन परम्पराओं की अपेक्षा चीनी और भारतीय इतिहास-चिन्तन का आधार भिन्न रहा है। चीनी व्यावहारिक दृष्टि ने इतिहास को 'चिताओ' अर्थात् जीवन-शैली के अन्वेषण की पद्धति के रूप में माना है। और भारतीय चिन्तन में आत्म-तत्त्व की खोज प्रारम्भ से हो चुकी थी, अतः इतिहास सम्बन्धी उसका दृष्टिकोण प्रत्यक्ष घटना-क्रम और प्रत्यक्ष वस्तु के अनुभवों से मुक्ति का रहा है।

चीनी दार्शनिक चिन्तन ऐहिक आधार और व्यावहारिक उपयोगिता के दृष्टिकोण पर अग्रसर हुआ है। परिणामस्वरूप समाज की निरन्तरता और विकसनशीलता सदा उनके सामने प्रत्यक्ष रही है। समाज की इस धारणा के कारण चीनी दृष्टि में वंश-परम्परा, पूर्वजों और महापुरुषों का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। इसीलिए उनका प्राचीन देवता 'ध्यान' मानव पूर्वज ही है। इसी देवता के द्वारा अनुमति पाकर चीनी सम्राट् प्राकृतिक नियमों के अनुसार राज्य का संचालन करता था। अनुशासन के अनुसार व्यवस्था न चला पाने पर ध्यान अपनी अनुमति (मिङ्) वापस ले लेता है। यह चीनी समाज में पूर्वजों के अनुशासन और महत्त्व का प्रतीक है। मनुष्य की उच्च आत्मा (हुन) ध्यान (जो पूर्वजों का प्रतीक ही है) के संरक्षण में जाकर अपनी वंश-परम्परा का नियमन और नियंत्रण करती है। वंश-परम्परा के साथ विकसित होने वाली सामाजिक व्यवस्था को चीनी प्राकृतिक विधान के समान विकसनशील मानते हैं। इस विकास में स्थिति (यिन) और गति (याङ्) दोनों की प्रक्रिया देखी जा सकती है और यही इतिहास का प्रवाह है। स्थिति (यिन) शान्त और सन्तुलित है और गति (याङ्) अतृप्त और विक्षिप्त है। दोनों विरोधी होकर भी प्रत्येक क्षण एक दूसरे में संक्रमण करते हुए जीवन-क्रम से सहयोगी होते हैं। बाद में इस विकासवाद (जो आधुनिक वैज्ञानिक विकासवाद के समान है) के आधार पर जापानी इतिहास-दृष्टि काल-क्रम को अवनति और उन्नति के रूप में देखती है। वस्तुतः जापानी इतिहास-चिन्तकों ने उन्नति और अवनति के दृष्टिकोण को बौद्ध प्रभाव से विकसित किया है।

महान् चीनी चिन्तक कनफ्यूशियस ने समाज और प्रकृति की व्यवस्था को इतिहास में प्रतिबिम्बित माना। प्राचीन मनीषियों ने प्रकृति की भौतिक प्रक्रिया से विचार ग्रहण कर उन्हें समाज के जीवन में प्रसारित किया। इस प्रकार कनफ्यूशियस ने समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं के रूप में इन विचारों के प्रतिबिम्बित होने के क्रम को इतिहास स्वीकार किया है। अतीत के युगों में बौद्धिक विकास ने विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं को आधार प्रदान किया है। इस प्रकार इनकी इतिहास की परिकल्पना में समाज और उसकी व्यवस्था के रूपों का अत्यधिक महत्त्व है। और यही कारण है कि चीनी इतिहास-चिन्तन में सभ्यता के विकास का मूल संतुलन और औचित्य (ली) में है। चीन में बौद्ध-धर्म के प्रभाव के साथ कनफ्यूशियस के दर्शन को नया रूप मिला। चू-ही ने संतुलन और समीकरण से पंच भूतों—काष्ठ, धातु, अग्नि, जल और भूमि का विकास माना। चू-ही ने 'ध्यान' को नियम मान कर इस विकास-क्रम को उसके आधार

पर सचालित माना । इन पञ्च भूतो को प्रम (जन) सदाचार जैन) श्रद्धा (चुङ) बुद्धिमत्ता (चिह्) और हार्दिकता (सिन) के नैतिक भावो के प्रतीक रूप म माना गया । चू-ही सांख्य की पुरुष-प्रकृति की सृष्टि कल्पना के समानान्तर सृष्टि-क्रम को चक्राकार विकासवाद के रूप में व्याख्यायित करते हैं। परम तत्त्व (ताई) की शक्ति (की) सन्तुलन और सामंजस्य (ली) के आधार पर गतिशील होती है। 'ली' अर्थात् विकास-क्रम के सन्तुलन को नैतिक मान कर यह विचारक सारी इतिहास दृष्टि को नैतिक आधार प्रदान करता है।

भारतीय इतिहास दृष्टि को समझने के लिए उसकी दार्शनिक चिन्तन-पद्धतियों का अनुसरण करना होगा और इनके मूलभूत तत्त्वों पर विचार करना होगा। अन्य इतिहास-दृष्टियों से भारतीय दृष्टि के भिन्न होने का कारण इस प्रकार स्पष्ट हो सकता है। विश्व और प्रकृति की अवधारणा, काल की परिकल्पना, आत्म-तत्त्व का विकास, सृष्टि का नियति-चक्र और प्रवृत्ति पर बल आदि भारतीय दर्शन के ऐसे तत्त्व हैं, जिनसे उसकी इतिहास-दृष्टि निरूपित होती है। इस कारण इतिहास के घटना-क्रम और मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन-क्रम को महत्त्व नहीं मिल सका। प्रायः यह आरोप के रूप में कहा जाता है कि भारतीयों में अपने इतिहास को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति नहीं रही, क्योंकि उनमें इतिहास-बोध नहीं था। यह ठीक है कि अन्य देशों, जातियों और राष्ट्रों ने जिस प्रकार और जिस रूप में अपने अतीत की घटनाओं और पात्रों का विस्तृत वृत्त सुरक्षित रखा है, वैसी भारतीयों की प्रवृत्ति नहीं रही या बहुत कम रही है। परन्तु यह कहना गलत है कि भारतीयों में इतिहास-बोध नहीं था, इस कारण उन्होंने इस ओर रुचि नहीं दिखाई। वरन् इसका कारण यह है कि उनकी इतिहास-दृष्टि औरों से भिन्न रही है और उन्होंने जिस प्रकार विश्व-क्रम को प्रकृति जीवन में देखा, मानवीय जीवन में आत्म-तत्त्व का दर्शन किया, दृश्यमान् जगत् में परम तत्त्व का अनुसन्धान किया, उसको शाश्वत नैतिक व्यवस्था से सर्जनशील माना और अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रवृत्त होकर आत्मिक मुक्ति को चरम लक्ष्य प्रतिपादित किया, उसी प्रकार इतिहास का उच्च से उच्चतर की ओर प्रवृत्त होने वाली मानव आत्मा की प्रक्रिया के रूप में अनुभव किया। अतः भारतीय इतिहास-बोध प्रचीन काल से ही मानवात्मा के काल के अनन्त, अद्वैत, शाश्वत प्रवाह में मूल्यों के अनेक सर्जनात्मक स्तरों पर क्रियाशील संचरण के रूप में रहा है। इसलिए इस देश में मानव सर्जनशीलता को संस्कृति के विविध पक्षों और मूल्यों में सुरक्षित रखने का जितना उपक्रम रहा, उतना अलग-अलग घटनाओं, सामाजिक इकाइयों और व्यक्तिगत जीवियों पर ध्यान नहीं दिया गया।

जड़वादी और वस्तुवादी दर्शन के प्रभाव से इतिहास के घटना-क्रम और यथार्थ को वास्तविक मान कर उनके कार्य-कारण सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रक्रिया को देखा जा सकता है। पर भारतीय जड़वादी चार्वाक दर्शन ने मनुष्य को पूर्णतया भूतों से निर्मित माना है। उसके अनुसार मनुष्य चैतन्य है, किन्तु चैतन्य शरीर का विशेष गुण है और उसकी उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों से होती है। चार्वाक दर्शन के अनुसार यह संभव है, क्योंकि कई वस्तुओं के मिलने से नई वस्तु उत्पन्न हो जाती है। भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है, तब जीव

शरीर का निर्माण होता है। उसमें तभी चैतन्य का संसार हो जाता है। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य का नाश हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। इस रचना-दृष्टि के आधार पर इतिहास के क्रम-विकास का कोई रूप सामने नहीं आता। ध्यान देने की बात है कि यह जड़वादी दर्शन अस्तित्व को शरीर में और वर्त्तमान जीवन तक ही सीमित मानता है। शरीर द्वारा सुख प्राप्ति को एकमात्र लक्ष्य स्वीकार करता है। ईश्वर, धर्म और मोक्ष को अस्वीकार करने के साथ यह जीवन-दृष्टि वस्तु के अस्तित्व और जीवन के क्रम को भी नहीं मानती, अतः किसी इतिहास-क्रम पर इस विचारधारा के लोगों का विश्वास नहीं रहा है।

जैन-दर्शन अनीश्वरवादी है, पर चैतन्य रूप आत्मतत्त्व को स्वीकार करता है। एक ओर जैन विचारक आत्मा को चैतन्य रूप में सूर्य के समान अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली मानते हैं। दूसरी ओर, परमार्थिक ज्ञान से आत्मा और ज्ञेय का साक्षात् सम्बन्ध माना है। अवधि ज्ञान से मनुष्य अंशतः अपने कर्मों को नष्ट करके सूक्ष्म द्रव्यों और सीमित वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, मनःपर्याय से वह राग-द्वेष आदि मानसिक बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है और दूसरे व्यक्तियों के वर्त्तमान तथा भूत विचारों को जान लेता है और अन्त में केवल ज्ञान की अवस्था में मनुष्य कर्म बन्धनों से पूर्णतः मुक्त होकर अनन्त ज्ञान प्राप्त करता है। जैन-चिन्तन में जड़-द्रव्यों का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने जड़-तत्त्व को पुद्गल कहा है, जिसका अर्थ संयुक्त और विभक्त हो सकने वाला तत्त्व है। पुद्गल का सबसे छोटा अंश अणु है और अणुओं के संयोग-वियोग से पुद्गल रूप समस्त वस्तु-जगत् का विकास और विस्तार होता है। इन जड़ द्रव्यों के अतिरिक्त इनको संघटना-क्रम में लाने वाले द्रव्य हैं—आकाश, काल, धर्म और अधर्म। अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार आकाश के बिना सम्भव नहीं है।

काल भी अस्तिकाय द्रव्य न होकर अखण्ड द्रव्य है। समस्त विश्व में एक ही काल युगपत है। इस काल के कारण वर्तमान, परिणाम, क्रिया, नवीनत्व या प्राचीनत्व संभव है। वस्तुतः इनके आधार पर हम काल का अनुमान करते हैं। काल के बिना इनकी सम्भावना नहीं है, और इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि काल है। भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्तमान का अनुभव वर्तना है, अवस्थाओं का परिवर्तन परिणाम है, पूर्वापर क्रम से वस्तु का भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ धारण करना क्रिया है और इसी प्रकार काल-प्रवाह के आधार पर पूर्व तथा पश्चात्, नवीन तथा प्राचीन के अनुसार नवीनत्व और प्राचीनत्व का बोध सम्भव होता है। आकाश और काल की इस परिकल्पना के साथ जैन दर्शन में धर्म और अधर्म को पुद्गल रूपवस्तु-जगत् के विकास-क्रम में साधारण कारणों से भिन्न कारण माना गया है। धर्म और अधर्म के लिए गति और प्रमाण स्वीकार किया गया है। धर्म गतिशील द्रव्यों की गति में सहायक होता है और अधर्म द्रव्यों को स्थिर रखने में सहायक होता है।

अन्य भारतीय दर्शनों के अनुसार जैन दर्शन भी जीव के बन्धन और मोक्ष को अपने चिन्तन के केन्द्र में रख कर चलता है। जीव चेतन द्रव है, यह स्वभावतः पूर्ण है, यथार्थ में अनन्त है। शरीर धारण करने से इसके सामने अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। इन

बाधाओं से दूर हो जाने पर ही यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, तथा अनन्त आनंद प्राप्त करता है। सूर्य मेघ और तुषार के हट जाने से समस्त पृथ्वी को आलोकित कर देता है, उसी प्रकार जीव कर्म संस्कारों से उत्पन्न वासनाओं से आकर्षित पुद्‌गल के जड़ बन्धनो से मुक्त हो कर अनन्त ज्ञान आदि को प्राप्त करता है। समष्टि-दृष्टि से कर्म समस्त वासनाओं का समूह है। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कुप्रवृत्तियाँ पुद्‌गल कणों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। वस्तुत: जैन-चिन्तन के अनुसार पुद्‌गल-कणों का आकर्षण-संयोजन से जीव का कर्म-प्रवाह होता है। इस कर्म-प्रवाह (आस्राव) में कषायों (दूषित भावों) से जीव भाव बन्धन और पुद्‌गल से आक्रान्त होने से द्रव्य बन्धन में पड़ता है। इस प्रकार जीव और पुद्‌गल का संयोग बन्धन है। और पुद्‌गल से वियोग होना ही जीव का मोक्ष है। अज्ञान से मन में क्रोध, मोह, माया आदि उत्पन्न होते हैं, इस अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है।

इस प्रकार जैन-चिन्तन पुद्‌गल रूप समस्त वस्तु-जगत् को तात्त्विक नहीं मानता। ईश्वर को न मान कर और वस्तुवादी सापेक्षवादी होकर भी ये चिन्तक आत्मा, ज्ञान और मोक्ष की व्यापक भारतीय परिकल्पनाओं को स्वीकार करते हैं। वस्तुओं की यथार्थता और घटना-क्रम (कर्म-प्रवाह) को बन्धन रूप असत्य मान कर जैन-चिन्तन इतिहास के काल-क्रम को अस्वीकार कर देता है। वस्तु-जगत् और काल-क्रम के बन्धनों से ज्ञान के द्वारा मुक्त होकर चेतना का शुद्ध ज्ञान और अनन्तता का अनुभव ही जब लक्ष्य है, तो भौतिक घटनाओं, परिस्थितियों, पात्रों की ऐतिहासिक अनुभूति का कोई प्रश्न नहीं उठता। काल जीव को वस्तुगत (पुद्‌गल के प्रसंग में) स्थितियों में ही व्यंजित होता है। अतः उनकी दृष्टि में जीव की यह बन्धन और मोक्ष की यात्रा ही तात्त्विक इतिहास-क्रम हो सकता है।

बौद्ध दर्शन का मूलाधार संसार की क्षणभंगुरता है। क्षणिक विषयों में आसक्त होकर मनुष्य पुनर्जन्म और बन्धन का दुःख झेलता है। बुद्ध ने अपने भाव-चक्र के निरूपण में दु ख के कारणों की खोज करके अन्ततः अज्ञान ही को उसका आदि या मौलिक कारण माना है। और इस दुःख के निरोध को निर्वाण कहा गया है। उसके लिए दुःख-निरोध की अवस्था का सही ज्ञान आवश्यक माना गया। बुद्धदेव ने कर्म के दो रूप माने हैं, एक तरह का कर्म राग, द्वेष और मोह का कारण होता है और दूसरे तरह का कर्म राग-द्वेष-मोह विहीन है। पहला कर्म जन्म-ग्रहण का कारण है, तो दूसरा कर्म का अनासक्त भाव पुनर्जन्म की संभावना को समाप्त करता है। बुद्ध सृष्टि-क्रम में कारण देखते हैं। घटना-क्रम कारणों की श्रृंखला से स्वतःचालित हैं। उनके अनुसार न वस्तुएँ शाश्वत हैं और न ऐसी नाशवान् कि नष्ट हो जाने पर कुछ बचता ही नहीं। वस्तुओं का अस्तित्व है, पर वे नित्य नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति अन्य वस्तुओं से होती है। साथ ही वस्तुओं का पूर्ण विनाश नहीं होता, क्योंकि उनका कुछ कार्य या परिणाम अवश्य रह जाता है। आज का जीवन पिछले जीवन के कर्मों का फल है और आज के कर्म से भविष्य जीवन का भी यही सम्बन्ध है। परन्तु वे सांसारिक वस्तुओं को अनित्य मानते हैं, जो परिवर्तन-शील और नाशवान् हैं। यहाँ तक अनित्यवाद क्षणिकवाद में बदल गया, क्योंकि बौद्ध-चिन्तकों ने यह स्थापित किया है कि वस्तु का अस्तित्व क्षण-क्षण बदलता रहता है। क्षण के परिवर्तन और पुनर्जन्म के क्रम के विभेद को मिटाने के लिए बुद्धदेव ने आत्मा को अस्वीकार करते हुए

जीवन के कार्य-कारण रूप नैरन्तर्य को स्वीकार किया है। पुनर्जन्म का अर्थ नित्य आत्मा का दूसरा शरीर-ग्रहण नहीं है, वरन् वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति है। बौद्ध-चिन्तन के इस प्रारम्भिक रूप में भारतीय व्यापक चिन्तन की मूलधारा निहित है। इस कारण धर्म की उपलब्धि और निर्वाण की प्राप्ति ही इस विचार-धारा के परम लक्ष्य रहे हैं। इसके सामने लौकिक जीवन-क्रम और व्यक्तिगत चरित्र को महत्त्व देना सम्भव नहीं हो सका।

नागार्जुन ने बौद्ध-चिन्तन की परम्परा के अन्तर्गत शून्यवाद का प्रतिपादन किया। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। एक के असत्य होने पर शेष दोनों का असत्य होना सिद्ध है। वस्तु असत्य है तो ज्ञाता और ज्ञान भी असत्य हैं। स्वप्न-जगत् के समान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी असत्य हैं। अन्तर और बाह्य भी असत्य हैं, किसी प्रकार की सत्ता नहीं है, संसार शून्य है। जो हो, शून्यवादी यदि प्रत्यक्ष जगत् के परे पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते हैं, तो भी जीवन और जगत् की यह अस्वीकृति भारतीय चिन्तन को अतीत और वर्तमान के जीवन-क्रम के प्रति उपेक्षाशील बनाती है। विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न मान कर भी चित्त का अस्तित्व मान लेते हैं। विचार की स्थिति से चित्त की स्वीकृति हो जाती है और चित्त विज्ञान का प्रवाह है। शरीर और पदार्थ मन के बाहर जान पड़ते हैं, पर वे हमारे मन के अन्तर्गत हैं। वे वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान के अतिरिक्त नहीं मानते। विज्ञान का एक मात्र अस्तित्व है और मन के एक प्रत्यय रूप में वस्तु की बाह्य प्रतीति होती है। विज्ञान के प्रवाह में अतीत के अनुभव का संस्कार निहित है। परिस्थिति के अनुकूल संस्कार का प्रादुर्भाव होता है। आलय-विज्ञान ही मन है, इसमें समस्त ज्ञान बीज रूप में निहित है। यह अन्य दर्शनों के आत्म-तत्त्व के समान हो कर भी इस कारण भिन्न है कि यह चित्तवृत्तियों का एक प्रवाह है। अभ्यास और संयम से आलय-विज्ञान को वश में लाकर उससे विषय-ज्ञान की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। यदि वस्तु-जगत् को केवल प्रत्यय रूप, ज्ञान-ज्ञेय के अभेद रूप अथवा संस्कारों को ग्रहण करने वाले विज्ञान के प्रवाह रूप में मान लिया जाता, तो भी इस चिन्तन में इतिहास-क्रम का बोध प्रत्यय, विचार अथवा विज्ञान रूप में सन्निहित हो सकता था। पर निर्वाण की बाह्य जगत् के बन्धनों से मुक्त होने की भावना पारलौकिक की अपेक्षा इस लौकिक विचार अथवा विज्ञान जगत् को भ्रामक और उपेक्षणीय बना देती है।

बौद्ध-चिन्तन की एक विचार-धारा जगत् (बाह्य) और चित्त दोनों को स्वीकार करती है। बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को न स्वीकार किया जाय तो बाह्य वस्तु की प्रतीति कैसे होगी। इन सौत्रान्तिक विचारकों के अनुसार वस्तु को ज्ञान से भिन्न मानना चाहिए। यह अवश्य है कि प्रत्यक्ष वस्तुओं के जो हम आकार देखते हैं, वे ज्ञान के आकार हैं। और क्योंकि बाह्य वस्तु का ज्ञान वस्तु-जनित मानसिक आकारों के अनुमान के द्वारा होता है, इस को बाह्यानुमेय-वाद कहते हैं। इनकी तुलना में वैभाषिकों को बाह्यप्रत्यक्षवादी कहा गया है। ये बाह्य वस्तु और चित्त के अस्तित्व को मानते हैं, पर इनके अनुसार वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष मात्र से सम्भव होता है। इन विचारकों की दृष्टि में वस्तु-जगत् की स्वीकृति है और उसके आधार पर चित्त

के द्वारा प्राप्त ज्ञान की मा यता है। अत इतिहास के घटना क्रम और उसके अ तवर्त्ती कारणो की परिकल्पना की आर प्रवत्त होना सम्भव था परन्तु वस्तु के बार म एसा विवचन करने के बाद भी अन्तत: निर्वाण की ओर प्रवृत्ति और पारलौकिक जीवन की आस्था ने लोगों को जीवन के लौकिक इतिवृत्त से उदासीन ही रखा। इसके अतिरिक्त इन विचारों का अधिक प्रचार नहीं हो सका, जिसका कोई व्यापक प्रभाव जन-जीवन पर पड़ता।

भारतीय दर्शन कोरे तत्त्ववाद के रूप में नहीं हैं, उनमें तत्त्व-चिन्तन से साथ सत्य का ज्ञान और उसके साक्षात्कार का प्रयत्न भी निहित है। प्रत्येक दर्शन ने जीवन के उन्नयन या उसकी मुक्ति के लिए मार्ग भी दिखाया है। न्याय तर्कप्रधान वस्तुवादी दर्शन है, पर उसके अनुसार भी मोक्ष की प्राप्ति अथवा जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति की समस्या ही प्रधान है। उसके अनुसार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं है, वरन् वस्तुओं का अस्तित्व मन या ज्ञाता से स्वतंत्र है। मानसिक भावों और भावनाओं का अस्तित्व मन पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त न्याय के अनुसार प्रत्येक ज्ञान या प्रतीति का एक विषय है। इस प्रकार वस्तु और घटना की स्थिति स्वतंत्र मान कर, उनके आधार पर मानवीय ज्ञान या अनुभव को स्वीकार किया गया है। यह चिन्तन एक इतिहास दृष्टि प्रदान कर सकता था, जिसके अनुसार अतीत के घटना-क्रम की स्वतंत्र स्थिति को माना जा सकता है, और इतिहासकार उसकी अनुभव रूप प्रक्रिया को परिकल्पित करने में समर्थ हो सकता है। परन्तु नैयायिकों के सामने अन्य भारतीय दर्शनों के समान आत्मा के मोक्ष का उद्देश्य है, उनका तत्त्व ज्ञान का अनुसन्धान जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही है।

न्याय के समान वैशेषिक दर्शन भी वस्तुवादी है। इसके अनुसार द्रव्य गुण-कर्म से भिन्न होकर भी उनका आश्रय स्वरूप है। गुण और कर्म किसी द्रव्य में रहते हैं, अत: गुण और कर्म जिस आधार पर रहते हैं, वह द्रव्य कहलाता है। द्रव्य अपने सावयव कार्यों का समवायी कारण भी है। इनके नौ द्रव्यों में आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन के गुण नहीं माने जा सकते। आकाश, दिक् और काल अगोचर द्रव्य हैं। वे अपने आप में एक, नित्य और सर्वव्यापी हैं। आत्मा नित्य और सर्वव्यापी होने के साथ चैतन्य का आधार भी है। जीवात्मा अनेक हैं, इसका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। परमात्मा एक है, जगत् कर्ता के रूप में इसका अनुमान किया जाता है। मन वह आभ्यन्तरिक साधन है जिससे जीवात्मा और उसके गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वैशेषिक सृष्टि-क्रम को परमाणुओं के संयोग-वियोग से संचालित मानते हैं, पर यह कर्म-फल के अनुसार प्रेरित है और इसकी गति का सूत्राधार ईश्वर है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है। वैशेषिक ने द्रव्यों में नित्य और अनित्य का भेद करके माना है कि नित्य द्रव्यों की न सृष्टि होती है और न संहार ही। इस प्रकार इस दर्शन के अनुसार समस्त सृष्टि-क्रम, सृष्टि-प्रलय, ईश्वर की इच्छा से संचालित है। यहाँ धार्मिक दैव-वादी इतिहास दृष्टि का आधार ढूँढ़ा जा सकता था, परन्तु दिक्-काल आदि की अनन्त कल्पना के साथ सृष्टि और लय का अनादि प्रवाह मान लेने के कारण हमारा अपना इतिहास-बोध नगण्य हो जाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार कार्य कारण में विद्यमान रहता है, इस प्रकार विश्व और प्रकृति अवयवी हैं। इनके समस्त कार्य-कलापों में पारस्परिकता का भाव इस प्रकार विद्यमान है कि उनके प्रत्येक पक्ष में सम्पूर्ण विधान क्रियाशील हो जाता है। कार्य कारण मे विद्यमान रहता है और वही अभिव्यक्त हो जाता है। निमित्त व्याख्या का काम यह है कि वह उत्पादन कारण में अप्रत्यक्ष रूप से वर्तमान कार्य को प्रत्यक्ष कर दे। इस प्रकार सांख्य के परिणाम-वाद में कारण ही रूपान्तरित होकर कार्य हो जाता है। पिछले चार्वाक, बौद्ध, जैन तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन द्रव्य, पदार्थ, परमाणु आदि को सांसारिक विषयों के कारण मानते हैं, पर सांख्य मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों को भौतिक परमाणुओं से उत्पन्न नहीं मानता। कारण कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म और व्याप्त रहता है, अतः सांख्य, 'प्रकृति' से अनादि, अनन्त और व्यापक रूप में जगत् का कारण मानता है। 'प्रकृति' के साथ दूसरा तत्त्व 'पुरुष' का माना गया है। पुरुष रूप आत्मा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। सांख्य के अनुसार आत्मा (पुरुष) शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है। मस्तिष्क, स्नायु-मण्डल या अनुभव समूह को आत्मा समझना भूल है। जो ज्ञान का विषय नहीं हो सकता और ज्ञाता के रूप में है, वही शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है। वह चैतन्य का आधार-भूत द्रव्य नहीं, स्वतः चैतन्य है। आत्मा का गुण नहीं, स्वभाव है। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति जब पुरुष के विलक्षण संसर्ग में आती है तभी सर्जन शुरू होता है। इसमें से एक तत्त्व अपने आप सृष्टि करने में समर्थ नहीं हैं, प्रकृति जड़ है और पुरुष निष्क्रिय। प्रकृति और पुरुष के संयोग से गुणों की पूर्व साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है। तीनों गुणों—सत्, रज, तम—के संयोजन और पृथक्करण तथा न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों के स्वरूप सृष्टि का चक्र चलता रहता है जिसमें वस्तुओं के नाना रूप-गुण और विषयों का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति-पुरुष की लीला का विकास महत् (बुद्धि), अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच तन्मात्रा और पंच महाभूतों के क्रम से चलता रहता है। सांख्य के अनुसार इस सृष्टि का विशेष प्रयोजन है। यह सृष्टि क्रम नैतिक या आध्यात्मिक विकास का साधन है। सांसारिक विषयों के रूप में प्रकृति के विकास के माध्यम से पुरुष को धर्माधर्म का सुख-दुख भोग सम्भव होता है और प्रकृति के विकास की चरम लक्ष्य पुरुष की मुक्ति है। और इस मुक्ति का उपाय तत्त्व-ज्ञान माना गया है। इस प्रकार सांख्य व्यक्ति और विश्व के विकास-क्रम को एक ही दृष्टि से विवेचित करता है, अतः उसकी दृष्टि में सृष्टि का सारा क्रम-बन्धन मोक्ष की अनवरत प्रक्रिया है। उसमें देश-काल का सीमित और घटना-क्रम रूप कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। जातियों, वंशों या समाजों का इतिहास वस्तु-जगत् के भौतिक परिवर्तनों के समान वास्तविक अथवा तात्विक नहीं माना जायगा। अथवा उनकी आन्तरिक प्रक्रिया सृष्टि के क्रम के समान अनादि-अनन्त होने के कारण चर्चा का विषय नहीं हो सकती।

योग दर्शन सांख्य के बहुत निकट है। वह भी तीन प्रमाण और पच्चीस तत्त्व मानता है। केवल योग में ईश्वर को स्वीकार किया गया है और सांख्य की इस मान्यता कि विवेक ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, के बारे में योग की मान्यता है कि विवेक ज्ञान का साधन योगाभ्यास है। चित्त के विकार और परिणामों पर आत्मा का प्रकाश पड़ता है, पर विवेक

ज्ञान के अभाव म उन्ही में आत्मा अपने को देखती है फलत वह सासारिक सुख-दुख का अनुभव करने लगता है राग-द्वेष के भाव से सासारिक विषयों का अनुभव करता है। यह बन्धन है और इस बन्धन से मुक्त होने के लिए निमित्त शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्तवृत्तियो का निरोध आवश्यक है। चित्त का कार्य रूप धारा प्रवाह जब बन्द हो जाता है तब चित्त कारण रूप में शान्त हो जाता है और इस अवस्था में आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। आत्मा मन-शरीर से भिन्न नित्य मुक्त शुद्ध चैतन्य रूप होता है। योग द्वारा चित्त-वृत्तियों के निरोध से आत्म साक्षात्कार सम्भव होता है। पुनः यहाँ कहा जा सकता है कि योग आत्म तत्त्व पर बल देने के कारण सृष्टि-क्रम को चित्त के कार्य-प्रवाह के रूप में अस्वीकार करता है।

मीमांसा दर्शन प्रत्यक्षवादी होने के कारण जगत् और उसके विषयों को सत्य मानता है, इस प्रकार वस्तुवादी के साथ मीमांसक अनेकवादी भी हैं। पर वे आत्मा और परमाणु को नित्य और अविनाशी पदार्थ मानते हैं। सृष्टि-क्रम कर्म के नियम के अनुसार संचालित होता है। कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार परमाणु इस तरह प्रवर्तित होते हैं। कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार परमाणु इस तरह प्रवर्तित होते हैं जिससे जीवात्माओं को कार्य-फल भोग कराने योग्य संसार बन जाय। मीमांसकों के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध मे एक अदृश्य शक्ति है, जो बीज से अंकुर उत्पन्न करती है। इनके अनुसार भी आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है। अन्ततः मीमांसा दर्शन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। वासनाओ को दमन करके पाप-कर्म से विरत होकर मनुष्य जब सुख-प्राप्ति के निमित्त सब कर्मों को छोड़ देता है, तब वह पुनर्जन्म और भाव-बंधन से मुक्त हो जाता है। अतः जगत् और लौकिक जीवन के प्रति इनके दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं हो सका।

मीमांसा का चिन्तन वेदाश्रित है और वेदान्त में वेदों (वेदों से लेकर उपनिषद्) के तत्त्व-चिन्तन का सूक्ष्म विकास हुआ है। वैदिक साहित्य की सही समझ न होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुवर्त्ती भारतीय विद्वानों ने वेदों में बहुदेववाद, एकसत्तावाद, सर्वेश्वरवाद आदि की परिकल्पनाएँ की हैं। परन्तु वेदों के सम्बन्ध में इस केन्द्रीय विचार को ध्यान मे रखना होगा कि वैदिक देवता ईश्वर के रूप हैं। प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में सम्पूर्ण जगत् को एक रूप मे देखा गया है। इस सूक्त में विश्व की एकता के साथ सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त परमपुरुष की झलक भी है। इसकी सत्ता विश्व में ही नहीं, उसके बाहर भी व्याप्त है। यही नही, नासदीय सूक्त मे ब्रह्म का निर्गुण निर्विकल्प वर्णन भी मिलता है। जो आत्म-तत्त्व भारतीय चिन्तन और जीवन-दृष्टि का केन्द्र हो गया है और जिसकी व्याप्ति किसी न किसी रूप में समस्त भारतीय चिन्तन परम्पराओं में देखी जा सकती है, उसका समुचित, सांगोपांग और सूक्ष्म विवेचन उपनिषदों में हुआ है। आगे चलकर वेदान्त दर्शन के अद्वैती तथा बाद के विशिष्टाद्वैती, शुद्धा-द्वैती चिन्तन ने व्यापक रूप से भारतीय धर्म, दर्शन, साधना और साहित्य को प्रभावित किया, उसका रहस्य भी यही है कि उपनिषदों का आत्मा, सत् और ब्रह्म सम्बन्धी अनुभवपरक चिन्तन तथा साक्षात्कार भारतीय जीवन और संस्कृति में गहरे प्रवेश कर चुका था।

उपनिषदों के आत्मा सत् और ब्रह्म विषयक सूक्ष्म चिन्तन ने मनुष्य को शरीर प्राण

मन बुद्धि आदि बाह्य उपाधियों को क्षणभगुर तथा रूप मात्र माना है आत्मा मूल तत्त्व है, और सब बाहरी आवरण मात्र हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है; शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि उसके बाह्य रूप मात्र हैं। वास्तविक विद्या आत्म-विद्या है और तत्त्व-ज्ञान द्वारा संस्कारों के लोप हो जाने पर आत्म-ज्ञान या साक्षात्कार होता है। उपनिषदों में ब्रह्म सत् (सत्तारूप), चित (चैतन्य रूप) के साथ आनन्द (आनन्दस्रोत) भी है। आत्मा का साक्षात्कार ब्रह्म का अनुभव प्राप्त कर मुक्ति पाना है। सांसारिक विषय वासनाएँ सांसारिक बन्धन हैं, यही जन्म-मरण-पुनर्जन्म का चक्र प्रवर्तन करता है। इनका त्याग कर आत्मानुभव रूप ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव होता है। आत्मा का दर्शन करना अनन्त, अमृत, आनन्दमय ब्रह्मानुभव ही है। आत्मा को सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण माना गया है। उपनिषदों में सृष्टि-क्रम के बारे में अन्तर होने पर भी यह माना जा सकता है कि आत्मा सृष्टि के क्रम से पुनः आत्म (ब्रह्म) साक्षात्कार की ओर उन्मुख है। अतः भारतीय सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि आत्मा के इस मुक्ति मार्ग या अभ्यन्तर प्रयाण की ओर लगी रही है और उसने जीवन तथा जगत् के बाहरी घटना-क्रम को अपने काल-प्रवाह में कभी महत्त्व दिया ही नहीं।

शंकर ने वेदान्त को अद्वैतवाद के रूप में प्रतिपादित किया और जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया। उन्होंने आत्म (ब्रह्म) तत्त्व को ही सत्य माना और स्वीकार किया कि ब्रह्म ज्ञान के उदय होने से मिथ्या ज्ञान जगत् नष्ट हो जाता है। माया ईश्वर की शक्ति के रूप में उससे अभिन्न मानी गई। ईश्वर अपनी इस शक्ति से वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि करता है। शंकर ने सांख्य की प्रकृति और पुरुष की कल्पना माया के सिद्धान्त में अन्तर्भुक्त कर ली है। शंकर सृष्टि-विधान माया द्वारा परिचालित मानते हैं परन्तु माया ईश्वर से अभिन्न है, प्रकृति के समान पुरुष से अलग तत्त्व नहीं है। अज्ञान से ही इस लीला को सत्य मान लिया जाता है। परन्तु शंकर के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति होकर भी उसका नित्य स्वरूप नहीं है। वह ब्रह्म की इच्छा मात्र है, जिसको वह जब चाहे त्याग सकता है। ज्ञानी के लिए ईश्वर का मायावी रूप निष्प्रयोजन है। शंकर प्रकृति को माया इसी अर्थ में मानते हैं कि यह सर्जन शक्ति या माया उन लोगों के लिए संसार की प्रकृति है जो संसार देख रहे हैं। रामानुज के विशिष्टवादी चिन्तन में ब्रह्म के साथ माया की स्थिति है, पर वह माया को ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति रूप में समझते हैं। वह ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेतन तत्त्व है और इस ब्रह्म में अवस्थित अचित तत्त्व में वास्तविक परिवर्तन होता है। शंकर सृष्टि रचना को विवर्त्त रूप मानते हैं, यह विवर्त्त आभास रूप है, अतः भ्रम है। यह एक प्रकार का अध्यास है। रामानुज ने प्रकृति को ईश्वर का अंश मान कर संसार को सत्य माना है। वस्तुतः शंकर का ब्रह्म यदि ज्ञान और आत्मानुभव का विषय है तो रामानुज का ईश्वर उपासना और धार्मिक साधना का विषय है, क्योंकि वह जगत् में व्याप्त होकर भी उससे परे है, उसका विशिष्ट व्यक्तित्व है और वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए जगत् की सृष्टि करता है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन पर इस प्रकार एक दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि भारतीय मस्तिष्क मे एक ओर काल का अनन्त प्रवाह है और दूसरी ओर वस्तु-जगत् का क्षण-क्षण परिवर्तित रूप है। चार्वाकों को छोड़कर प्रायः सभी ने इस क्षणभंगुरता और

परिवर्तनशीलता का अतिक्रमण करके अनेक रूपों में अनन्त जीवन प्रवाह का प्रतिपादन किया है। चार्वाकों ने भौतिक जगत् को मात्र क्षणिक और भोग्य माना कि उनके द्वारा किसी भौतिक वस्तु-विकास या घटना-क्रम को भी मान्यता नहीं मिल सकी। उनके अनुसार कुछ भी शेष नहीं रहता, सब क्षण स्थायी है अतः इतिहास की कोई दृष्टि या दिशा का उनके लिए कोई अर्थ नहीं है। इस चिन्तन के अतिरिक्त आत्मवादी चिन्तक हों या अनात्मवादी हों, ईश्वरवादी चिन्तक हों या अनीश्वरवादी, सारे सृष्टि-क्रम को बन्धन-मोक्ष की प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित करते हैं। द्रव्य, चैतन्य, कर्म, तत्त्व अथवा आत्मा के माध्यम से प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् से परे परम तत्त्व की खोज की जाती रही है। और अन्ततः भारतीय जीवन-दृष्टि इस समस्त सृष्टि-क्रम के बन्धन से मुक्त हो कर शुद्ध परम तत्त्व या सत्य या चैतन्य या ब्रह्म की अनुभूति या साक्षात्कार की ओर उन्मुख रही है। व्यापक अर्थ में कहा जा सकता है भारतीय जीवन-दृष्टि बराबर इस भौतिक जगत् और घटना-क्रम के परे किसी अनन्त जीवन और अनुभव की खोज रही है।

इसका प्रत्यक्ष परिणाम हुआ कि भारतीयों ने मानवीय भौतिक जीवन के घटना-क्रम को कभी महत्व प्रदान नहीं किया। मानवीय जीवन-क्रम अपने भौतिक रूप में विश्व के प्राकृतिक विधान से अलग नहीं है। सारी सृष्टि की रचना-प्रक्रिया के प्रवाह मे मानव-जीवन और उसका इतिहास-क्रम एक अवयव रूप है। सारी सृष्टि से मानव अभिन्न है। उसमें जो विशिष्ट है अथवा व्यक्तित्व रूप है वह आत्मा या उसके समान तत्व (ऊपर विवेचना की गई है) है, और जो अन्ततः परम आत्मा या परम तत्व की ओर प्रेरित होकर अपनी विशिष्टता तथा व्यक्तित्व को खोकर मुक्त हो जाता है। ऋग्वेद की 'आदि पुरुष' और गीता की 'विराट पुरुष' की कल्पना एक ओर मनुष्य के व्यक्तित्व को समस्त विश्व-रचना के साथ समरसता का विराट अनुभव प्रदान करती है, तो दूसरी ओर उसके देश-काल के एक विन्दु पर सीमित व्यक्ति को नगण्य और उपेक्षणीय बनाती है। इस कल्पना में एक व्यापक और असीम अंगी के माध्यम से समस्त प्राकृतिक तथा सामाजिक शक्तियों तथा तत्वों का समन्वय है, परन्तु इसकी विराट और भव्य समष्टि रूप कल्पना व्यक्ति के जीवन और समाज की प्रक्रिया के ऐतिहासिक क्रम को नितान्त असंगत और महत्वहीन बना देती है। इसी प्रकार भारतीय काल गति का प्रतीक है, वह अद्वैत, अनन्त, व्यापक और शाश्वत है। काल विश्व-यंत्र का यांत्रिक माना गया है, वह विश्व के समस्त कार्य-कलाप का नियंत्रण-निर्देशन करता है। वह वस्तु-जगत् का उपकरण भी है। सृष्टि और प्रलय के रूप में वह सार्वभौम क्रिया है। पुनः इस काल-चक्र को भी भारतीय चिन्तन धर्म के उत्थान-पतन के क्रम में विवेचित करता है। इसी प्रकार सृष्टि-क्रम में, पदार्थों और द्रव्यों की प्रक्रिया में, आत्मिक उन्नयन और आत्म-साक्षात्कार के रूप में एक प्रकार नियति क्रम भी परिलक्षित होता है। कुछ दर्शन तो निश्चित अर्थों में नियतिवादी माने जा सकते हैं, पर आत्मानुभव तथा आत्मोपलब्धि को लक्ष्य मानने वाले दर्शन भी इसकी एक निश्चित प्रक्रिया मान कर चलते हैं, भले ही वह वैसी यांत्रिक, अटल और अमानवीय न हो।

ऐसी स्थिति में इतिहास को मानवीय बोध, मानवीय चेष्टा और सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखना-समझना नहीं हो सकता था। जिन नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया वे

मानवीय स्वतंत्रता तथा सर्जनशीलता को एक सीमा के आगे व्यापक प्रवृत्तियों में अन्तर्निहित कर लेते हैं। एक ओर ये नैतिक मूल्य व्यक्तियों के स्थान पर प्रवृत्तियों पर अधिक बल देते हैं, दूसरी ओर, स्वतः आध्यात्मिक प्रयत्नों की पीठिका का काम देने लगते हैं। यही कारण है कि भारतीय इतिहास-दृष्टि व्यक्तियों को महत्व न देकर युग-जीवन की प्रवृत्तियों को ग्रहण करने की चेष्टा करती है। और साथ ही घटना-क्रम को देखने के बजाय वह आन्दोलनों के प्रवाह को अधिक महत्व देती है। यहाँ यूरोपीय और भारतीय इतिहास-दृष्टियों के मौलिक अन्तर का विवेचन करते समय यह फिर से कहना जरूरी है कि यूरोप ने अपने इतिहास-चिन्तन की यात्रा में कभी वस्तु-जगत् के आधार को छोड़ा नहीं, भले ही वस्तु के अन्तर्वर्त्ती परम-तत्व और मौलिक कार्य-कारण की प्रक्रिया के बारे में कितना ही वहाँ ऊहा-पोह हुआ हो। इसलिए अनेक इतिहास-दृष्टियाँ होते हुए भी यूरोप में इतिहास-क्रम की अवहेलना नहीं की गई। उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विकास के मूल में भी यह इतिहास-दृष्टि है। इसके विपरीत भारत ने प्रारम्भ से वस्तु-जगत् की अपेक्षा आत्म-तत्व को अधिक महत्व दिया, भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन को श्रेष्ठ माना, परिणाम स्वरूप इतिहास की भारतीय दृष्टि मनुष्य जीवन की आत्मिक प्रक्रिया को ग्रहण करने पर बल देती रही है।

आधार-ग्रन्थ :

१. आर० जी० कालिंगवुड : दि आइडिया ऑव हिस्ट्री। २. आर० टर्नन : दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशंस। ३. एच० ए० एल० फ़िशर : हिस्ट्री ऑव यूरोप। ४. ओस्वाल्ड स्पेंगलर : दि डिक्लाइन ऑव वेस्ट। ५. जे० बी० बरी : दि एंशेन्ट ग्रीक हिस्टोरियन्स। ६. ए० एम० क्ले० : सोर्सेज फ़ार रोम हिस्ट्री। ७. आ० जे० ट्वायनबी : सिविलजेशन ऑन ट्रायल ८. बरट्रेण्ड रसल : दि रिवोल्ट अगेन्स्ट रीज़न। ९. बरी : दि आइडिया ऑव प्रोग्रेस। १०. जे० एच० रेण्डल : दि मेकिंग ऑव दि माडर्न माइण्ड। ११. रॉबर्ट फ्लिण्ट : वीको। १२. जे० डब्ल्यू० टॉम्पसन : हिस्ट्री ऑव हिस्टारिकल राइटिंग। १३. जी० बी० आदमा : हिस्ट्री एण्ड दि फ़िलासफ़ी ऑव हिस्ट्री। १४. आर० टर्नन : दि ग्रेट कल्चरल ट्रेडिशन। १५. एच० जी. क्रील : बर्थ ऑव चाइना। १६. बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन। १७. सर्वपल्ली राधाकृष्णन : इंडियन फ़िलॉसफ़ी। १८. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त : हिस्ट्री ऑव इण्डियन फ़िलासफ़ी। १९. एम० हिरियन्ना : आउटलाइन्स ऑव इण्डियन फ़िलॉसफ़ी। २०. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन।

सन्दर्भ-ग्रन्थ :

१. दि आइडिया ऑव हिस्ट्री इन दि एंशेन्ट नियर ईस्ट : सं० रॉबर्ट डेन्टन। लुडलो ब्रल और मिलर बरोज के अध्याय 'इजिप्ट' और 'इज़राइल' पर। २. जोज़फ़ मेक्राबे : सेंट अगस्तीन एण्ड हिज़ एज। ३. इब्न खल्दून : मुकद्दमाल (हिन्दी अनुवाद-हि० स० लखनऊ) ४. हेलेनिस्टिक सिविलीज़ेशन : डब्ल्यू० डब्ल्यू टार्न। ५. हेलेनिस्टक वर्ल्ड : एम० आई० रोस्तोवेतजफ़। ६. बाइजीन्टिइन सिविलीजेशन : स्तेबिन रन्सीमैन। ७. दि सिविलीज़ेशन ऑव रेनेसाँ इन इटली (अंग्रेज़ी अनुवाद : एस० जी० सी० मिडिलमोर) : याकोब

बुकहोल । ८. दि टाँजिशन इन इंग्लिश हिस्टारिकल राइटिंग : टी० पी० पियर डन । ९. गिबन एण्ड दि डिक्लाइन एण्ड फ़ाल हिस्ट्री : जे० जे० सॉन्डर्स । १०. एनसाइक्लोपीडिया ऑव दि सोशल साइन्सेज़ । ११. दि प्रिंसपिल ऑव इण्डीविड्वेलिटी एण्ड वेल्यू : बोसान्के । १२. साइन्स एण्ड दि माडर्न वर्ल्ड : ए० एन० व्हाइट हेड । १३. हिस्ट्री एज दि स्टोरी ऑव लिबर्टी (अंग्रेज़ी अनुवादक सिलविया स्प्रिग्गे) : कोर्चे । १४. एं शार्ट हिस्ट्री ऑव इण्डियन मेटरियालिज्म और चार्वाक-षष्टि : दक्षिणारंजन शास्त्री १५. मल्लिसेन : स्यादवाद मंजरी । १६. दि जैन सूत्राज : हरमन याकोबी । १७. सेस्टमस ऑव बुद्धिस्टिक थॉट : यामाकामी सोज़न । १८. न्याय दर्शन : जीवानन्द विद्यासागर । न्याय दर्शन : गंगानाथ झा । १९. पदार्थ धर्मसंग्रह तथा न्यायकन्दली (अंग्रेजी अनुवाद) : गंगानाथ झा । २०. कणाद के वैशेषिक सूत्र (हिन्दी अनुवाद) प्रभुनाथ सिंह । २१. दि सांख्य फ़िलासफ़ी : नन्दलाल सिंह । २२. दि सांख्य सिस्टम : ए० बी० कीथ । २३. दि स्टडी आव पातंजल योग ऐज़ फ़िलासफ़ी एण्ड रिलीज़न । २४. मीमांसा सूत्र (अंग्रेज़ी अनुवाद) गंगानाथ झा । २५. ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फ़िलॉसफी : आर० डी० रानाडे । २६. फ़िलासफ़ी आव दि उपनिषद् : डासन । २७. ए स्टडी आव वेदान्त : एस० के० दास ।

मानस के पाठ-भेद

शम्भुनाथ पांडेय

प्रस्तुत लेख में रामचरित मानस के चार पाठों की तुलनात्मक समीक्षा करने का प्रयास है। ये चार पाठ क्रम से इस प्रकार हैं : (१). मानस मराल स्वर्गीय शम्भुनारायण चौबे द्वारा संपादित तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से प्रकाशित; (२). डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित; (३). पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित और काशिराज न्यास, वाराणसी द्वारा प्रकाशित; (४). श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार द्वारा संपादित और गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित। इन चारों के लिए क्रमशः सभा, माता, काशि तथा गीता, संक्षिप्ताक्षरों का प्रयोग इस लेख में किया गया है। इस समीक्षा का मुख्य उद्देश्य सभा द्वारा प्रकाशित पाठ का शेष तीन पाठों से तुलना करना ही है। उक्त चारों में गीता प्रेस का संस्करण सबसे पहले प्रकाशित हुआ है उसके बाद क्रम से सभा के, डॉ० गुप्त के तथा पं० मिश्र के संस्करण प्रकाशित हुए हैं। यहाँ समीक्षा केवल अर्थ-सौष्ठव, भाषा-प्रयोग और तुलसी के शब्दार्थ नियोजन को ध्यान में रखकर की गई है। कौन-सा पाठ किस प्राचीन अथवा प्रामाणिक प्रति से स्वीकार किया गया है, अथवा अधिकांश प्रतियों में उपलब्ध होने से स्वीकार किया गया है, इस तरह की प्रामाणिकता को इसमें महत्व नहीं दिया गया है।

मानस के पाठ-संपादन में अनेक तरह की कठिनाइयाँ हैं। कवि के हाथ की लिखी हुई कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं है। राजापुर और श्रावणकुंज की प्रतियों में केवल एक-एक कांड ही हैं। उनमें भी अनेकों भूलें हैं। शेष प्रतियों में से कोई भी कवि के जीवनकाल की नहीं है। उनमें वर्तनी का कोई निश्चित नियम नहीं है, व्याकरण के नियमों की अवहेलना तथा पर्याप्त पाठ-भेद और क्षेपक प्रत्येक प्रति में उपलब्ध होते हैं। इन सब कठिनाइयों का सामना करते हुए जिन विद्वानों ने सम्पादन कार्य स्वीकार किया है, वे सभी हमारी श्रद्धा और सम्मान के पात्र हैं। यदि उनके स्वीकृत पाठों में कुछ त्रुटियाँ दिखलाई पड़ती हैं तो इससे उनके गौरव में कोई न्यूनता नहीं मानी जानी चाहिए। समीक्षाएँ केवल भविष्य के मार्ग को अधिक प्रशस्त करने की दृष्टि से ही लिखी जाती हैं। प्रस्तुत समीक्षा इसी उद्देश्य से मुक्त सर्वेक्षण के आधार पर प्रस्तुत की जा रही है।

सभा के श्रेष्ठतर पाठ

यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि गीता संस्करण, सभा से अधिक प्राचीन है। अतः यहाँ उन पाठों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही जो समीक्षक को गीता से अधिक श्रेष्ठ प्रतीत हुए। उद्धरण गीता से प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

१—राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ॥ १।२३७।१

'छुअत छल नाहीं' के स्थान पर सभा के 'छुआ छल नाहीं' पाठ स्वीकार किया है। काशी तथा माता का भी पाठ 'छुआ छल' ही है। 'छुआछूत' के समान 'छुआछल' भी छल-कपट के अर्थ में एक मुहावरा प्रतीत होता है। इसलिए इसमें अर्थ का बल विशेष है। व्याकरण की दृष्टि से भी 'छुअत छल' से 'छुआ छल' अधिक निर्भ्रान्त है।

२—टेढ़ जानि सब बंदइ काहू। बक्र चन्द्रमहि ग्रसइ न राहू ॥ १।२८१।६

'सब बंदइ काहू' भाषा तथा व्याकरण की दृष्टि से दुर्बल शब्द प्रयोग है। सभा ने इसके स्थान पर 'टेढ़ जानि संका सब काहू' पाठ ग्रहण किया है। काशि का पाठ गीता तथा माता का पाठ सभा के पाठ से मेल खाता है। अर्थ की दृष्टि से भी 'संका सब काहू' में जो बल है, हास्यमय व्यंग्य है, वह सब बंदइ काहू' में नहीं है। टेढ़े स्वभाव वाले व्यक्ति की लोग वन्दना करें अथवा न करें किन्तु उसके साथ व्यवहार करने में आशंकित अवश्य रहते हैं। अतः 'सब बंदइ काहू' से 'संका सब काहू' पाठ श्रेष्ठतर प्रतीत होता है।

३—नगरु सकल बन गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी ॥ २।८४।२

'सकल' के स्थान पर सभा का पाठ 'सफल' है। काशि और माता ने भी यही स्वीकार किया है। 'सकल' के स्थान पर 'सफल' पाठ श्रेष्ठतर है। क्योंकि एक तो इसे स्वीकार करने पर 'सकल' शब्द का पुनरुक्ति दोष दूर होता है, दूसरे रूपक अलंकार पर विचार करने पर 'सफल' अधिक सार्थक ठहरता है।

४—राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हराँसू ॥ २।१४९।७

'राउ' के स्थान पर सभा का पाठ 'राज' है। माता तथा काशि ने भी 'राज' ही स्वीकार किया है। इसके ऊपर की अर्द्धाली है—राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ।' और नीचे की अर्द्धाली है—'सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना ॥'' इससे स्पष्ट है कि आलोच्य अर्द्धाली में राजा दशरथ के पश्चाताप की व्यंजना है। अर्थ भी स्पष्ट है कि जिस पुत्र को राज्य की घोषणा करके बनवास दिए जाने पर भी किसी प्रकार का मानसिक उद्वेग न हो उसके वियोग में प्राण न निकल सके। मुझ जैसा घोर पापी कौन होगा। 'राउ' शब्द यहाँ निरर्थक प्रतीत होता है, अतः राज' ही कवि अभिमत प्रतीत होता है।

५—(१) नृप तनु बेद बिदित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमान बनावा ॥ २।१७०।१

(२) बेद बिदित सम्मत सब होका। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥ २।१७५।३

उक्त दोनों अर्द्धालियों के 'बेद बिदित' के स्थान पर सभा का पाठ 'बेद बिहित' है, जो अर्थ की दृष्टि से अधिक संगत है। 'द' और 'ह' अक्षरों की बनावट लगभग समान है। प्रति

लिपिकार ने 'ह्' के स्थान पर 'द' बना दिया है—यह सम्भावना प्रतीत होती है। माता तथ काशि का पाठ भी 'वेद विदित' ही है।

६—नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥ ५।१२।११

'जनि' के स्थान पर सभा का पाठ 'तन' है। माता और काशि ने भी 'तन' ही स्वीकार किया है। 'निदान' का अर्थ कारण तथा अन्त है। 'तन' पाठ को स्वीकार करने पर अर्थ बड़ी सुगमता से लग जाता है। अशोक वृक्ष से प्रार्थना करती हुई विक्षुब्ध सीता कह रही है, "तेरे नूतन किशलय अनल के समान प्रदाह उत्पन्न कर रहे हैं। मुझे आग देकर मेरे शरीर का अन्त कर दे।" 'जनि' पाठ से इतना सुकर अर्थ नहीं निकलता। इस प्रकार का कोई अन्य प्रयोग भी मानस में नहीं मिलता।

७—उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदम्बा संततमनिंदिता॥७।२४।६

'ब्रह्मादि' के स्थान पर सभा का पाठ 'ब्रह्माणि' तथा माता में 'ब्रह्मसि' है। काशि का पाठ 'ब्रह्मादि' ही है। उमा और रमा के साथ ब्रह्माणी को ही सम्भावना अधिक है, इसलिए सभा का पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है।

सभा के दुर्बल पाठ

सभा के संस्करण के निम्नलिखित पाठ दुर्बल प्रतीत होते हैं :

१—सेवक सुमिरत नाम सप्रीति। बिन श्रम प्रबल मोह दल जीति॥१।२५।

पदान्त में स्वर का दीर्घ होना चौपायी छन्द का अनिवार्य नियम है किन्तु यहाँ 'सप्रीति' तथा 'जीति' ह्रस्वान्त हैं, इसलिए यहाँ छन्द की लय में व्याघात होता है। शेष सब संस्करणों में 'सप्रीती' तथा 'जीती' दीर्घान्त पाठ है। इसी प्रकार सभा और काशि ने छन्द संख्या १।१८३। तथा १।१८६ में ह्रस्वान्त पाठ स्वीकार किया है जब कि माता तथा गीता में यहाँ दीर्घान्त पाठ है। जैसे—

(१) जय जय सुर नायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंत॥ १।१८६।

(२) जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीस॥ १।१८३।

गीता तथा माता का पाठ क्रमशः 'भगवंता' तथा 'दससीसा' है, जो छन्द की लय की दृष्टि से श्रेष्ठतर है।

२—घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबंध राम बर बानी॥१।४१।

'सुबन्ध' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'सुबद्ध' है, जो 'घाट' का विशेषण होने से अधिक संगत है। 'घाट' के साथ 'सुबंध' स्वीकार करने पर पुनरुक्ति दोष आता है, क्योंकि सर-सरिताओं में बंध अथवा बाँधों पर ही घाट बनाए जाते हैं। 'घाट' तथा 'सुबंध' का एक साथ आरोप 'बानी' पर नहीं हो सकता अतः उपमान विधान की दृष्टि से भी 'सुबद्ध घाट' अधिक संगत है।

३—जौं बिबाहु संकर सन होई। देखौ गुन समस्त सब कोई॥१।६९

'देखौ' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'दोषौ' है। प्राचीन प्रतियों में 'ख' तथा 'ष' के लिए 'ष' लिपि चिह्न का ही प्रयोग किया जाता था अतः लिपिकार द्वारा पहली भूल 'दोषौ' के स्थान पर 'दोखौ' पढ़ने की हुई है और 'दोखौ' को निरर्थक समझ

कर कदाचित् 'देखौ' पाठ बना दिया गया है। नारद जी ने पहले वर के दोषों का ही आख्यान किया है, अब उसका परिहार करते हुए कह रहे हैं कि यदि गिरिजा का विवाह शंकर के साथ होता है तो समस्त दोषों को सब कोई गुण ही कहेगा। अतः 'दोषौ' पाठ ही संगत एवं सबल प्रतीत होता है।

४—जौ ऐसहि इसिषा करहिं नर जड़ बिवेक अभिमान ॥१।६६।

'ऐसहि इसिषा' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'अस हिसिसा' है, जो 'होडा-हिस्सी' के वज़न का लोक-प्रचलित प्रयोग प्रतीत होता है। 'ईर्ष्या' का 'इसिषा' पाठ जानबूझ कर किसी लिपिकार का बनाया हुआ प्रतीत होता है। अतः 'इसिषा' से 'हिसिसा' पाठ की सम्भवना ही अधिक प्रतीत होती है। छन्द की लय की दृष्टि से भी 'जौ असहि इसिषा' के स्थान पर 'जौ अस हिसिसा' पाठ अधिक संगत है।

५—जब जब होइ धरम कै हानी। बर्ढहिं असुर अधरम अभिमानी। १।१२१।

'अधरम' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'अधम' है। अभिमानी तथा अधम दोनों विशेषण 'असुर' संज्ञा पद के हैं। 'अधरम' संज्ञा पद होने के कारण विशेषण नही हो सकता। यदि 'असुर' और 'अधरम' में द्वन्द्व समास भी मान लिया जाय तब भी 'अभि-मानी' विशेषण का प्रयोग उस समस्त पद के लिए नहीं हो सकता। इसलिए 'अधरम' के स्थान पर 'अधम' पाठ ही श्रेष्ठतर है।

६—जब तप कछु न होइ तेहि काला। है बिधि मिलै कवन बिधि बाला ॥१।१३१।

गीता, माता तथा काशि का पाठ 'है बिधि' के स्थान पर 'हे बिधि' है और वही यहाँ संगत है। 'हे' के स्थान पर 'है' किसी लिपिकार का प्रमाद ही प्रतीत होता है।

७—जीव चराचर सब कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥१।२००॥

'सब कै राखे' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'बस कै राखै' है और अर्थ की दृष्टि से वही संगत है। 'सब' और 'बस' का व्यंजन-विपर्यय किसी लिपिकार का प्रमाद ही हो सकता है।

८—चले सकल गृह काज बिसारी। बाल जुवान जठर नर नारी ॥१।२४०।

'जठर' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'जरठ' है और वही संगत है। 'जठर और 'जरठ' का व्यंजन-विपर्यय भी लिपिक का प्रमाद ही हो सकता है। 'जठर' तथा 'जरठ' का प्रयोग मानस में अनेक बार हुआ है। 'जठर' का प्रयोग सदैव उदर के अर्थ मे ही किया गया है तथा जरठ का वृद्ध के अर्थ में। अतः यहाँ 'जरठ' पाठ ही शुद्ध माना जा सकता है।

९—माण्डवी श्रुति कीरति उर्मिला कुअरि लै हंकारि कै ॥१।३२५॥

गीता, माता तथा काशि का पाठ 'कुअँरि लई हँकारि कै'' है। 'हँकारना' क्रिया का मानस में जहाँ कहीं भी प्रयोग हुआ है, सर्वत्र सानुनासिक रूप ही मिलता है, सानुस्वार रूप कहीं भी नहीं है। अतः 'हंकारि' के स्थान पर 'हँकारि' पाठ ही संगत है।

१०—कैकै जठर जनमि जगमाहीं। अेह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं ॥२।१८०।

बेचारी कैकेई के नाम का उसके पुत्र के मुख से कैकै जाना

उचित प्रतीत नहीं होता। गीता ने यहाँ 'कैकइ' पाठ दिया और माता तथा काशि ने 'कइकइ'। दोनो पाठ 'कैकै' से श्रेष्ठतर हैं, क्योंकि 'ऐ' का पूर्व प्रान्तों को छोड़ कर शेष हिन्दी जनता में उतना दीर्घ उच्चारण नहीं होता। यहाँ गीता का पाठ 'कैकइ' हिन्दी उच्चारण पद्धति की दृष्टि से श्रेष्ठतम है।

११—भोग बिभूति भूरि भुरि राखे ॥२।२१३।

गीता, माता तथा काशि का पाठ 'भूरि भरि राखे' है। 'भरि' को 'भुरि' लिख जाना लिपिकार का प्रमाद ही प्रतीत होता है।

१२—आगे रामु अनुज पुनि पाछे। मुनिबर बेष बना अति काछे ॥३।१ क।

'बना' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'बने' है जो व्याकरण की दृष्टि से निर्भ्रान्त है। 'बना' रूप खड़ी बोली के प्रभाव की सूचना देता है। बहुत सम्भव है, चौबे जी ने भागवतदास की १९वीं शती की छपी हुई पोथी से अनवधानतः इसे ग्रहण कर लिया हो।

१३—हैं बिधि दीनबन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया ॥३।४ क।

'हैं बिधि' के स्थान पर गीता तथा काशि ने 'हे बिधि' स्वीकार किया है। माता का पाठ 'हैं बिधि' ही है। सुतीक्ष्ण की मनोकामना के प्रस्तुत प्रसंग में 'हे बिधि' पाठ ही सम्भव प्रतीत होता है। 'हे' के स्थान पर 'हैं' लिपिकार का प्रमाद प्रतीत होता है।

१४—अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछा नाहीं।।४।२१।

'कुसल' स्त्री लिं० कर्म के साथ 'पूछी नाहीं' पाठ होना चाहिए। काशि और माता का पाठ भी 'पूछा' ही है जब कि गीता का पाठ 'पूछी' है, जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। कुसल का प्रयोग मानस में सर्वत्र स्त्री लिं० में ही किया गया है यथा—

(१) होइ कि खेम कुसल रौताई ।।२।२५।६
(२) पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥२।८८।४
(३) भरत कुसल पूँछि न सकहिं २।१५८।
(४) मैं तिहुँकाल कुसल निज लेखी ।।२।१९५।७
(५) नाहि त कोसलनाथ के साथ कुसल गई नाथ ।।२।२७०।
(६) सादर कुसल पूँछि मुनि ग्यानी ।।३।१२।१।

१५—नीलोपल तन स्याम काम कोटि सोभा अधिक ।।३।४०।

काशि ने भी 'नीलोपल' पाठ स्वीकार किया है, जिसका लक्षणा से अर्थ नीलमणि लग सकता है। गीता तथा माता का पाठ 'नीलोत्पल' है। मानस में मनुशतरूपा प्रकरण में 'नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम' कह कर भगवान के श्यामल वर्ण को चित्रित अवश्य किया गया है किन्तु 'उपल' शब्द का प्रयोग कठोर पाषाण-खण्ड के लिए अथवा हिम-खण्ड के लिए ही किया गया है, जब कि नील कमल से उनके अंग अथवा अवयवों को अनेक बार उपमित किया गया है। अतः यहाँ सहज संभाव्य पाठ 'नीलोत्पल' ही होना चाहिए। 'उपल' के प्रयोग अधोलिखित हैं—

(१) जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं ।।१।४।७

(२) जनु हिम उपल विलग नहिं जैसें ११६ ३

(३) होहिं वृष्टि जनि उपल कठोरा ॥६।१३।२

(४) उपल किए जलजान जेहिं ॥१।२६।१३

(५) गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर ॥१।२१०

इसी प्रकार २।१७६।, ६।३।८, ६।२६।७, ६।५२।३, तथा ६।७४।ख में उपल का प्रयोग पाषाण के अर्थ में ही है।

१६—जब रघुनाथ कीन्हि रन क्रीड़ा। समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा ॥७।५।१६।

माता का पाठ भी 'होत' है, जबकि गीता तथा काशि का पाठ 'होति' है और स्त्रीलिंग. 'व्रीडा' के साथ 'होति' पाठ ही व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है।

१७—बरनि सुतीछन प्रति पुनि प्रभु अगस्ति सन संग ॥७।६५

माता का पाठ भी 'सन संग' ही है जबकि गीता तथा काशि का पाठ 'सतसंग' है। 'संग' शब्द का प्रयोग कवि ने लगभग ८२ बार किया है किन्तु भेंट अथवा मिलाप के अर्थ में एक बार भी नहीं किया। साथ-साथ रहने अथवा चलने के अर्थ में 'संग' का प्रयोग अवश्य किया है। 'संग' का प्रयोग आसक्ति के अर्थ में भी किया गया है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में दोनो ही अर्थ असंगत हैं। अतः मूल पाठ 'सतसंग' ही होना चाहिए। 'त' और 'न' की बनावट मे बहुत थोड़ा अन्तर है। अतः 'सतसंग' का 'सन संग' पढ़ा जाना संभव है।

अशुद्ध पाठ

सभा के कुछ पाठ अशुद्ध प्रतीत होते हैं। उनका वैकल्पिक पाठ भी नहीं दिया गया और न किसी अन्य संस्करण से ही उनका समर्थन होता है। अतः हम उन्हें छापे की भूल ही मानते हैं। अशुद्ध प्रतीत होने वाले शब्दों को रेखाङ्कित करके उनका शुद्ध रूप कोष्ठक में दिया गया है।

(१) दक्ष शुक्र संभव मह देही ॥१।६४ (यह)

(२) पठवहु कामु जाइ शिव पाहीं। करै छोभु संकर मन माहीं ॥१।८३ (करै)

(३) धरी न काहू धीर। सब के बन मनसिज हरे ॥१।८५ (मन)

(४) भरथु राम ही की अनुहारी ॥१।३।१ (भरतु)

(५) बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी" ॥१।१०४। (नयनन्हि)

(६) करि बनाव सब बाहन नाना ॥१।९५। (सजि)

(७) कहिसि कथा सतु सवति कैं ॥२।१८। (सत)

(८) चलत न देखत पायेउँ तोही ॥२।१६०। (देखन)

(९) हरष हृदय प्रभात पयाना ॥२।१८६। (परभात)

(१०) परम प्रसन्न जानि मुनि मोहीं ॥३।५क (मोही)

(११) भ बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥२।५३। (भै अथवा भइ)

(१२) जो कहुं राम लखनु बैदेही। हिंकरि-हिंकरि हित हेरहिं तेही ॥२।१४३। (कह)

(१३) लाभ पास जेहिं गर न बँधाया ॥४।२१। (लोभ)

(१४) हम सीता की सुधि लीन्हें बिना। नहि जैहै जुबराज प्रवीना ॥४।२६। (जै हैं)

उपर्युक्त अशुद्ध पाठों में से बहुत सम्भव है, कुछेक हस्तलिखित प्रतियों की भूलें हों, जिन्हें सम्पादक ने अनवधानतः ग्रहण कर लिया हो। विस्तार भय से इनका विवेचन नहीं किया जाता।

विचित्र पाठ

सभा ने कुछ ऐसे पाठों को भी स्वीकार किया है जो भाषा अथवा अर्थ की दृष्टि यदि एकदम असंगत नहीं तो विचित्र अवश्य कहे जा सकते हैं। काशि और माता का समर्थन इनको कहीं-कहीं मिल जाता है :

१—होउ उमेस मोहि पर अनुकूला। करहु कथा मुद मंगल मूला ॥ १।१५

काशि में 'होउ' तथा 'करहु' के स्थान पर 'सो' तथा 'करिहिं' पाठ है। माता में 'सो' महेस........करिहिं' पाठ है तथा गीता का पाठ—'सो उमेस........करिहिं' है। इस अर्द्धाली का सीधा संबन्ध पूर्वकथित इस पंक्ति से है—'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा, साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा।' इस अर्द्धाली के 'जिन्ह' का सम्बन्ध यहाँ 'सो उमेस' से है। अतः 'होउ उमेस' के स्थान पर 'सो उमेस' अधिक संगत है। और उसी के अनुसार 'करहु' के स्थान पर 'करिहिं' पाठ शुद्ध है। 'महेस' के स्थान पर 'उमेस' इसलिए उपयुक्त है कि उससे हर और गिरिजा दोनों का महत्व प्रकट होता है। वन्दना के इस प्रकरण में कवि ने शिव के साथ पार्वती का अनिवार्य रूप से स्मरण किया है। जैसे—'गुरु पितु मातु महेस भवानी' 'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ' तथा 'सपनेहुँ साँचेउ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ'। अर्थ गौरव की दृष्टि से भी 'सो उमेस मोहि पर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला' पाठ अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इन शब्दों में कवि का शिवा-शिव की अनुकूलता और कथा को मंगलमय बनाने के प्रति गहरा आत्मविश्वास प्रकट होता है।

२—राम सकल कुल रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा ॥ १।२५

माता का पाठ भी 'सकल कुल' है। गीता तथा काशि का पाठ 'सकुल रन रावनु मारा' है। स्पष्ट ही अर्थ की सुकरता एवं भाषा की गठन की दृष्टि से 'राम सकुल रन रावनु मारा।' श्रेष्ठ पाठ है। 'राम सकल कुल रावनु मारा' का अर्थ तो यह भी हो सकता है रावण के सकल कुल को तो राम ने मार दिया, किन्तु रावण बच रहा।

३—ध्रुअ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। थपेउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥ १।२६।

काशि तथा माता में 'ध्रुव' तथा गीता का पाठ 'ध्रुँव' है। चन्द्रविन्दु का प्रयोग यहाँ कर्मवाच्य में कर्ताकारक का चिह्न है। 'थपेउ' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'पाएउ' है। 'मानस' में 'ध्रुव' का प्रयोग जहाँ कहीं सामान्य अथवा व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में हुआ है वहाँ उसका रूप 'ध्रुव' ही है, इसलिए वही अधिक संगत है। उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) शिव विरोध ध्रुव मरन हमारा ॥ १।८४। सभा

(२) ध्रुव हरिभगत भएउ सुत जासू ॥ १।१४२। सभा

(३) ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी ॥ १।३२४। सभा

'थपेउ' के स्थान पर 'पाएउ' ही अधिक संगत है। 'थपेउ' का प्रयोग मानस में

किसी स्थान को प्राप्त करने के लिए नहीं किया गया अपितु स्थापना करने के अर्थ म किया गया है। स्थापना अपने से भिन्न किसी अन्य की की जाती है, स्वयं अपनी नहो। यहाँ ध्रुव ने अचल अनुपम स्थान स्वयं उपलब्ध किया है, किसी अन्य को उस पर स्थापित नहीं किया। इस-लिए 'थापेउ' पाठ संगत नहीं माना जा सकता। 'थापना' क्रिया के प्रयोग निम्नलिखित हैं—

(१) असुर मारि थापहिं सुरन्ह ॥१।१२१।

(२) थापिअ जनु सब लोग सिहाऊ ॥२।८८।७

(३) करिहउँ इहाँ लिंग थापना ॥६।२।४

(४) लिंग थापि बिधिवत करि पूजा ॥६।२।६

(५) इहाँ सेतु बाँध्यो अरु थापेउँ सिव सुखधाम ॥६।११९।क

४—अब मैं जनम संभु सैं हारा। को गुन दूषन करै बिचारा ॥१।८१।

'सैं' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'हित' है। मानस में सैं अव्यय का प्रयोग तृतीया विभक्ति के चिह्न के रूप में ही किया गया, चतुर्थी के लिए 'हित' का प्रयोग । यहाँ चतुर्थी विभक्ति की ही आकांक्षा है, इसलिए 'हित' पाठ ही शुद्ध है। 'सैं' तथा 'हित' के कतिपय प्रयोग अधोलिखित हैं—

सैं—(१) गीधराज सैं भेंट भइ ॥३।१३।

(२) कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा ॥४।२४।१

(३) जिमि कोउ करै गरुड़ सैं खेला ॥६।५१।८

हित—(१) सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाभ ॥१।३२।ख

(२) चलीं उमा तप हित हरषाई ॥१।७३।७

(३) हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥१।१५३।८

(४) सिय हित समर जितब हम सोऊ ॥१।२४४।७

५—प्रस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झख केतू ॥१।८२।

यहाँ 'प्रस्तुति' पाठ बहुत ही विचित्र है। कोई लिखक 'अ' में चूल्ह लगाना भूल गया है और 'अस्तुति' का प्रस्तुति बन गया है। यह पाठ गीता, माता तथा काशि में 'अस्तुति' ही है। मानस में प्रस्तुति शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है।

६—आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी ॥१।४३।

माता ने भी 'खोरी' स्वीकार किया है। गीता तथा काशि का पाठ 'थोरी' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ 'खोरी' के स्थान पर 'थोरी' पाठ ही संगत है। कवि का कथन है कि मानव में बीच-बीच में जो विनय, दीनता आदि मेरी लघुताओं की अभिव्यक्ति है, वही मानस के जल का हलकापन है। जो पानी जितना हलका होता है, उतना ही गुणकारी माना जाता है, अतः हलकापन जल का लालित्य है। 'न थोरी' विशेषण पद उपमान और उपमेय दोनों के साथ सार्थक है। उपमेय पक्ष में मानस में 'मेरी आर्ति और विनय की पुष्कल अभिव्यक्ति हुई है।' उपमान पक्ष में—'सुबारि में लघुता का लालित्य थोड़ा नहीं है!' 'न खोरी' का इस प्रकार का उभयनिष्ठ अर्थ नहीं किया जा सकता। 'न खोरी' में कवि की गर्वोक्ति की झलक भी खोजी जा सकती है अतः 'न थोरी' पाठ ही संगत है।

७—सुनहि सती तब नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिअ तन काऊ ॥१।५१।

माता का पाठ भी 'तन' है। गीता और काशि का पाठ 'उर' है। अर्थ की दृष्टि से 'तन' के स्थान पर 'उर' ही संगत है। शंका और संशय उर में ही धारण की जा सकती है, तन में नहीं।

८—पूजहिं प्रभुहिं देव बहु देखा। राम रूप दूसर नहिं देखा ॥१।५१।

'देखा' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'बेषा' है। 'देखा-देखा' पुनरुक्ति दोष भी है और अर्थ की दृष्टि से भी लचर है, अतः 'बेषा' पाठ ही कवि सम्मत है। राम की एकरूपता तथा अन्य देवताओं की बहुरूपता का ही प्रतिपादन करना कवि का उद्देश्य है।

९—पति हित हेतु अधिक मन मानी। बिहसि उमा बोली प्रिय बानी ॥१।१०७।

'मन मानी' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि ने 'अनुमानी' पाठ दिया है। 'प्रिय बानी' सभा तथा गीता का पाठ है जबकि माता और काशि ने 'मृदु बानी' स्वीकार किया है। 'मन मानी' से 'अनुमानी' पाठ अर्थ की दृष्टि से श्रेष्ठतर है। 'मन मानने' का प्रयोग कवि ने आसक्ति के अर्थ में किया है, जैसे—

तातें अब लगि रहिउँ कुँआरी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी ॥३।११।

शिव जी की मनःस्थिति का अनुमान गिरिजा ने उनके इस व्यवहार में किया था—

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बामभाग आसनु हरि दीन्हा। "प्रिय बानी" और "मृदु बानी" दोनों पाठ संगत हैं। अतः यह निश्चित करना कुछ कठिन है कि कवि ने कौन-सा पाठ लिखा होगा। फिर भी तुलसी के शब्दार्थ नियोजन से आधार पर 'मृदु बानी" पाठ की संभावना अधिक है। 'बानी', 'बचन', 'बच', 'गिरा,' 'बातें', 'बैन', 'बोला' और 'सिख' संज्ञाओं के साथ कवि ने विशेषण के रूप में 'मृदु' का प्रयोग लगभग ९८ बार किया है। सब से अधिक प्रयोग 'मृदु बानी' के ही है। 'मृदु बाणी' बोलना गिरिजा का सहज स्वभाव है। कवि ने उमा की वाणी को 'मृदु' विशेषण से ही अन्यत्र विभूषित किया है, जैसे—

(१) जगत मातु सर्वज्ञ भवानी। मातु सुखद बोली मृदु बानी ॥१।७१।८

(२) जननिहि बिकल बिलोकि भवानी। बोली जुत बिबेक मृदु बानी ॥१।९६।५

प्रस्तुत प्रसंग में कवि गिरिजा की मृदु वाणी से कथा का उपक्रम कर रहा है और उसी से उसका उपसंहार भी करता है—

सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु बानी ॥७।५१।८

उक्त तथ्यों के अतिरिक्त मृदुता वाणी का सहज सात्विक धर्म है, जिसका संबन्ध बात करने की शैली है। मृदुता का धर्म वक्ता से सम्बद्ध है, उसके शील, स्वभाव और संस्कृति से संबद्ध है। कड़ुई बात भी मृदु वाणी में कही जा सकती है। वाणी की प्रियता श्रोता सापेक्ष है। उसका संबन्ध विचारों से है। तुलसी ने 'प्रिय वाणी' का प्रयोग श्रोता की अपेक्षा से किया है। उमा ने जितनी बातें शंकर से कहीं, वे सब प्रिय नहीं थीं। शिव को प्रत्युत्तर में कहना पड़ा—'एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी ॥ (१।११४।७)। अतः 'प्रिय

नी' से मृदु बानी पाठ ही श्रेष्ठतर है प्रिय बानी का सबन्ध श्रोता से है यह अधोलिखित दाहरणों मे देखा जा सकता है

(१) अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे ॥१।६३।४

(२) सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी ।१।१९३।१

(३) सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने ॥१।१९।८

(४) दूत बचन रचना प्रिय लागी ॥१।१९३।३

(५) मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी ॥२।५।४

(६) सुनि प्रिय वचन मलिन मनु जानी ॥२।१४।७

(७) गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि, तीय अधर बुधि रानि ॥२।१६

(८) सुनि रघुबीर मातु प्रिय बानी ॥२।६०।८

(९) सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी ॥२।११५।२

(१०) भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे ॥१८४।१

बचन की प्रियता का संबन्ध किसी के चित्त को प्रसन्न करने के लिए सोच विचार र कही गई बात से है, इसका परिचय अधोलिखित प्रसंगों के अध्ययन से मिल सकता है—

(१) भयउ न नारद मन कुछ रोषा। कहि प्रिय बचन काय परितोषा।

(२) कहि प्रिय बचन बिबेकमय कीन्हि मातु परतोष ॥२।६०

(३) कहि प्रिय बचन प्रिया समुझाई ॥२।६८।५

(४) कहि प्रिय बचन सकल समुझाए। बिप्रबृन्द रघुबीर बोलाए ॥२।८०।२

(५) फेरे सब प्रिय बचन कहि, लिए लाइ मन साथ ॥२।११८।

(६) कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी ॥२।१३०। ४

(७) राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥२।१३५।७

विस्तार भय से 'मृदुबानी' के उद्धरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है। जिज्ञासु पाठ: धोलिखित कडवकों में मृदुबानी के प्रयोगों का अध्ययन स्वयं कर सकते हैं—

१।४४।६, १।५२।६, १।६६।६, १।७१।६, १।९५५,१।९८।८, १।१४८।१, १।१५८।२ ।६६।६, १।१९४।७, १९४।७, १।१२०।२, १।२२२।८, १।१२२।८, १।२३७।८, १।२५५।६, ।२७८।१।३२५।८, १३३३।६, २।३१, ।५।१।२।२३।२, २।२४।८, २।२६।१, ३।५।५, ५७।१, २।६०।७, २।७३।१, २।७७।७, २।७८।२, २७९।७, २।८९।१ २।९१।३, २।११४।१ ।११७ ५, १।१४२।३, १।१४९।३ २।१७५।८, २।१८७।४, २।१९७।३, २।२०२।८, ।२०४।६, २।२१५।६, २।२४४।२, २।२४९।५, २।१९५।६, ३।४।४, ३।१६।१२, २।४०।९, ।११५।२, ७।६०।८२

'प्रिय बानी' और 'मदुबानी' में पाठ का निश्चय करने के लिए इतना विस्तार यहाँ केवल ह प्रदर्शित करने की दृष्टि से किया है कि 'मानस' का पाठ निर्धारित करने में कितना सावधान हने की अपेक्षा है।

१०—सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर बस उर अन्तरजामी ॥१।११९।

सभा के अतिरिक्त माता का पाठ भी 'बस' है। गीता तथा काशि का पाठ 'सब' है।

यहाँ स्पष्ट ही 'सब' के स्थान पर 'बस' व्यंजन विपर्यय की भूल लिपक का प्रमाद मात्र है। 'अन्तरजामी' कहने के पश्चात् 'उरबस' की कोई अपेक्षा नहीं है। पुनरुक्ति दोष भी आता है। अतः 'रघुबर सब उर अन्तरजामी' पाठ ही सार्थक है। वैसे तो पुनरुक्ति 'अन्तरयामी' कहने के पश्चात् 'उर' में भी होती है, क्योंकि 'उर' और 'अन्तर' समानार्थक हैं, किन्तु 'अन्तरयामी' समस्त पद के साथ कवि ने उर का प्रयोग प्रायः किया है। इस प्रकार का प्रयोग कवि की शैली की विशिष्टता मानी जायगी। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) करुनामय उर अन्तरजामी २।६६।८

(२) दीनबन्धु उर अन्तरजामी ।।२।७२।६

(३) उर अन्तरजामी रघुराऊ ।।२।२११।३

(४) सगुन अगुन उर अन्तरजामी ।।३।११।१९

(५) प्रनतपाल उर अन्तरजामी ।।५।४९।१५

(६) तुम्ह उदार उर अन्तरजामी ।।७। ८४।८

मानस में 'सब अन्तरजामी' के प्रयोग अन्यत्र भी मिलते हैं किन्तु 'बस अन्तरजामी' का एक भी नहीं है, अतः शब्दार्थ नियोजन की दृष्टि से भी 'सब अन्तरजामी' पाठ ही संगत है। उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सम दरसी सब अन्तरजामी ।।१।५३।३

(२) गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अन्तरजामी ।।१।३९।१

१२—तासु प्रभाउ जान हिय सोई। तथा हृदय मम संसय होई ।।१।११९।

माता का पाठ भी 'जान हिय सोई' है। काशि का पाठ 'जान नहिं कोई' और गीता का पाठ 'जान नहिं सोई' है। यह अर्द्धाली मनु-सतरूपा प्रकरण की है। मनु के कार्पण्य की अभिव्यंजना यहाँ अभिप्रेत है। कवि लिखता है—

जथा दरिद्र बिबुध तरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई ।।१।१४९।

इसी की भावपूर्ति प्रस्तुत अर्द्धाली में की गई है। दरिद्र पुरुष कल्पतरु पाकर भी बहु-संपत्ति माँगने में क्यों संकोच का अनुभव कर सकता है? क्या इसलिए कि उसकी महिमा को कोई नहीं जानता? तब तो संपत्ति माँगने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए 'जान नहिं कोई' पाठ विशेष संगत नहीं लगता। इसी प्रकार 'जान नहिं सोई' पाठ भी उतना ही असंगत है। वस्तुतः यहाँ कल्पवृक्ष के प्रभाव के प्रति कोई आक्षेप नहीं किया गया अपितु दरिद्र की दारिद्र्यपूर्ण चित्तवृत्ति की अभिव्यंजना है। दरिद्र यह जानते हुए भी कि विबुधता, मनवांछित सपत्ति देनेवाला है, उसके समीप जाकर बहुसंपति केवल अपने मन के दारिद्र के कारण नहीं माँग पाता। इसीप्रकार मनु भगवान को समक्ष पाकर भी उनके पुत्ररूप में प्राप्त होने का वरदान माँगने में संकोच कर रहे हैं। इसलिए 'तासु प्रभाउ जान हियँ सोई' पाठ ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

१३—नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाउ बेद नहिं जाना ।।१।२३५।

काशि तथा माता का पाठ भी 'आदि अन्त अवसाना' है जबकि गीता का पाठ 'आदि मध्य अवसाना' है। मेरे विचार से 'अवसाना' कहने के पश्चात् 'अन्त' कहना निरर्थक है क्योंकि

दोनों हैं अत आदि मध्य अवसाना' पाठ ही अधिक सगत है इस प्रकार क शब्द नियोजन अन्यत्र भी ह, जैसे—

जेहि मह आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥६।६१।६

१४—तमकि ताकि तक शिव धनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करही ॥१।२५०

काशि का पाठ भी 'ताकि तक' है। गीता और माता का पाठ 'ताकि तकि' है। 'तकि' शब्द में ह्रस्व 'इ' की मात्रा की छूट प्रमादवश प्रतीत होती है। मानस में 'तकना' क्रिया का क्रियाविशेषण रूप लगभग १२ बार प्रयुक्त हुआ है और सभी जगह 'तकि' पाठ ही है, जैसे —

(१) तकि तकि तीर महीस चलावा ॥१।१५७।३

(२) हुमगि लात तकि कूबर मारा ॥२।१६२।४

(३) जनु करि करिनि चले तकि बारी ॥२।१८८।१

(४) जल थल तकि तकि उतरेउ लोगू ॥२।२४५।८

(५) अब प्रभु पाहि सरन तकि आएउँ ॥३।२।१३

(६) तब तकि राम कठिन सर मारा ॥३।२७।१४

(७) आवइ सभय सरन तकि मोही ॥५॥४७।२

(८) तकि तकि मार वार बहु भारी ॥६६।६

इसलिए 'तक' के स्थान पर 'तकि' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।

१५—लोभ लोलु कल कीरति चहई। अकलंकिता कि कामी लहही ॥ १।२६७।

सभा के 'लोभ लोलु' के स्थान पर माता और काशि का पाठ 'लोभ लोलुप' है, जबकि गीता का पाठ 'लोभी लोलुप' है। उक्त पाठ-भेदों में गीता का पाठ ही निभ्रान्ति प्रतीत होता है। 'लोभ-लोलुप' को समस्त मानकर अर्थ तो किया जा सकता है किन्तु इस प्रकार का शब्द-नियोजन मानस की शैली के अनुकूल नहीं है। ऊपर की अर्द्धालियों भी 'कोही', 'द्रोही' जैसे विशेषण मूलक संज्ञा पदों का व्यवहार होता चला आ रहा है, अतः 'लोभ' के स्थान पर 'लोभी' पाठ ही अधिक शुद्ध है। 'मानस' में 'लोल' शब्द का प्रयोग भी कवि ने लाक्षणिक अर्थ मे न करके अभिधेय अर्थ में ही किया है। 'लोल' शब्द के प्रयोग निम्नलिखित हैं—

(१) प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल ॥ १।२५९।

(२) चिक्करहिं दिग्गज डोल महि, गिरि लोल सागर खरभरे ॥ ५।३५।छं.१.

(३) कल कपोल श्रुति कुंडल लोला ॥ १।१४३।४।

वस्तुतः 'लोल' शब्द का प्रयोग बँगला में जिस अर्थ में होता है उस अर्थ में हिन्दी मे आज भी नहीं होता, अतः यह पाठ निभ्रान्ति नही प्रतीत होता। 'लोल' के स्थान पर 'मानस' में 'लोलुप' शब्द का प्रयोग ही लालची के अर्थ में हुआ है, जैसे—

(१) जे कामी लोलुप जग माही ॥ १।१२५।८

(२) लोलुप भूमि भोग के भूखे ॥ २।१७९।७

(३) बिप्र निरच्छर लोलुप कामी ॥ ७।१००।८

अतः 'लोभी लोलुप' पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

१६—हरि पद बिमुख परां गति चाहा ॥ १।२६७।

सभा के 'परां' से मिलता-जुलता माता ने 'परां' पाठ स्वीकार किया है। गीता और काशि का पाठ 'परम गति' है। 'परम गति' के स्थान पर 'परां गति' कदाचित् किसी संस्कृत पंडित का पाठ संशोधन है। 'गति' स्त्री० लि० संज्ञा है, अतः संस्कृत व्याकरण के अनुसार उसका विशेषण भी उसी लिंग में होना चाहिए। किन्तु हिन्दी में इस प्रकार के नियम का पालन नहीं होता। तुलसी ने 'परम' विशेषण का प्रयोग स्त्री० लि० संज्ञाओं के साथ अन्यत्र भी किया है, जैसे—

(१) भाइहि भाइहि परम सभीती ॥ १।१५३।७

(२) परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥ १।१८७।६

'परां' का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता, अतः 'परम गति' पाठ ही संगत प्रतीत होता है।

१७—निज पानि मनि महु देखि प्रतिमूरति सुरूप-निधान की ॥ १।३२७।

'देखि प्रतिमूरति' पाठ केवल सभा ने स्वीकार किया है। गीता माता और काशि का पाठ है 'देखि अति मूरति'। ऐसा प्रतीत होता है कि 'देखिअति मूरति' को ही लिखक 'देखि प्रतिमूरति' पढ़ गया है। 'अ' का 'प्र' पढ़ा जाना अन्यत्र भी देखा गया है। वस्तुतः कंकन के नग में राम की मूर्ति ही प्रतिबिम्बित हो रही है, उसकी 'प्रति' नहीं। अतः 'देखिअति मूरति' पाठ ही श्रेष्ठतर प्रतीत होता है।

१८—राम सखा रिषँ बरबस भेंटा ॥२।२४२।

सभा के अतिरिक्त काशि ने भी 'रिषँ' पाठ दिया है। गीता और माता का पाठ 'रिषि' है। 'रिषँ' पाठ विचित्र नहीं है। ह्रस्व इकार के लोप के पश्चात् उसे अनुनासिक बनाया जाना व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। इस प्रकार के प्रयोग 'मानस' में अन्यत्र नहीं हैं।

१९—सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥ ३।क।

सभा के 'आश्रमहिं' पाठ के स्थान पर गीता ने 'आश्रमन्हि' पाठ दिया है, जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है। माता का पाठ 'आश्रमहि' है तथा काशि ने 'आश्रम' पाठ दिया है। 'आश्रम' भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं है, 'मुनिन्ह' के साथ 'आश्रमन्हि' सप्तमी बहु व० पाठ ही होना चाहिए।

२०—प्रभु सम्रथ कोसलपुर राजा ॥३।११।

माता ने भी 'सम्रथ' ही रखा है। गीता और काशि का पाठ 'समर्थ' है। अकारण ही 'समर्थ' को 'सम्रथ' लिखना तुलसी की लेखनी के लिए सम्भव नहीं है। यह भी किसी लिखक की भूल ही प्रतीत होती है। 'मानस' में अन्यत्र भी 'समर्थ' अथवा 'समरथ' पाठ ही है, जैसे-

(१) अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य ॥ ७।११९

(२) नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥ १।२६।८

२१—मम सीता आश्रम महुँ नाहीं ॥ ३।३०।

गीता, माता तथा काशि का पाठ है 'मम मन सीता आश्रम नाहीं।' ऐसा प्रतीत होता है कि मम के पश्चात् लिखक 'मन' को छोड़ कर सीता लिख गया है. बाद को 'महुँ' लगा कर

छंद पूर्ति कर दी है। राम अपने भाई लक्ष्मण के समक्ष 'मम सीता' जैसा प्रणय सूचक प्रयोग नहीं कर सकते

२२—शान्तं शाश्वत मप्रेय मनघं गीर्वाण शान्तिप्रद ॥ ५।१ श्लो०।

'गीर्वाण' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'निर्वाण' है जो शान्तिप्रदं के अर्थ से मेल खाता है। 'गीर्वाण' भी लिपिक की भूल ही प्रतीत होती है।

२३—हैं सुत कपि सब तुहहि समाना ॥ ५।१६

'तुहहि' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि ने 'तुम्हहि' पाठ स्वीकार किया है। 'तुहहि' व्याकरण तथा अर्थ की दृष्टि से संगत प्रतीत होता है किन्तु मानस में इसका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। अतः 'तुम्हहिं' पाठ की ही सम्भावना अधिक है।

२४—सरित मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं ॥ ५।२३।

सभा के 'सरित मूल' के स्थान पर गीता, माता और काशि का पाठ 'सजल मूल' है। 'सरित मूल' विचित्र पाठ है जिसका युक्तिसंगत कोई अर्थ नहीं लगता। अतः शुद्ध पाठ 'सजल मूल' ही प्रतीत होता है।

२५—नाम पाहरू राति दिनु ध्यान तुम्हार कपाट ॥५।३०

सभा के अतिरिक्त माता ने भी 'रात दिन' पाठ दिया है। गीता और काशि का पाठ 'दिवस निसि' है। अर्थ की दृष्टि से दोनों पाठों में कोई अन्तर नहीं, किन्तु सौष्ठव 'दिवस निसि' पाठ में ही है। रूपक भी तुलसी की काव्य-कला का श्रेष्ठतम उदाहरण है। अत. 'दिवस निसि' पाठ श्रेष्ठतर है।

२६—प्रभु आएसु जेहि कर जस होई ॥५।५८।

'कर' सम्बन्ध सूचक अव्यय है, यहाँ अपेक्षा चतुर्थी की है अतः 'कर' के स्थान पर 'कहँ' अव्यय का प्रयोग होना चाहिए। गीता, माता और काशि का पाठ 'कहँ' ही है।

उपर्युक्त पाठ-भेद किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं छाँटे गए। 'मानस' का मुक्त सर्वेक्षण ही इनका आधार है। पाठ-भेद और भी हैं किन्तु यहाँ केवल नमूने के तौर पर कुछेक का विवेचन किया गया है।

शब्दों के विचित्र जोड़-तोड़

सभा के संस्करण में कहीं-कहीं सभंग श्लेष की शैली जैसे कुछ विचित्र जोड़-तोड मिलते हैं, जिनके द्वारा कभी-कभी नए अर्थ की निष्पत्ति भी होती है। हस्तलिखित प्रतियो मे शब्दों को सटा कर लिखा जाता था तथा शिरोरेखा भी आधुनिक ढंग से प्रति शब्द नही बाँधी जाती थी। अतः पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम अंश और परवर्ती शब्द के प्रारम्भिक अंश को एक साथ पढ़ जाने की संभावना अधिक रहती थी। यदि दोनों अंश मिल कर कोई सार्थक शब्द बनाते हैं तब इस जोड़-तोड़ के द्वारा नया शब्द बन जाया करता था और पाठ-भेद उत्पन्न हो जाता था। स्वर्गीय चौबे जी ने प्रायः पाठों को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, अत जोड़-तोड़ के पाठ-भेद उनके संस्करण में सर्वाधिक हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१—दंपति उर धरि भगत कृपाला। तेहि आश्रमनि बसे कछु काला ॥१।१२२:

सभा के 'आश्रमनि बसे' के स्थान पर गीता माता तथा काशि का पाठ आश्रम निबसे

कछु काला' है। यहाँ 'निबसे' का 'नि' वर्ण 'आश्रम' में आकर मिल गया है। व्याकरण की दृष्टि से 'तेहि' एक व० विशेषण के साथ 'आश्रमनि' सप्त० बहु० का प्रयोग अशुद्ध है। फिर मध्यकालीन व्याकरण के नियमानुसार 'आश्रमनि' न होकर 'आश्रमन्हि' रूप होना चाहिए। अतः अन्य संस्करणों में ग्रहीत पाठ 'आश्रम निबसे' ही शुद्ध है।

२—जनक सनेहु सील करतूती। नृप सब रात सराह बिभूति ॥१।३३२।

सभा के 'सब रात सराह बिभूती' के स्थान पर माता का पाठ 'सब भाँति सराह बिभूती' है। माता और सभा के पाठ भेदों में वर्णों का जोड़-तोड़ स्पष्ट है। गीता ने पाठ भेद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—राति—(कोदो) (भागवत)। (श्रा० कुं०) में पहले 'भाती' पाठ था। पीछे से उसके स्थान में 'राती' पाठ बनाया गया है, किन्तु 'भाँति' पाठ समाचीन होने के कारण मूल पाठ ही रक्खा गया है। 'भा' के ऊपर का चन्द्रबिन्दु छूटना तथा ति के स्थान पर ती लिखा जाना लेखक की भूल मालूम पड़ती है।

अर्थ की दृष्टि से भी 'सब भाँति सराह बिभूती' पाठ ही श्रेष्ठतर है। दशरथ जी के लिए समस्त रात्रि अथवा समस्त बारात के साथ जनकपुर में बैठ कर जनक की विभूतियों की सराहना करना उचित प्रतीत नहीं होता।

३—कबहुँ न कीन्ह सवतिया रेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू ॥२।४६।

सभा के 'सवतिया रेसू' के स्थान पर गीता, माता तथा काशि का पाठ 'सवति आरेसू' है। यहाँ भी आरेसू का 'आ' सवति में आकर मिल गया है। आस 'आरेस' शब्द 'ईर्ष्या' का लोक-प्रचलित रूप प्रतीत होता है। 'रेसू' रिस का बिगड़ा हुआ रूप हो सकता है। यहाँ पर रिस के स्थान पर ईर्ष्या का भाव है अतः 'सवति अरेसू' पाठ श्रेष्ठतर है।

४—देवँ दीन्ह सबु मोहिअ भारू। मोरें नीति न धरम बिचारू ॥२।२६।८।

सभा के 'मोहिअ भारू' के स्थान पर गीता, माता और काशि में 'मोहि अभारू' पाठ है। यहाँ भी आभार के अर्थ में प्रयुक्त 'अभारू' का 'अ' छिटक कर 'मोहि' के साथ मिल गया है। 'मैं' सर्वनाम का द्वितीया अथवा चतुर्थी का रूप 'मोहि' 'मोही' तथा 'मोहू' तो मिलता है किन्तु 'मोहिअ' रूप मानस में अन्यत्र नहीं मिलता, अतः मोहि अभारू' पाठ ही अधिक संगत है।

५—बिनु रघुबीर बिलोकिअ बासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू ॥२।१७६।

सभा के 'बिलोकिअ बासू' के स्थान पर गीता, माता और काशि का पाठ 'बिलोकि अबासू' है। यहाँ भी आबास अर्थ में प्रयुक्त 'अबासू' का 'अ' छिटक कर 'बिलोकि' में आकर मिल गया है। अपूर्ण कार्य द्योतक अर्थ में 'बिलोकि' रूप ही शुद्ध है। बिलोकिय का अर्थ होगा देखना चाहिए अथवा देखिए, जो प्रकरण की दृष्टि से असंगत है। अतः 'बिलोकि अवासू' पाठ ही शुद्ध है।

६— अनूप रूप भूपतिं। नतो हमुर्बिजा पतिं ॥३।४

व्याकरण की दृष्टि से 'नतो हमुर्विजा पतिं' पाठ शुद्ध नहीं है। गीता और माता क पाठ है 'नतोहमुर्विजा पतिं' तथा काशि का पाठ है 'नतोहमुर्विजापतिं'। हिन्दी के पाठकों के लिए 'नतोहमुर्विजापतिं' उतना आपत्तिजनक नहीं हैं जितना कि 'नतो हमुर्विजापतिं'। इस स्तुति में सभा ने 'नरादरेख' शुद्ध पाठ के स्थान पर 'नरादरेन' पाठ स्वीकार किया है

व्याकरण के शुद्ध रूप के स्थान पर सपादक न सत्य प्रतिलिपि के सिद्धान्त को स्वीकार किया

७—सीतल निसि तव असि बर धारा। कहु सीता हरु मम दुख भारा ॥५।१०।

सभा के 'निसि तव असि' के स्थान पर गीता, माता और काशि का पाठ 'सीतल निसित बहसि बर धारा' है। यहाँ निसित का 'त' टूट कर बहसि में जा मिला है। किन्तु 'तब हसि' पाठ को निरर्थक जानकर प्रतिलिपिकार ने 'तब असि' पाठ कर दिया है। कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में 'तव हसि' पाठ ही रहने दिया गया है। वस्तुतः यह अर्द्धाली प्रसन्न राघव नाटक के निम्नलिखित श्लोक का सुन्दर अनुवाद है—

चन्द्रहास हर मे परितापं, रामचन्द्र विरहानल जातं।

त्वंहि कान्ति जित मौक्तिक चूर्णं, धारया बहसि शीतलाम्भ ॥६।३३।

श्लोक में शंकर प्रदत्त चन्द्रहास नामक खड्ग की धार पर जल की धारा का आरोप किया गया है। वियोगिनी सीता को यह धारा शीतलाम्भ इसलिए प्रतीत हो रही है कि वह प्राणान्त करके विरह ज्वाला का शमन करने वाली है। उसी का अनुवाद तुलसी ने 'शीतल' विशेषण के द्वारा किया है। 'निशित' विशेषण में 'कान्ति जित मौक्तिक चूर्ण' का भाव भी आ जाता है। इसलिए 'सीतल निसित बहसि बर धारा' पाठ ही शुद्ध है।

८—देखहुँ कपिजन नीकी नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं ॥६।१०७।

सभा के 'कपिजन नीकी नाईं' के स्थान पर गीता, माता और काशि का पाठ है 'देखहिं कपि जननी की नाईं।' दोनों ही पाठ सार्थक हैं। रावण-वध के पश्चात् विभीषण जब जानकी जी को वापस ला रहा है तो उनके दर्शन के लिए बानरदल टूटा पड़ रहा है और विभीषण के छड़ीधारी रक्षक बानरों को दूर भगा रहे हैं। इसी प्रसंग में राम आज्ञा देते हैं कि सीता को शिविका से उतार कर पैदल लाया जाय, जिससे बानरों को उनके दर्शन करने में कोई कठिनाई न हो, वे उन्हें भली प्रकार देख सकें। यह अर्थ सभा के पाठ के अनुकूल है। गीता के पाठ के अनुसार अर्थ होगा—बानर दल सीता का दर्शन उसी प्रकार से करें जिस प्रकार जननी का दर्शन किया जाता है। जहाँ तक राम के स्वभाव का सम्बन्ध है, सभा का पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। अपनी पत्नी के लिए यह कहना कि दर्शक उसे जननी के समान देखें, उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु यदि मर्यादावादी कवि तुलसी की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'जननी के समान देखने' की सम्भावना ही अधिक है। तुलसी ने स्वयंवर के अवसर पर भी 'जगदम्बा जानहु जिअ सीता' तथा 'जगत जननि अतुलित छवि भारी' का प्रयोग किया है। इसी प्रकार हनुमान के मुख से भी 'हरि आनेहु सीता जगदम्बा' का प्रयोग रावण से वार्तालाप में करवाया है।

वस्तुतः यह प्रकरण वाल्मीकि रामायण से लिया गया है। वाल्मीकि में इस अवसर पर राम का सीता के प्रति कठोर रुख है। वहाँ विभीषण के आचरण पर राम कुछ क्रुद्ध भी हो जाते हैं और सीता को पैदल लाने का आदेश देते हैं।

वाल्मीकि ने बड़े विस्तार से १२ श्लोकों में उन परिस्थितियों की चर्चा की है जिन स्त्री का लोगों के सामने बेपर्दा होना दोष नहीं माना जाता। कवि लिखता है

सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेषु च समन्विता।
दर्शने नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥
विसृज्य शिबिकां तस्मात् पद्भ्यामेवासर्पतु।
समीपे मम वैदेहीं पश्यन्त्वेते वनौकसः॥ ६।११४।३१-३२।

वाल्मीकि के 'पश्यन्त्वेते वनौकसः' तथा 'देखहिं कपिजन नीकी नाईं'" समानार्थक हैं। यहाँ जननी के समान देखने का कोई संकेत नहीं। किन्तु अध्यात्म रामायण तक आते-आते परिस्थिति बदली हुई प्रतीत होती है। अध्यात्म रामायण के प्रणेता व्यास जी लिखते हैं—

विभीषण किमर्थं ते वानरान्वारयन्ति हि।
पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा॥ ६।१२।७३

यहाँ स्पष्टतः "मातरं यथा" कहा गया है, जिसका हिन्दी रूपान्तर "जननी की नाईं" होता है। तुलसी के समय में समाज के नैतिक आचार-विचारों की जो स्थिति थी तथा स्वयं कवि की जो मर्यादावादी दृष्टि है, उसको देखते हुए सम्भावना यही है कि तुलसी ने वाल्मीकि के स्थान पर अध्यात्म रामायण का अनुसरण किया हो और 'देखहिं कपि जननी की नाईं" ही लिखा हो। अथवा सम्भावना यह भी है कि कवि की दृष्टि में दोनों ही भाव रहे हों और उसने शब्दों का नियोजन इस प्रकार किया हो कि दोनों ही अर्थ निकल सकें।

क्रम परिवर्तन

सभा की प्रति में कहीं-कहीं शब्दों के क्रम में भी परिवर्तन हुआ है। शब्दों का क्रम बदलने से अर्थ में कहीं भी उत्कर्ष दिखलाई नहीं देता। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१—कलि खल अघ अवगुन कथन ते जलमल बग काग॥१।४१।—

गीता, माता और काशि का पाठ है—'कलि अघ खल अवगुन कथन'। अर्थ की दृष्टि से गीता इत्यादि का पाठ ही श्रेष्ठतर है। मानस में उत्तरकाण्ड में 'कलि-अघ' का व्यापक वर्णन हुआ है और 'खल अवगुन कथन' तो आदि-मध्य-अवसान में अनेक बार किया गया है। यहाँ कलि अघ पर जल-मल का आरोप है तथा खल अवगुन पर बग-काग का आरोप उसी क्रम से है। अतः सभा के पाठ मे जो क्रम का परिवर्तन किया हुआ है वह लिखक की भूल ही हो सकती है।

२—बिरह बिकल इव नर रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥१।४९।

गीता, माता और काशि का पाठ है—'बिरह बिकल नर इव रघुराई' जिसका सीधा-सा अर्थ है कि रघुराई प्राकृत नर इव बिरह बिकल दिखलाई पड़ रहे थे। 'नर इव' का आशय कवि ने आगे की अर्द्धाली में स्पष्ट किया है—कबहूँ जोग-बियोग न जाकें, देखा प्रकट बिरह दुख ताकें।" अतः 'बिकल इव नर रघुराई' पाठ में शब्दों का क्रम परिवर्तन भी लिखक का प्रमाद मात्र प्रतीत होता है।

३—ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा। मिटै न जीवन केर कलेसा॥७।७९।

गीता, माता और काशि का पाठ है—ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा' जो एकमात्र संगत पाठ है। यहाँ भी सम्पादक ने लिपिक की भूल को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

४—बिनु संतोष काम न नसाई। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥७।९०।

गीता, माता और काशि का पाठ है 'न काम नसाई'। छन्द की लय की दृष्टि से काम न नसाई से 'न काम नसाई' पाठ ही सगत है।

५—जाइ पद कमल नाएसि माथा ॥४।२५॥

यहाँ भी 'कमल पद' के क्रम को उलट कर 'पद कमल' कर दिया गया है। गीता आदि में 'पद कमल' पाठ ही है। इस प्रकार के उलट-फेर केवल सभा की प्रति में ही मिलते हैं। सम्पादक ने आधारभूत प्रति की भूलों में किसी प्रकार का संशोधन करना उचित नही समझा है।

वर्तनी

सभा के संस्करण में शब्दों की वर्तनी में एकरूपता नहीं है। यह तथ्य मानस-अनुशीलन के सम्पादक ने भी स्वीकार किया है। वर्तनी की दृष्टि से सभा का संस्करण जितना अव्यवस्थित, अनाधुनिक एवं अवैज्ञानिक है उतना गीता, माता अथवा काशि के संस्करण नही है। 'मानस' की वर्तनी पर तीन प्रकार के प्रभाव परिलक्षित होते हैं। एक प्रभाव तो संस्कृत के पण्डितों का है। उन्होंने जहाँ तक संभव हुआ है मानस की भाषा को संस्कृतनिष्ठ बनाना चाहा है। इन प्रतियों में अवधी के स, न, व के स्थान पर संस्कृत के तत्सम रूप श, ण, व का प्रयोग किया गया है। श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र के सम्पादन में सन् १९०४ में श्री वेंकटेश्वर प्रेस से छपी हुई प्रति की एक अर्द्धाली द्रष्टव्य है—

शीश जटा शशि वदन सुहावा। रिस बस कछुक अरुण होइ आवा ॥

मानस की भाषा का परिनिष्ठित रूप होगा—

सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिस बस कछुक अरुन होइ आवा ॥

दूसरा प्रभाव उन लिखकों के अज्ञान का पड़ा है जो भाषा का अल्प परिचय रखते थे तथा जिन्हें सुलेख लिखने के कारण लिपिक का कार्य मिल जाया करता था। इनकी स्थिति आधुनिक कम्पोजीटरों जैसी होती थी। एक बार लिखने के पश्चात् ये अपने लेख को काटना पसद नही करते थे, अतः शब्दों के क्रम का उलट-फेर, इत्यादि जान लेने पर भी उसे काट कर पूरा पत्र खराब नहीं करना चाहते थे। इन लिखकों की शिक्षा-दीक्षा का अनुमान 'मानस-अनुशीलन' में पृ० ९ पर उद्धृत लिखकों की सूची से लग सकता है। उनके नाम-धाम से ही प्रतीत हो जाता है कि वे केवल शिल्पी हैं, भाषाविद् नहीं।

नोट इस प्रकार है—

"इस प्रति के तैयार करने में (१) भोला राम अहीर, (राजमन्दिर); (२) विश्वेश्वर अहीर (बड़े) (शान्तिकेश्वर महादेव); (३) विश्वेश्वर अहीर (छोटे) (४) मियाँ····(बजरडीहा) (५) मिश्रीलाल (रेवड़ी तालाब), (६) महेश्वर प्रसाद मोची (रेवड़ी तालाब), (७) माधौ प्रसाद बढ़ई (रामनगर), (८) महादेव रंगसाज (रामनगर), (९) चुन्नी कहार (हड़हा) इन लोगों से २) से ३) रोजाना मजूरी तथा खाना, कपड़ा निवास देकर ५ वर्ष में तैयार कराया गया था।"

तीसरा प्रभाव मानस के उन निष्ठावान पाठक प्रतिलिपिकारों का है जो अपनी रुचि और कल्पना के अनुसार बीच-बीच में क्षेपक जोड़ते जाते थे और अपने वतनी

में भी बीच-बीच में परिवर्तन अथवा संशोधन करते रहते थे। वर्तनी में परिवर्तन कभी-कभी अभ्यासवशात् अनजाने भी हो जाते थे। स्वर्गीय चौबे जी ने वर्तनी में आधारभूत प्रति का ज्यों का त्यों अनुकरण किया है। इसलिए उसमें एक ही शब्द को अनेक रूप में स्वीकार किया गया है। अनुस्वार शब्दों तथा अनुनासिक शब्दों मे उन्हें जैसे कहीं अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु मिले हैं वहाँ लगा दिए हैं जहाँ नहीं मिले हैं वहाँ नहीं लगाए। इसी प्रकार इस संस्करण में शीत्र-शीत्र, आश्रम-आस्रम, श्री-स्री, विष्णु-बिस्नु, ईश्वर-ईस्वर, ग्यान-ज्ञान, तिपुरारी-त्रिभुवन, कहउँ-कहौं, करउँ-करौं उभय रूप मिलते हैं। निम्नलिखित सूची में सभा की प्रति के रूप तथा उनके शुद्ध रूप, जो अन्य प्रतियों में दिए गए हैं, नमूने के तौर पर प्रस्तुत किए जाते हैं—

सभा के रूप	शुद्ध रूप
राचा	राँचा
कुआरि	कुँअरि
बारुनीं	बारुनी
बजाईं	बजाई
पावनिहार	पावनहार
कँउहारू	कड़हारू
दिन्हे	दीन्हे
जैहहि	जैहहिं (ब० व०)
मुसुकानें	मुसुकाने
हसत	हँसत
कावरि	काँवरि
धुआ	धुँआ
पुरैन	पुरइन
जैहे	जैहैं (ब० व०)
भाती	भाँती (क्रि० वि०)
भाति	भाँति (क्र० वि०)
(मोरे) कहे	कहें
हसे	हँसे
पाही	पाँही (समीप के अर्थ में)
वर्षहि	बरषहि
नि:पापा	निष्पापा
धाई	धाईं (ब० व०)
कहा	कहाँ (क्रि० वि०)
सिखावहि, रहहि, कहहि	सिखावहिं, रहहिं कहहिं (ब० व०)
तह	तहँ (क्रि० वि०)
आए	आएँ (आने पर)

वर्तनी का आधुनिक रूप

सभा की प्रति में कहीं-कहीं शब्दों के आधुनिक रूप भी मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्व० चौबे जी ने १६वीं शती में छपी हुई किसी प्रति (कदाचित् भागवतदास) को अपने संस्करण का आधार बनाया है। इसलिए उसमें शब्दों के वे रूप भी मिलते हैं जिनका प्रचलन १६वीं शती में रहा है।

जैसे—

(१) बहुतक देखि कठिन सर भागहिं ॥६।६७।—

भाजहिं का भागहिं रूप आधुनिक है और उस पर खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट है।

२—गुंजन अलि ले चलि मकरन्दा ॥७।२३

अवधी के लै के स्थान पर 'ले' खड़ी बोली का रूप है।

३—अमर बीज बोये फल जथा ॥५।५८

बएँ के स्थान पर बोये रूप भी आधुनिक है।

४—ते पद आज बिलोकिहौं ॥५।४२

'आजु' का 'आज' रूप भी खड़ी बोली का है।

५—हरषु हृदय प्रभात पयाना ॥२।१८६।—

'परभात' का प्रभात रूप तत्समीकरण का उदाहरण माना जा सकता है। इत्यादि।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'मानस' जैसे विशालग्रन्थ के सम्पादन का कार्य एक व्यक्ति के कन्धे पर डालकर सभा जिस उपलब्धि की आशा कर सकती थी, उससे अधिक उपलब्धि उसे 'मानस' के प्रस्तुत संस्करण में नहीं हुई है।

● ●

हिन्दी-नाटककारों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण

●

धनंजय

किसी वस्तु या घटना के प्रति हर व्यक्ति का अपना एक खास दृष्टिकोण और उसे व्याख्यायित करने की पद्धति होती है। किसी एक संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण घटना आवश्यक नहीं है कि दूसरे संदर्भ में भी उतनी ही महत्वपूर्ण हो। किसी घटना में एक व्यक्ति जिस अर्थ की खोज करता है, दूसरा व्यक्ति उससे भिन्न अर्थ निकाल सकता है। वस्तुतः घटना के उन्हीं अंशों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जो अपने संदर्भ में सार्थक और विशेष रुचि के होते हैं। घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया व्यक्ति पर तभी होती है जब वह किन्हीं संदर्भों से उससे जुड़ा रहता है, भले ही वे संदर्भ प्रत्यक्ष न होकर भावात्मक ही हों। दृष्टिकोण के वैभिन्य को एक ही घटना के व्याख्यात्मक स्तर पर देखने के लिए एक उदाहरण लिया जा सकता है। न्यूटन बगीचे में बैठा था कि एक सेव उसके सिर पर गिरा, जिससे उसने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज की। इस घटना को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी, क्योंकि उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक का था। उसने केवल सेव के गिरने की दिशा, गति और उसकी प्रक्रिया पर ही ध्यान दिया। इतिहासकार का ध्यान इस घटना की विशिष्टता पर जाता है और वह इसे लिपिबद्ध करता है। वह यह उल्लेख करता है कि घटना कब और कहाँ हुई, उस समय न्यूटन क्या कर रहा था! विशिष्टता की खोज वह करता है, लेकिन यह भी विचारणीय है कि इसके निरर्थक विस्तार में वह नहीं जाना चाहेगा। सेव किस रंग का था, गिरने पर न्यूटन के मन में किस तरह के भाव जाग्रत हुए, अपनी प्रतिक्रिया उसने किस रूप में व्यक्त की, इन सब का संकेत इतिहास नहीं देता। लेकिन साहित्यकार इसकी खोज कर सकता है। एक ही घटना के प्रति वैज्ञानिक, इतिहासकार और साहित्यकार की दृष्टियाँ अलग-अलग हैं। अपनी रुचि, लक्ष्य और कार्य-सीमाओं के अनुसार इनमें अन्तर आ जाता है। यदि वैज्ञानिक को, एकदम भिन्न होने के कारण, अलग कर दिया जाय तो इतिहासकार और ऐतिहासिक रचनाकार के दृष्टिकोणों में किन्हीं अंशों तक समानता स्थापित हो सकती है। यद्यपि इनमें भी अन्तर है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इतिहास का उपयोग करने में प्रत्येक रचनाकार की भी अपनी दृष्टि होती है। रचनात्मक विकास-क्रम में यदि एक काल के सभी रचनाकारों की प्रवृत्ति, मोटे तौर पर, समान रही भी है तो दूसरे काल में वह बदल गई है। ऐतिहासिक

रचनाकारों में ही नहीं, स्वयं इतिहासकारों में भी परस्पर मतभेद रहा है। वस्तु: कला, धर्म और विज्ञान की भाँति इतिहास का भी विकास होता है। अतीत की घटनाओं की व्याख्या करते हुए चूँकि इतिहासकार उनमें एक अन्तःसम्बन्ध खोजता है, इससे उसका नैतिक या आदर्शवादी अथवा अन्य किसी प्रकार का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के मूल में वर्तमान की कोई आवश्यकता-निहित रहती है। इतिहासकार के सामने भी समसामयिक सदर्भ तो रहता ही है।

इतिहास के सम्बन्ध में समय-समय पर दृष्टिकोण बदलता रहा है। विकास के जिन स्तरों पर व्यक्ति जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी परिकल्पना भी उसी प्रकार की होती है। जितनी तीव्र आकांक्षा व्यक्ति में अपने अन्त: को व्यक्त करने की रहती है, उतनी ही तीव्रता बाह्य के अवबोधन में भी होती है। मस्तिष्क की क्रियाशीलता किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में व्यक्ति के अपने अनुभवों से भी सम्बद्ध रहती है और उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में वस्तु की व्याख्या भी होती है। कांट ने जब मूल्यों का एक स्वरूप मानते हुए उन्हें नैतिकता से ही सम्बद्ध कर दिया तो उसके सामने नैतिकता का अपना दृष्टिकोण था। लेकिन यह आवश्यक नही कि दूसरा व्यक्ति भी नैतिक मूल्यों को कांट के अनुसार ही देखे। आज नैतिक मूल्यों का जो स्वरूप है वह आज से सौ वर्ष या दो सौ वर्ष पहले नहीं था। सम्भव है, इनमें कही सामंजस्य भी हो, लेकिन अन्ततः भिन्नता ही है।

इतिहास के बदलते दृष्टिकोण को इस प्रकार भी देखा जा सकता है कि इसकी जो परिकल्पना प्राचीन काल में थी, ठीक वही १९वीं शताब्दी में नहीं रही। यह संकेत किया जा सकता है कि भारत में ही प्राचीन काल में इतिहास के अन्तर्गत धर्मशास्त्र, पुराण, आख्यान सभी की गणना होती थी। ईसा के पहले सुमेरियन का इतिहास लिखते समय दो राज्यों के युद्धों का विवेचन किया गया, जिसे ईश्वर स्वयं आकर सुलझाते हैं। आज का इतिहासकार ऐसी बातों को स्वीकार नहीं करेगा। फिर भी इतिहास के सम्बन्ध में यह उस समय का एक दृष्टिकोण तो था ही, इससे स्वीकार नहीं किया जा सकता। आज का इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण मानव के अतीत के कार्यों के आकलन एवं घटनाओं की व्याख्या से सम्बद्ध है। उन कार्यों और व्यवहारों को समझने के लिए मानव प्रकृति से परिचय आवश्यक है, जो वर्तमान से ही प्राप्त किया जा सकता है। मानव प्रकृति का ज्ञान उस अनुभव के आधार पर होता है जिसे सामान्य-ज्ञान कहा जा सकता है। इतिहासकार ही नहीं, नाटककार भी मानव प्रकृति को संभावनाओं से एकदम अलग होकर निर्णय नहीं दे सकता। एम० आकशॉट ने ऐतिहासिक चिन्तन को पूर्णतया बौद्धिक न मानते हुए भी उनमें व्यक्तिगत अनुभवों को स्थान दिया था, क्योंकि अतीत वर्तमान से पृथक् न होकर एक प्रकार से इसी पर निर्भर है।

इतिहासकारों के दृष्टिकोणों में जिन कारणों से अन्तर आता है उनमें सबसे पहला कारण व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का है। चाहे वह रुचि एक की हो या पूरे समूह की। ईर्ष्या या गलत अवधारणा, किसी विशेष देश या राष्ट्र या जाति का होने के कारण अन्य को कम महत्व देना, दूसरा कारण है। तीसरा कारण ऐतिहासिक व्याख्या के विरोधी सिद्धान्त का है। एक इतिहासकार मार्क्सवादी है और ऐतिहासिक घटनाओं की परिणति आर्थिक सिद्धान्तों के निय-

मन में करता है तो दूसरा इतिहासकार बहुवादी होने से किसी एक सिद्धान्त को इतिहास पर लागू करने को तैयार नहीं होता। इसलिए तय है कि इनके निष्कर्षों में अन्तर आ ही जायेगा। अन्तिम कारण, मानव प्रकृति के सम्बन्ध में की गई भिन्न परिकल्पना का भी हो सकता है।[1]

इन कारणों से ऐतिहासिक चिन्तन की अनेक पद्धतियाँ बनती गई हैं और इन विभिन्न चिन्तन-पद्धतियों में सामंजस्य बैठाना कठिन है। तो भी स्थूल रूप से इन्हें आदर्शवादी या वैयक्तिक तथा वस्तुवादी या निर्वैयक्तिक इन दो वर्गों में रखा जा सकता है।

आदर्शवादी चिन्तन-पद्धति को मान्यता देने वाले विचारकों की स्थापना है कि इतिहासकार का कार्य व्यक्ति के जीवन को अपने भीतर संक्रान्त करना है। ऐतिहासिक घटनाएँ मानव-मस्तिष्क में ही निहित होती हैं। इतिहास एक प्रकार की कला है, क्योंकि इसका कार्य वैयक्तिक तथ्यों का विवरण देना है। ये तथ्य भी बाह्य नहीं, आन्तरिक होते हैं। समस्त इतिहास विचारों का इतिहास है। विचारों के अतिरिक्त और कोई वस्तु इतिहास का विषय हो ही नहीं सकती।[2] कांट, क्रोचे और कालिंगवुड इसी विचारधारा को मानने वाले हैं। इनके अनुसार वह सम्पूर्ण तथ्य जगत्, जिसका स्पष्ट अध्ययन इतिहास में होता है, अध्येता के सूक्ष्म मानसिक सत्व से भिन्न कुछ भी नहीं है। इतिहास, व्यक्तिगत धारणाओं की अभिव्यक्ति होने के कारण, तटस्थता नहीं, वैयक्तिकता की माँग करता है।[3] आदर्शवादी दृष्टिकोण अतीत को वर्तमान से अभिन्न स्वीकार कर इतिहास को वर्तमान के परिप्रेक्ष में किया गया अतीत का पुनर्निर्माण मानता है।

इसके विपरीत वस्तुवादी विचारक इतिहास में निर्वैयक्तिकता और वस्तुपरकता को प्रश्रय देते हैं। कोंडोरसेट और काम्ते ने यहाँ तक स्वीकार किया है कि प्रत्येक प्राकृतिक घटना, चाहे वह भौतिक हो या मानवीय, पहले से ही पूरी तरह निश्चित रहती है और यदि जगत के सभी नियमों को हम जान जायें तो प्रत्येक वस्तु की, यहाँ तक कि मानवीय व्यवहार की भी, भविष्यवाणी कर सकते हैं। मार्क्स भी इसी विचारधारा से सम्बद्ध हैं। इनका कहना है कि इतिहास मानव प्रकृति के वास्तविक अध्ययन से सम्बद्ध रहता है और उसमें व्यक्तिगत निर्णयों के लिए कोई स्थान नहीं होता। भौतिक विज्ञान के अन्य अध्ययनों की भाँति इतिहास भी कुछ नियमों से बँधा रहता है।

इन चिन्तन पद्धतियों को ऐतिहासिक नाटककारों ने किन अंशों तक ग्रहण किया है, इसका विवेचन आवश्यक है। जिस प्रकार इतिहास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं, उसी प्रकार ऐतिहासिक नाटककारों की भी इतिहास को स्वीकार करने और प्रयोग में लाने की अलग-अलग दृष्टियाँ रही हैं। विकास काल से लेकर उत्कर्ष काल तक के सभी नाटककारों ने नाटकों में इतिहास-तत्व की रक्षा और इतिहास-प्रयोग की जो पद्धतियाँ अपनाई हैं, उनमें कहीं समानता है और कहीं भिन्नता। बल्कि एक ही काल के दो नाटककारों में भी इस समानता

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू दि फिलासफी आफ हिस्ट्री : डब्ल्यु० एच० वाल्स के आधार पर।
२. इतिहास दर्शन : डॉ० बुद्धप्रकाश, पृष्ठ २२७।
३. स्पेकुलम मेन्टिस : आर० जी० कॉलिंगवुड, पृष्ठ २३७।

और भिन्नता को रेखांकित किया जा सकता है। यदि एक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है, तो दूसरा समसामयिक यथार्थ की स्वीकृति चाहता है। एक उद्‌बोधन देना चाहता है, दूसरा सामाजिक उत्थान की भावना से प्रेरित है। एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है। यहाँ नाटककारों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर दो रूपों में विचार किया जायगा। एक तो यह कि इतिहास की व्याख्या उन्होंने किस प्रकार की है, इतिहास को देखने की उनकी दृष्टि क्या रही है और दूसरे, नाटक को इतिहास में प्रयुक्त करते समय उसे सुरक्षित रखने अथवा परिवर्तित करने के सम्बन्ध में उनका क्या दृष्टिकोण रहा है!

क्रम-विभाजन के अनुसार सबसे पहले विकास-काल के ऐतिहासिक नाटककारो को लें। इस काल के नाटककारों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर जन-साधारण मे नैतिक चेतना और देश-प्रेम जाग्रत करने के लिए ऐतिहासिक नाटकों की रचना की थी। इतिहास से कथावस्तु लेकर उसका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार हुआ है जिससे उक्त लक्ष्य की पूर्ति हो सके। यद्यपि सामयिक परिप्रेक्ष मे नाट्य-रचना हमेशा हुई है, लेकिन इस काल के नाटककारों की यह विवशता थी। समाज-सुधारक का दायित्व उन्हें जाने-अनजाने वहन करना पड़ा था, उससे इनकी रचना प्रक्रिया की एक निश्चित दिशा बन गई थी। हाँ, इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार की परिस्थितियाँ और वातावरण इनके चारों ओर था, उसमें युग-बोध के प्रति ईमानदार कोई भी रचनाकार ऐसी ही रचनाएँ करता। सन् १८१८ के दौरान टालस्टाय ने भी अपने से पूर्व परम्परा से भिन्न जितनी ऐतिहासिक रचनाएँ लिखी थीं उन सबमें राष्ट्रीयता का स्वर ही मुखर था। हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों के प्रारंभिक रचनाकाल में नाटककारों का इतिहास के प्रति दृष्टिकोण वही था जो प्राचीन काल में हेरोदोतस और अभिनवगुप्त पादाचार्य का था। इतिहास की घटनाओ से कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए, यह धारणा बनाकर कथावस्तु को संगुंफित किया गया। स्थूल रूप से इनका दृष्टिकोण आदर्शवादी चिन्तन-धारा के अधिक निकट है। अतीत की घटनाओं और चरित्रों को सामयिक संदर्भ में व्याख्यायित किया गया है। वस्तुतः इनके लिए वर्तमान ही प्रमुख था, अतीत तो एक माध्यम भर था। इतिहास से ऐसे कथानकों और चरित्रो का चयन किया गया जो समसामयिक संदर्भ में अधिक सार्थक और प्रेरणाप्रद प्रतीत हों और उनकी प्रस्तुति भी इसी ढंग से हुई है। 'चन्द्रावली,' 'नीलदेवी,' 'पुरु विक्रम,' 'महारानी पद्मावती,' 'महाराणा प्रताप' सबमें इतिहास की समसामयिक व्याख्या है। राधाचरण गोस्वामी ने इस काल का प्रतिनिधित्व करते हुए 'अमरसिंह राठौर' की भूमिका में अपना ऐतिहासिक दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया है, 'भारत में जब कि प्रकृत स्वाधीनता और वीरता का प्राण-वियोग हुए सैकड़ों वर्ष हो गये तब पुस्तक-पत्रों द्वारा ही हम स्वाधीनता, वीरता के लिए अश्रु विसर्जन करके कृतार्थ होंगे।'[1] उस समय पुस्तक-पत्रों और इतिहास की यही उपयोगिता समझी गई थी। प्रभाव की तीव्रता, घटना के नाटकीय कथावस्तु होने की प्रथम अनिवार्यता थी। 'नीलदेवी' में भारत-कमलिनी को दुष्ट यवनों से बचाने की चिन्ता व्यक्त की गई है,

---

१. अमरसिंह राठौर : राधाचरण गोस्वामी, (भूमिका)।

पद्मावती में आर्य-संतानों का ध्यान अपने पूर्व पुरुषों के गौरव की ओर दिलाने की व्यग्रता है, 'चन्द्रगुप्त' नाटक में आर्य के बच्चे-बच्चे को उसके कर्तव्य के प्रति जागरूक बनाने की तत्परता है।

यह विचारणीय हो सकता है कि इतिहास से इनका वास्तविक तात्पर्य क्या था और उसे नाटकों में प्रयुक्त करते समय किस प्रकार की स्वतंत्रता इन्होंने अपनाई है। इस काल की नाट्य-कृतियों को देखने से पता चलता है कि इन नाटककारों के सामने इतिहास का अत्यंत भ्रामक और अस्पष्ट स्वरूप था। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति इनका लगाव कम था, सामयिक समस्याओं की ओर रुझान अधिक थी। इसीलिए या तो ये कथावस्तु की प्रामाणिकता की खोज में प्रवृत्त ही नहीं हुए या लक्ष्य-सिद्धि के लिए ज्ञात घटनाओं को भी मनमाने ढंग से परिवर्तित करते गए। अधिकांश नाटकों में इतिहास का आभास-मात्र ही है और जहाँ इतिहास का कुछ आधार है भी, वहाँ कल्पना को इतनी प्रधानता दे दी गई है कि उसका मूल रूप विनष्ट हो गया है। इतिहास-प्रयोग की उत्कृष्ट पद्धति इस काल के नाटककारों में दृष्टिगत नहीं होती। किसी भी ऐतिहासिक रचना में, चाहे वह नाटक हो या उपन्यास, रचनाकार को कलात्मक निर्माण के लिए अपनी सीमाओं के अनुरूप किन्हीं अंशों तक स्वच्छंदता बरतनी ही पड़ती है, फिर भी उसके द्वारा ग्रहीत आधार तो तथ्यपरक और प्रामाणिक होना ही चाहिए। किन्तु इन्होंने इतिहास को ग्रहण करने में ही तटस्थता नहीं दिखाई है, उसे प्रयोग करने की तो बात ही अलग है। भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक की कथावस्तु नितांत काल्पनिक है। इसका मूल आधार आर्नल्ड की एक कविता है। सभी प्रमुख पात्रों, यहाँ तक कि नायिका नीलदेवी तक का कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता है। राधाचरण गोस्वामी के 'सती चन्द्रावली' की रचना व्रज-प्रदेश में गाये जाने वाले एक लोकगीत को आधार बनाकर की गई है। इसके कथानक का कोई सूत्र इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलता। लाला श्रीनिवास दास 'संयोगिता स्वयंवर' का मूलाधार चन्द बरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' है, जो स्वयं संदिग्ध ग्रंथ है। काशीनाथ खत्री ने पौराणिक कथानक को लेकर लिखे गये 'लव जी का स्वप्न' शीर्षक अपने नाटक को ऐतिहासिक कहकर सम्बोधित किया है। इसी तरह बलदेव मिश्र के 'मीराबाई' एवं बद्रीनाथ भट्ट के 'तुलसीदास' नाटकों में अलौकिक तत्वों का बाहुल्य है। इनमें ऐसे अविश्वसनीय प्रसंग हैं जिनसे ऐतिहासिकता को हानि पहुँची है। पं० जगतनारायण शर्मा के 'अकबर गो-रक्षा न्याय' में पौराणिक और ऐतिहासिक दोनों कथानकों का समावेश एक साथ किया गया है। लाला शालिग्राम के 'पुरु विक्रम' में जासूसी तत्वों का बाहुल्य है। कल्पना का मनमाना और असंगत प्रयोग नाटकों की स्वाभाविकता में बाधा डालता है। ऐसे नाटकों की संख्या बहुत कम है जिनमें इतिहास की प्रामाणिकता का समुचित निर्वाह किया गया हो। 'गुन्नौर की रानी,' 'अमरसिंह राठौर' जैसे दो-एक नाटक इस दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, लेकिन उनमें भी इतिहास का वह रूप नहीं आ पाया है जो ऐतिहासिक नाटकों में आना चाहिए। इस काल के नाटककारों ने लोक कथाओं, लोक-गीतों से भी अधूरी सामग्री लेकर नाटकों की रचना की है। लोक-कथाएँ इतिहास नहीं हैं। इनका संग्राहक, जो इन्हें इतिहास में नियोजित करता है, यह विचार नहीं करता कि जिन आधारों से वह इन्हें ग्रहण कर रहा है वे विश्वसनीय और प्रामाणिक हैं, या नहीं। इसलिए

लोक-कथाएँ इतिहास का एक अंग बन सकती हैं किन्तु तभी जब इतिहासकार ने सम्यक परीक्षण के बाद उन्हें ग्रहण कर लिया हो। इस काल के नाटककारों ने भ्रमवश इन्हें ही इतिहास मान लिया है। यह तथ्य अत्यंत रोचक है कि इस काल में इतिहास को भी साहित्य के समकक्ष रखते हुए उसका प्रमुख कार्य उपदेश देना या जन-सामान्य को उद्बोधित करना मान लिया गया। भावात्मक रूप से अपने समय की विचारधाराओं और परिस्थितियों से प्रभावित होना स्वाभाविक है, पर इसका अतिरेक तथ्यों के निर्धारण में बाधक नहीं होना चाहिए। स्वयं इतिहासकार भी कभी-कभी सामयिक राजनीतिक या सामाजिक समस्याओं के परिप्रेक्ष में राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने के लिए इतिहास को प्रस्तुत करते हैं। गिब्बन और वोल्तेयर उद्बोधन (इनलाइटेनमेन्ट) के प्रमुख प्रचारक थे। पिछले सौ वर्षों में अमेरिकन और अँग्रेजी लिबरल इतिहासकारों के इतिहास को 'स्वतंत्रता की कहानी' (स्टोरी आफ लिबर्टी) माना है। इतिहास को लिबरल प्रजातंत्र और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के संघर्ष के रूप में रखकर इन्होंने अपने लक्ष्य की सिद्धि की है।

ऐतिहासिक नाटकों के विकास काल में नाटककारों ने इतिहास को अस्पष्ट तथा अप्रामाणिक तौर पर ग्रहण कर, उसमें यथेच्छ परिवर्तन कर, विकृत बनाया था। इसके पीछे जो कारण थे, उन्हें खोजने के प्रयास अभी तक नहीं किये गये। प्राय: यही कहकर टाल दिया जाता है कि राष्ट्रीय भावना के उद्रेक ने इनकी दृष्टि को अस्पष्ट बना दिया था। यह भी एक कारण हो सकता है, लेकिन इसके साथ और भी अनेक कारण हैं। इतिहास के प्रति इनकी अस्पष्टता को दायित्व-बोध की अतिशयता मात्र कहकर नहीं टाला जा सकता। वास्तविकता यह है कि आधुनिक कही जाने वाली वैज्ञानिक दृष्टि से उस समय तक कोई परिचित ही न था। प्राचीन काल में भारतीयों ने कभी तिथिपरक क्रमबद्ध इतिहास लिखने की चिन्ता ही नहीं व्यक्त की। इतिहास को इन्होंने जिस विस्तृत परिप्रेक्ष में लिया था, उसके अन्तर्गत धर्मशास्त्र और नीति-शास्त्र तक की सन्निहिति तो थी ही, दृष्टांतपरकता भी थी। आज के इतिहासकार जैसे सिद्धान्त उनके पास न थे। इसी कारण भारतीयों पर इतिहास-ज्ञान न होने का लांछन लगाया गया है। अलबेरुनी को भी शिकायत थी कि हिन्दू इतिहासकारों ने तिथिक्रम की चिन्ता कभी नहीं की। विकास काल के नाटककारों के सामने एक ओर इतिहास का यह पुराना स्वरूप था, दूसरी ओर विदेशी इतिहासकारों द्वारा लिखा गया भारतीय इतिहास का उदाहरण था, जो स्वयं बहुत अप्रामाणिक और विकृत था। कर्नल टॉड के 'राजस्थान' को ही उदाहरण के लिए देखा जा सकता है। यह तथ्यपरक इतिहास कम, कथात्मक विवरण अधिक है। विदेशी इतिहासकारों ने जान-बूझकर भारतीय इतिहास को विकृत किया है और तथ्यों को छिपाने की चेष्टा की है। अँग्रेज ही नहीं, मुसलमान, यूनानी, जिसने भी भारत के इतिहास के बारे में लिखा, कभी न्यायपूर्ण ढंग से नहीं लिखा। अपने को महान् और सशक्त तथा विजयी घोषित कर भारतीयों को हीन, कमजोर और विजित सिद्ध करने के लिए इन्होंने तथ्यों को एकदम बदल कर प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण लें। ३२७ ई० पू० के लगभग यूनान का अधिपति सिकन्दर फारस को जीतने के बाद भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में सेना लेकर आ पहुँचा। झेलम के तट पर पोरस की व्यवस्थित सेना से उसकी मुठभेड़ हुई। पोरस की हाथियों

द्वारा यूनानी सेना बुरी तरह नष्ट की गई। हाथियों ने असंख्य शत्रुओं को अपने पैरों तले रौंदकर मार डाला। पोरस के सैनिकों द्वारा इस भीषण युद्ध में कितने यवन मारे गए इसे छोड़ दें, तो भी केवल हाथियों द्वारा की गई यूनानी सेना की हानि का प्राचीन ग्रीक इतिहास-कारों ने बड़ा अद्‌भुत विवरण दिया है। एरियन ने, जो सिकन्दर के इतिहासकारों में बहुत गंभीर है, लिखा है कि झेलम के युद्ध में यूनानी सेना के केवल अस्सी पैदल सिपाही और दो सौ तीस घुड़सवार धराशायी हुए। इस प्रकार के विवरणों में सिकन्दर के रोमांचकारी वीरत्व की झूठी-सच्ची कहानियाँ बनी हैं और भ्रमवश इन्हीं को ऐतिहासिक माना गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यवन सेना की हुई हानियों को ही इन इतिहासकारों ने नहीं छिपाया है बल्कि युद्ध के अन्तिम निर्णय को भी छिपाया गया है। पोरस और सिकन्दर के इस युद्ध सम्बन्धी प्राचीन एथियोपिक पाठ से इस सत्य का आभास मिलता है कि सिकन्दर पोरस को पराजित नहीं कर सका था। बहुत संभव है, पोरस ही इस युद्ध का वास्तविक विजेता रहा हो। योरोपियन इतिहासकारों ने वास्तविकता को छिपा दिया हो।[१]

इन्हीं विदेशी इतिहासकारों ने शिवा जी को मामूली लुटेरा और डाकू कहकर उनके महत्व को कम करने की चेष्टा की थी। उस योद्धा को, जिसने अपनी सीमित शक्ति से ही औरंगजेब जैसे दुर्धर्ष शासक को नाक में दम कर दिया था और जो मराठों की स्वतंत्रता के लिए अन्त तक लड़ता रहा, लुटेरा कहना कितने बड़े सत्य पर परदा डालना है। इससे बढ़कर इतिहास की विकृति और क्या हो सकती है? बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक नाटककारों के समक्ष इतिहास के ऐसे ही उदाहरण थे। इसलिए नाटकों में यदि इतिहास के अस्पष्ट स्वरूप को उन्होंने लिया या उसे विकृत किया तो यह स्वाभाविक ही था। इस समय तक भारतीय इतिहास लेखन ही स्पष्ट नहीं हो सका था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में पुरातत्व विभाग की स्थापना से भारत के प्राचीन अवशेषों का अध्ययन होने लगा और धीरे-धीरे भारतीयों में भी अपने इतिहास को तथ्यों की खोज के साथ सही परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। पाश्चात्य देशों में बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक इतिहास लेखन के जो आन्दोलन चले, उनका प्रभाव भी पड़ा। इन सबके परिणाम स्वरूप ऐतिहासिक नाटककारों का दृष्टिकोण भी क्रमशः बदलता गया।

ऐतिहासिक नाटकों की रचना के द्वितीय काल अर्थात् उत्थान काल में नाटककारों के ऐतिहासिक दृष्टिकोणों में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए, फिर भी अनेक नाटककार ऐसे रहे हैं जो पिछली मान्यताओं से अलग नहीं हो पाये हैं। इन दोनों कालों के बीच की विकास रेखा को यों स्पष्टतया देखा जा सकता है। ऐतिहासिक कथावस्तु के व्यवहार एवं इतिहास की व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न नाटककारों के दृष्टिकोणों पर विचार करने से पता चलता है कि वे अतीत और वर्तमान के सम्बन्ध को समझकर तो चले ही हैं, चिन्तनपरक विशिष्टता भी उनमें आई है।

---

१. चन्द्रगुप्त मौर्य और एलेक्जेंडर की भारत में पराजय : डॉ० हरिश्चन्द्र सेठ, पृ० ११-१६।

जयशंकर प्रसाद की कृतियों से ऐतिहासिक नाटक एक नया धरातल ग्रहण करता है। साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण बिन्दु है और इतिहास प्रयोग की दृष्टि से भी। प्रसाद का महत्व इसलिए अधिक है कि उन्होंने इतिहास के तिथि-क्रम और घटनाओं की प्रामाणिकता पर सम्यक् विचार कर उन्हें कलात्मकता के साथ नाटकों में नियोजित करने का प्रयास पहली बार किया। अपनी कथावस्तु के मूल स्रोतों, उसकी प्रामाणिकता अप्रामाणिकता, विभिन्न धारणाओं आदि का अध्ययन इतिहासकार की भाँति करते हुए उनका पूरा विवरण उन्होंने दिया है और सर्वत्र घटनाओं तथा चरित्रों को इतिहास के अनुरूप रखने की चेष्टा की है। अपने विशुद्धतम रूप में तत्कालीन इतिहास प्रसाद के नाटकों में सुरक्षित है। उन्होंने कहीं-कहीं मौलिक स्थापनाएँ भी की हैं। नाटककार से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह इतिहासकार का दायित्व भी वहन करे, पर अपने कार्य की गंभीरता सिद्ध करने के लिए यदि वह ऐसा करता है तो उसकी रचना निश्चय ही अधिक विश्वसनीय बन जाती है। जयशंकर प्रसाद ने इतिहास को जिस नये दृष्टिकोण से देखा, वह समाज के संदर्भ में जीवन से ही उद्भूत था। 'विशाख' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है और जिन पर वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।' ऐतिहासिक नाटक की रचना में उनकी दो प्रवत्तियाँ कार्य कर रही थीं। एक ओर भारतीय इतिहास के उन्हीं अंशों पर ध्यान देना जो अभी प्रकाश में नहीं आये हैं, दूसरे, उसे वर्तमान संदर्भ में व्याख्यायित करना। अतीत का परिचय मात्र उन्हें अभीष्ट न था, बल्कि वे उसे वर्तमान से संदर्भित करते हुए उनमें एकसूत्रता स्थापित करना चाहते हैं। वर्तमान अनायास नहीं बन गया है, इसके पीछे कार्य-कारण की लम्बी परम्परा है, जो अप्रत्यक्ष रूप से अतीत से जुड़ी है। इस प्रकार वे ऐतिहासिक चिन्तन की निर्वैयक्तिक या वस्तुवादी पद्धति को स्वीकार करते हैं। टॉयनबी ने इतिहास की अखंडता को मानते हुए अतीत और वर्तमान के अन्तःसम्बन्ध को इतिहास की प्रक्रिया का केन्द्र-बिन्दु निर्धारित किया है। इनका अन्तःसम्बन्ध मूल्यांकन के समय विस्मृत नहीं होना चाहिए। प्रसाद संकेत करना चाहते है कि समसामयिक समस्याओं का वास्तविक निरूपण समाज के पूर्व इतिहास के ज्ञान से ही संभव है, लेकिन वे अपना कोई व्यक्तिगत निर्णय न देकर घटनाओं को तटस्थता से प्रस्तुत करते हैं। कहीं भी उन्होंने अपने लक्ष्य को व्यक्त नहीं होने दिया है। विभिन्न धर्मों के संघर्षों एवं संस्कृति के चित्रण में वे प्रायः तटस्थ ही रहे हैं। बौद्ध धर्म श्रद्धा एवं प्रभाव के जिस स्तर तक अजातशत्रु के समय में पहुँच गया था, उसका स्पष्ट चित्रण 'अजातशत्रु' नाटक मे है और आगे चलकर ह्रास के जिस बिन्दु तक पहुँचा उसका अंकन 'स्कंदगुप्त' में किया गया है। अजातशत्रु के समय से लेकर हर्षवर्धन के समय तक के भारतीय इतिहास का जितना यथार्थ प्रस्तुतीकरण प्रसाद ने किया है, वह उत्थान काल के अन्य किसी नाटककार से संभव न हो सका था। प्रसाद के नाटक उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण के प्रतीक हैं।

प्रसाद ने इतिहास को व्यक्तिगत आग्रहों से मुक्त करके देखा था, लेकिन इस काल के अन्य नाटककार ऐसा नहीं कर सके। आदर्शवादी विचारधारा से छूटना उनके लिए कठिन हो

गया है। विकास-काल के नाटकों की भाँति देश-भक्ति की दुहाई बार-बार दी गई है। 'वीर कुमार छत्रसाल' में भँवरमल सोनी ने इतिहास से उदाहरण देकर स्वराज्य के लिए खून बहाने का आदर्श सामने रखा है। घनीराम प्रेम के 'पन्ना' नाटक की मूल-भावना देश-भक्ति की ही है। नाटककार ने प्रारंभ में ही निर्दिष्ट कर दिया है कि पुस्तक चूँकि नाटक है, इतिहास नहीं, इसलिए इसमें मूल घटना में यथेष्ट परिवर्तन कर दिया गया है। इतिहास को प्रयुक्त करने का इनका दृष्टिकोण यही रहा है कि उसमें चाहे जितना परिवर्तन किया जा सकता है। श्यामाकान्त पाठक ने भी 'बुन्देल केसरी' में यही स्वच्छन्दता अपनाई है। बड़ी दृढ़ता से उन्होंने उद्घोषित किया है—'स्मरण रहे कि यह नाटक है और नाटक में जहाँ तक इतिहास का औचित्य है वहीं तक उसे निबाहने का प्रयास किया गया है।' लेकिन नाटक में इतिहास का क्या औचित्य है, इसकी जानकारी स्वयं नाटककार को नहीं है। मातृभूमि की जय-जय मनाने में वह इसे विस्मृत कर गया है कि ऐतिहासिक घटनाओं को वहीं परिवर्तित किया जाना चाहिए जहाँ नाटकीय कलात्मकता में किसी तरह की बाधा पहुँचती हो। प्रायः सामान्य ग्रंथों को ही कथा-वस्तु का आधार बना लिया गया है। इस नाटक के लिए सामग्री चयन करने में 'लाल' कवि के मुद्रित 'क्षत्रप्रकाश' और हस्तलिखित 'क्षत्रप्रकाश' एवं 'बुन्देल केसरी क्षत्रसाल' नामक ग्रंथों से सहायता ली गई है, जो स्वयं बहुत प्रामाणिक नहीं हैं। लगभग यही प्रवृत्ति बद्रीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', विश्वम्भर सहाय व्याकुल के 'बुद्धदेव,' चन्दराज भंडारी के 'सिद्धार्थ कुमार' और 'अशोक' में मिलती है। भावना के स्तर पर ही हम अतीत के जीवन और व्यक्तियों को ग्रहण करते हैं। अनैतिहासिक या इतिहास-विरुद्ध कल्पना ऐतिहासिक नाटक में प्रस्तुत जीवन को अवास्तविक बनाकर इस सम्बन्ध-स्थापना में बाधा पहुँचाती है। इन नाटककारों ने इतिहास को जिस दृष्टिकोण से ग्रहण किया है वह चरित्रों एवं घटनाओं में आंतरिक सामंजस्य नहीं स्थापित करा पाता। ऐतिहासिक चिन्तन-पद्धति को मान्यता देने वाले वाल्तेयर ने इतिहास को मानव कार्य-कलाप की समग्र अभिव्यंजनाओं के वृत्तान्त के रूप में देखा है। इसमें जीवन के समस्त पक्षों का सामंजस्य निहित है, इसलिए इसका लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं की तालिका मात्र प्रस्तुत कर देना ही नहीं होता, बल्कि जन-जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति भी होता है। लेकिन वाल्तेयर ने स्वयं तथ्यों को तो स्पष्ट किया ही नहीं है, इतिहास को भी दृष्टान्त मात्र बना दिया है।[1] उक्त नाटककारों और वाल्तेयर के दृष्टिकोण में कुछ अंशों तक साम्य है। इतिहास को दृष्टांतपरक बना कर रखने के फेर में न तो नाटकीय शिल्प में नवीनता आ पाई है, न तथ्यों से उसका सामंजस्य बैठ सका है।

जीवनीपरक ऐतिहासिक नाटकों की एक अलग परंपरा इस समय तक रही है। इनमें नाटककारों ने मानवतावादी चरित्रों के उदाहरण द्वारा वर्तमान को अर्थ देने की कोशिश की है। तुलसीदास, मीरा, शंकराचार्य आदि अनेक संत चरित्रों को लेकर जिन नाटकों की रचना की गई है, उनमें धार्मिकता और नैतिकता का आरोपण इतनी विशदता से हुआ है कि ये अमानवीय स्तर तक पहुँच जाते हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि भक्ति के आवेग में ऐतिहासिक

---

१. इतिहास दर्शन : डॉ० बुद्धप्रकाश, पृ० १३४।

छानबीन को व्यर्थ मान लिया गया है। 'मीरा नाम की प्रेम-प्रतिमा जब सामने आती है तो उसकी विमल भक्ति के तेज पुंज की चकाचौंध से तदितिहास विषयक शंका-समाधान किसको सूझता है।'[१] ऐतिहासिक कथावस्तु के प्रयोग में यह सर्वथा दोषपूर्ण सिद्ध होता है। यदि अतीत के महान व्यक्तित्व उन संघर्षों में, जिन्हें हम झेल रहे है, शक्ति प्रदान करें तब तो उनकी उपयोगिता हो सकती है अन्यथा केवल धार्मिक और भक्तिपूर्ण प्रस्तुतीकरण का कोई महत्व नहीं होता।

ऐतिह्य के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखने वाला नाटककार किसी समस्या के प्रस्तुतीकरण में इतिहास के साथ समसामयिकता को भी महत्व देता है। जब नाटक में समसामयिक यथार्थ का चित्रण किया जा रहा हो उस समय किसी घटना के परिवर्तन में मनोवैज्ञानिक कारणों की योजना करनी पड़ती है, जिससे पाठक या दर्शक को संतुष्ट किया जा सके। इतिहास की निरर्थक विकृति कभी श्लाध्य नहीं होती। इस सम्बन्ध में एक प्रकार का भ्रामक दृष्टिकोण पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का रहा है। 'महात्मा ईसा' नाटक की रचना में उनका कहना है, 'मेरे हृदय में एक आग सुलग रही थी, उसे ही मैंने इस रूप में फूंक दिया। उस अग्नि की ज्वाला में जब इतिहास जल गया तब मै मुस्करा पड़ा।' अपने हृदय की अग्नि की ज्वाला में इतिहास को विकास-काल के नाटककारों ने भी जला दिया था, लेकिन उनके सामने इतिहास का स्पष्ट स्वरूप न था, इसकी कोई स्पष्ट परिभाषा ही उनके समय तक न बनी थी, इसीलिए किन्हीं अंशों तक उनका मूल्यांकन संभव है। उग्र का दृष्टिकोण इतिहास को सायास तोड़-मरोड़ कर जासूसी तत्वों से युक्त कर देने का है। ऐतिहासिक नाटक में कथाओ का क्रम और घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध न हो तो भी कथावस्तु और चरित्र का संकेत तो इतिहास में मिलना ही चाहिए, जैसा कि सीताराम चतुर्वेदी के 'अनारकली' नाटक मे है। 'इष्ट भाव-सौंदर्य के लिए पोषक सामग्री—पात्र, घटना आदि का संयोजन कर उसके द्वारा उस भाव को सुन्दरतम बनाने का प्रयत्न किया गया है।'[२] उग्र में तो यह संकल्प भी नहीं है।

'संन्यासी' नाटक की भूमिका मे पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कहा था कि इतिहास के गडे मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं है। यह समझते हुए भी उन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। जिज्ञासा उठती है कि किन विवशताओं ने उन्हें यह अवांछनीय काम करने के लिए बाध्य किया। वस्तुतः प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको मे भारतीय संस्कृति और जातीय-दर्शन की हानि से भावी पीढ़ी के पथ-भ्रष्ट हो जाने का भय था, उसी से बचाने के लिए इन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है।[३] मिश्र जी ने अपने नाटकों—'अशोक', 'वत्सराज' और 'दशाश्वमेध'—में जिस प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण को ग्रहण किया है, वह व्यक्तिगत धारणाओं पर आधारित होने के साथ नैतिक आदर्शों से भी समन्वित है। यद्यपि वाह्नीक से लेकर सुदूर दक्षिणापथ तक के प्रस्तरखंडों पर अंकित पुण्यगाथाओ

---

१. मीरा (भूमिका) : मुरारीशरण मांगलिक।

२. अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी।

३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ३१६।

वाले महान अशोक के मानसिक परिवर्तन को इन्होंने 'अशोक' नाटक में दिखाया है, फिर भी विशेष बल खास आदर्शों पर ही दिया गया है। प्रसाद द्वारा चित्रित उदयन के विलासी और कामुक चरित्र से सहमत न होने के कारण उन्होंने 'वत्सराज' की रचना कर उसे पुर्नप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इस प्रकार उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण दो रूपों में व्यक्त हुआ है। एक ओर, किन्हीं विशिष्ट आदर्शों के स्थापन में वे इतिहास के तथ्यों तक को परिवर्तित कर देना अनुचित नहीं समझते, दूसरी ओर, अन्य लेखकों द्वारा चित्रित इतिहास के गलत पक्ष को सही रूप में लाने के लिए वे प्रयत्नशील रहे हैं। मिश्र जी ने प्रसाद पर यह आरोप लगाया है कि उनके नाटकों में भोग से भागने वाली कायरता और प्रेम को आदर्श बनाया गया है। लेकिन स्वयं मिश्र जी ने कर्म-योग को जीवन-दर्शन के अनिवार्य तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास में इतिहास की व्याख्या अपने अनुसार की है, जो किसी को मान्य नहीं हो सकती। जो बात उनकी बुद्धि को ठीक लगती है, भले ही वह वास्तविकता से दूर हो, उसे आरोपित करना चाहते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने जिस तरह व्यक्तिगत आग्रहों को प्रमुखता दी है, उससे ऐसा लगता है कि इतिहास को वे व्यक्ति तक ही सीमित मानते हैं। इतिहास में बुद्धि-वादी चिन्तन के प्रवर्तक ह्यूम और गिब्बन का जो दृष्टिकोण था, मिश्र जी उसे ही प्रश्रय देते हैं। गिब्बन ने बुद्धि के साम्राज्य की परिव्याप्ति को उच्चतम मानते हुए यह सिद्ध किया कि धार्मिक अन्धविश्वासों ने मानव को सर्वदा स्खलित ही किया है। धर्म की आस्था के अतिरेक से वह विकास की ओर नहीं, विनाश की ओर गया है। मिश्र जी ने भी अपने नाटकों में धर्म को हीनतर माना है, बौद्ध धर्म की हीनता को संकेतित करते हुए उससे ऊपर कर्म को महत्व दिया है। 'वत्सराज' नाटक में उदयन प्रजा के धार्मिक विश्वासों के दुष्परिणाम को जानता है और गौतम धर्म को कायरों का धर्म कहता है। अपनी इस विचारधारा के स्पष्टीकरण में लक्ष्मी-नारायण मिश्र को भले ही सफलता मिली हो, ऐतिहासिक कथावस्तु की प्रामाणिकता को उन्होंने अपने सभी नाटकों में नष्ट ही किया है। 'वितस्ता की लहरें' में उन्होंने यह तो उल्लेख किया है कि यवनों द्वारा दिये गये ऐतिहासिक विवरण संदेहास्पद हैं, लेकिन उसका स्पष्टीकरण नहीं किया है।

उत्कर्ष काल में आकर ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास किस रूप में प्रयुक्त हुआ है, नाटककारों ने उसे किन अंशों तक सुरक्षित रखा है, इसका स्थूल विवेचन कर लेने के बाद अब प्रमुख नाटककारों के ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को अलग से विवेचित करने का प्रयास किया जायेगा। वस्तुतः इस काल में विकास और उत्थान काल की भाँति अप्रामाणिक स्रोतों से सामग्री न लेकर पर्याप्त छानबीन की गई है और उसके नियोजन में सतर्कता बरती गई है। 'कुलीनता' की भूमिका में सेठ गोविन्ददास ने कलचुरियों के इतिहास पर सम्यक् प्रकाश डाला है तथा नाटक लिखने में जिन इतिहास-ग्रंथों से सहायता ली गई है उनकी विस्तृत सूची भी दी है। 'अशोक' नाटक में उन्होंने अशोक सम्बन्धी कई शिलालेखों का उल्लेख किया है। चतुरसेन शास्त्री ने 'अमरसिंह', 'राजसिंह' आदि में प्रामाणिक इतिहास से कथावस्तु ग्रहण की है। उदयशंकर भट्ट के 'शक-विजय' में शकों के भारत आगमन, राज्य प्रतिष्ठापन एवं विक्रमा-दित्य द्वारा उन्हें परास्त कर संवत् चलाये जाने आदि का उल्लेख ज्ञात ऐतिहासिक प्रमाणों पर

है। अश्क ने जय पराजय में रणमल के सम्बन्ध में निर्धारित विभिन्न मतों का परीक्षण कर उसमें से ठीक लगने वाले मत को ग्रहण किया है। इसी प्रकार 'हंस-मयूर' में वृन्दावन-लाल वर्मा ने कथावस्तु की प्रामाणिकता की पर्याप्त छानबीन की है। नाटकों में प्रमुख घटनाओं एवं संदर्भों का परीक्षण करने की प्रवृत्ति इस काल के अधिकांश नाटककारो मे रही है। हाँ, कुछ इसके अपवाद भी रहें हैं। विराज ने 'विक्रमादित्य' की भूमिका मे लिखा है, 'इतिहास पर मेहनत करने से बेहूदा और कोई काम नहीं। इतिहास, जो किसी खुदाई में दो नये सिक्कों के मिल जाने पर अपने सारे मंतव्य बदल देता हो, उस इतिहास से बढ़कर व्यर्थ और कुछ नहीं हो सकता।' नाटककार यदि सामान्य धारणा से, जो उपयुक्त प्रतीत होती है, भिन्न धारणा प्रस्तुत करता है तो उसकी स्थापनाओं में इतना दम होना चाहिए कि विशिष्ट संदर्भों में हमें विश्वस्त बना सके। यदि यह मान लिया जाय कि ऐतिहासिक निर्णयों में परिवर्तन की काफी गुंजाइश रहती है तो भी ऐतिहासिक नाटककार ऐसे सत्यों की सृष्टि करने की क्षमता रखता हो जो किसी विशिष्ट देश-काल से जुड़े न रहकर भी ऐतिहासिकता का बोध दे सकें। इस क्षमता के अभाव में केवल सिद्धान्त कथन का कोई महत्व नहीं होता। श्री विराज नियम बनाने वाले नाटककार हैं, उस पर चलकर दिखाने वाले नहीं।

विकास काल में प्राय: लोकगीतों के आधार पर ही नाटकीय कथावस्तु का निर्माण कर लिया गया था, लेकिन अब लोकगीतों, लोक-कथाओं और किवदन्तियों को अप्रामाणिक मानकर उनसे यथासंभव बचा गया है। इस सम्बन्ध में वृन्दावनलाल वर्मा का वक्तव्य द्रष्टव्य है—'बीरबल और अकबर के लतीफे सैकड़ों की संख्या में प्रचलित हैं। ये सब जनता के इच्छा-संकल्पों के परिणाम हैं। संभव है, किसी में बीरबल की किसी सच्ची घटना का भी अंश हो, परन्तु प्रमाणिक न होने के कारण मैंने उनमें से किसी का उपयोग नही किया है।'[1] यदि किसी नाटककार ने इनका उपयोग किया भी है तो इस बात का ध्यान रखकर कि इससे नाटक के ऐतिह्य को तनिक भी क्षति न पहुँचे। जगदीशचन्द्र माथुर ने कोणार्क के मंदिर से सम्बद्ध किंवदन्तियों को ग्रहण करते हुए भी उसे अनैतिहासिक होने से बचाया है। उन्होंने स्वयं कहा है कि, 'मंदिर क्यों टूटा, इस सम्बन्ध में उड़ीसा में एक किंवदन्ती प्रचलित है, जिसे अंशतः ही मैंने अपने नाटक का आधार बनाया है।'[2] यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कहीं-कही अल्प ज्ञात इतिहास या ऐतिहासिक आभास मात्र रखकर नाटकों की रचना की गई है। वृन्दावन-लाल वर्मा के 'पूर्व की ओर' का इतिहास अल्प-ज्ञात है। 'रेवा' में इतिहास का पुट देकर काल्पनिक निर्माण किया गया है। रामवृक्ष बेनीपुरी का 'तथगत,' ब्रजकिशोर नारायण का 'वर्धमान महावीर,' मोहनलाल महतो वियोगी का 'अफजल वध,' वैकुण्ठनाथ दुग्गल का 'समुद्रगुप्त' ऐसे नाटक हैं जिनमें इतिहास के स्थान पर कल्पना का बाहुल्य है। बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपना ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि, 'नाटक आखिर नाटक

---

१. बीरबल : वृन्दावनलाल वर्मा (भूमिका)।
२. कोणार्क : जगदीशचन्द्र माथुर (भूमिका)।

ही है, इतिहास नहीं। सत्य के सम्बन्ध में दोनों का दृष्टिकोण ही अलग-अलग है। इसलिए नाटक लिखते समय नाटकीय सत्य की रक्षा के लिए इतिहास की सामग्री में कुछ फेर-फार कर देना अनुचित नहीं कहा जा सकता।'[1] इनका यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण तभी मान्य हो सकता है जब नाटक की स्वाभाविकता नष्ट न हो।

सेठ गोविन्ददास ने 'हर्ष' नाटक में अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़कर उसे एक नयी कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (इंटरप्रटेशन) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है। यही दृष्टिकोण इनके सभी ऐतिहासिक नाटकों में दुहराया गया है। इतिहास के स्वरूप को न बदलते हुए इन्होंने उसकी व्याख्या अपने ढंग से की है। 'हर्ष' में ही घटनाओं में परिवर्तन न कर, नाटकीय सौन्दर्य के लिए उन्हें आगे-पीछे रख दिया गया है, परन्तु यथाशक्ति इससे भी बचने की चेष्टा की गई है। इस बात का निरंतर ध्यान रखा गया है कि हर्ष के चरित्र को जिस रूप में इतिहासकारों ने रखा है, नाटकीय अंकन उससे विपरीत न हो। ब्राह्मण-बौद्ध धर्मों के विरोध को दिखाते हुए वर्तमान संदर्भ में उसकी व्याख्या की गई है। धार्मिक असहिष्णुता उन्नति में बाधक और विनाशकारी रही है। आज भी इस तरह का विरोध अधोगामी ही होता है, यह दृष्टांत देकर उन्होंने स्पष्ट किया है। इसी प्रकार 'कुलीनता' में कलचुरियों के पतन और गौड़ वंश के उत्थान में वर्तमान समाज-व्यवस्था और अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति का निराकरण किया गया है। तथ्यों और घटनाओं को नाटक में इस प्रकार रखा जाय कि उनसे वर्तमान को गति मिल सके, सेठ गोविन्ददास की यही चेष्टा रही है।

इतिहास मानव के अपने क्रिया-कलापों से निर्मित होता है। यह असम्बद्ध प्रक्रिया नहीं है, बल्कि उन घटनाओं एवं परिणामों का समवाय है जो एक काल या दूसरे काल में मानव-जीवन से सम्बद्ध रहे हैं। विकास-प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर जिस तरह के कार्य-व्यवहार, संघर्ष उसके रहे हैं, वे कभी उन्हें आगे बढ़ाने में सहायक हुए हैं, कभी विनाश की ओर ले गये हैं। इतिहास मानव की प्रगति और अवनति का साक्षी है। इसमें ऐसे दृष्टांत मिल सकते हैं जिनकी उपयोगिता आज के संदर्भ में भी हो सकती है। सेठ गोविन्ददास की भाँति इतिहास के प्रति नैतिकतावादी दृष्टि हरिकृष्ण प्रेमी की भी रही है। यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइडीज ने इतिहास को 'लोकोपयोगी शिक्षा का साधन' माना था। प्रेमी का ऐतिहासिक-चिन्तन इसी स्तर पर व्यक्त हुआ है। 'शपथ' की भूमिका में उन्होंने कहा है कि हमें अपने देश के इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए। इतिहास के अध्ययन का अर्थ तिथियों, घटनाओं और नामों को याद कर लेना भर नहीं है। 'इतिहास तो बताता है कि हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं। किस तरफ जाने में पतन है, किधर जाने में उत्थान। कहाँ मरण है 'कहाँ जीवन।' जिन दुर्बलताओं और दुर्गुणों के कारण अतीत के इतिहास में मानव पतनोन्मुख हुआ है, उसके विकास की गति रुकी है, उनको समझ कर हमें दूर करना चाहिए।

---

१. कान्ति : बलदेवप्रसाद मिश्र (भूमिका)

इतिहास हमें वह आधारभूमि देता है, जिसके सहारे जीवन को संतुलित और उन्नत बनाया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और पारस्परिक द्वेष ऐसी दुर्बलताएँ रही हैं जिन्होंने सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न की हैं, जिनके कारण मानवता बार-बार पददलित हुई है। भारत का इतिहास इसका साक्षी है। यदि आज देश को स्वतंत्र रखना है, सामाजिक विषमता को दूर कर उदार मनावतावादी दृष्टि को प्रश्रय देना है, तो उन दुर्बलताओं को हमें निकाल बाहर करना होगा।

प्रेमी जी के प्रायः सभी ऐतिहासिक नाटकों में मानवतावाद की स्थापना है। उन्होने इतिहास को इस रूप में प्रस्तुत किया है जिससे एकता और सौहार्द की भावनाएँ विकसित हो। 'आन का मान' नाटक में उन्होंने राजनीतिक दाव-पेंच की अपेक्षा मानवता को महत्व दिया है। दुर्गादास मानवता को प्राथमिकता देता है, जातीयता को नहीं। जो आदर्श वह स्वीकार करता है उसके लिए अपनी प्रतिष्ठा तक की चिन्ता नहीं करता। 'रक्षाबंधन' में हुमायूं मानवतावाद का उद्घोषक है। कर्मवती की राखी के धागे में बँधकर वह हिन्दू-मुस्लिम का भेद भूल जाता है। 'प्रतिशोध', 'विषपान', 'प्रकाशस्तंभ', 'स्वप्नभंग' में भारतीय इतिहास से ऐसे कथानको को लिया गया है, जिनसे राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की प्रेरणा मिलती है। इतिहास की आदर्शवादी चिन्तन-पद्धति के समर्थक क्रोचे ने समूचे इतिहास को समसामयिक इतिहास मानते हुए यह स्वीकार किया है कि वर्तमान को अतीत से अलग कर नहीं देखा जा सकता। अतीत का उचित मूल्यांकन वर्तमान से सम्बद्ध होने पर ही किया जा सकता है। कालिगवुड भी इसका समर्थन करता है और हरिकृष्ण प्रेमी का दृष्टकोण भी यही रहा है। वे यह मानते हैं कि प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलताओं का दर्पण है। हम अपने देश के अतीत का आकलन वर्तमान में करते हुए इसे नियंत्रित कर सकते हैं तथा व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की विसंगतियों को हटाकर नव-निर्माण की ओर अग्रसर हो सकते हैं। जहाँ तक इतिहास को सुरक्षित रखने का प्रश्न है, नाटक में ग्रहीत इतिहास को विकृत करने वाले नाटककार की वे भर्त्सना करते हैं। 'प्रतिशोध' में उन्होंने कहा है, 'यह मैं मानता हूँ कि ऐतिहासिक नाटकों और उपन्यासों में भी लेखक कल्पना से कुछ तोड़-मरोड़ कर सकता है किन्तु स्थान, काल, नाम और घटनाओं पर इतनी जबरदस्ती तो अक्षम्य है।'[१] ऐतिहासिक नाटक में प्रयुक्त इतिहास की इस सीमा को विभिन्न आलोचकों ने भी स्वीकार किया है।

इतिहास को वर्तमान संदर्भ में व्याख्यायित करने की चेष्टा वृन्दावनलाल वर्मा की भी रही है। वर्तमान से सम्पृक्ति अतीत की अनिवार्य स्थिति है। इनकी मान्यता है कि किसी देश का इतिहास भूत और वर्तमान से सम्बद्ध होता है, लेकिन भूत को भी वर्तमान संदर्भ में देखा जाना चाहिए। भूत में ग्राह्य और अग्राह्य दोनों ही हैं। इसके ग्राह्य को लेना और अग्राह्य को छोड़ देना वर्तमान के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भविष्य के लिए वर्तमान की सुगमता और सुघड़ता का प्राचीन गौरव-गाथा द्वारा वे वर्तमान को विस्मृत नहीं करते, न तो पाठक को पलायनवादी बनना चाहते हैं, बल्कि वे जीवन को जीने के लिए उत्तेजित करते हैं।

---

१. प्रतिशोध (भूमिका) : हरिकृष्ण प्रेमी।

'जब मैं शताब्दियों पहले के वातावरण में पाठक को उठा ले भागता हूँ तब वे वर्तमान का कोई दुराग्रह अपने साथ नहीं ले जा पाते। फिर वहीं उनके अचेतन मन में प्रवेश करके जो कुछ करना चाहता हूँ, कर डालता हूँ।'[1] वे क्या करना चाहते हैं यह छिपा नहीं है। हर ऐतिहासिक नाटक में आज की किसी-न-किसी समस्या का समाधान वे चाहते हैं। 'फूलों की बोली' मे ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर समाज को विशृंखलित करने वाली प्रवृत्तियो को हटाने पर जोर है। 'बीरबल' नाटक में अकबर के काल में जिन अनेक समस्याओ पर बीरबल ने विचार किया होगा वे आज भी सामने हैं, ऐसा मानकर उन सुझावों द्वारा जीवन की वैसी ही समस्याओं को सुलझाने की बात कही गई है। वर्मा जी ने तथ्यों की सर्जनात्मक रचना (Creative treatment of actuality) पर ध्यान दिया है और इसी कारण केवल तथ्य उपस्थित करने की ओर उनका प्रयास कहीं नहीं है। यद्यपि ऐतिहासिक नाटक में इन्हें यथाशक्ति सुरक्षित रखने पर वे विश्वास करते हैं। उन्होंने स्वयं इसे स्पष्ट किया है, 'मैं इतिहास के तत्वों को सुरक्षित रखने की सदा चेष्टा करता आया हूँ—चाहे वह नाटक हो चाहे उपन्यास। मै सदा सतर्क रहता हूँ कि इतिहास के तत्वों एवं तथ्यों का मनमाना उपयोग न करूँ। परम्पराएँ और किंवदंतियाँ इतिहास की प्रायः सही व्याख्या करती हैं। मैं इन दोनों के समन्वय और समीकरण का प्रयत्न करता हूँ।'[2] इतिहास का कितना अंश किंवदंतियों और लोक-कथाओ में सुरक्षित है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तो भी लोक-मानस में ये इतनी दृढता से प्रविष्ट हो चुकी रहती हैं कि उस विशिष्ट क्षेत्र और जातीय जीवन को लेकर रचना करने वाला इनकी उपेक्षा भी नहीं कर पाता। इतिहासकार के लिये ये भले ही उपादेय न हों, ऐतिहासिक रचनाकार के लिए अनिवार्य है। हाँ, इनका ग्रहण वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही कर सकता है। वर्मा जी ने इनके प्रयोग में सतर्कता रखी है। बीरवल के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदंतियों का उन्होंने 'बीरबल' नाटक में बहिष्कार कर दिया है, क्योंकि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। ऐतिहासिक रचना में तत्कालीन वातावरण की रचना भी वे अनिवार्य मानते हैं।

ऐतिहासिक स्थिति के निर्माण और समस्याओं के प्रस्तुतीकरण में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का दृष्टिकोण वृन्दावन लाल वर्मा से अलग है। वर्मा जी तीव्र ऐतिहासिक स्थितियों को वर्तमान से जोड़ना चाहते हैं और चन्द्रगुप्त जी इस सम्बन्ध-स्थापन में असमर्थ होकर सामाजिक चित्रण को ही प्रमुखता दे देते हैं। 'अशोक' के माध्यम से जिस आदर्श की प्रतिष्ठा वे कराना चाहते हैं वह मनोवैज्ञानिक स्तर पर ग्राह्य हो जाता है लेकिन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसे अस्वीकार भी किया जा सकता है। अभी तक जितने नाटककारों के ऐतिहासिक दृष्टिकोणों का विवेचन किया गया वे सभी अन्ततः साहित्यकार ही रहे हैं, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने नाटक के साथ इतिहासग्रंथ भी लिखा है, इसलिए एक इतिहासकार का ऐतिहासिक नाटक में क्या दृष्टिकोण

---

१. 'सरगम' ९ मार्च, १९६१ में व्यक्त दृष्टिकोण।
२. वर्मा जी का व्यक्तिगत पत्र, शशिभूषण सिंहल द्वारा उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा में उद्धृत।

है, यह महत्वपूर्ण विवेचन हो सकता था। लेकिन इस दृष्टि से इनमें कोई नवीनता नहीं परिलक्षित होती। अन्य नाटककारों से भिन्न कोई अलग दृष्टिकोण इनके ऐतिहासिक नाटको मे नही मिलता। 'अशोक' के आदर्शवाद की चर्चा ऊपर की गई है। दूसरे नाटक 'रेवा' मे भी कहा गया है कि इस एटम बम के युग में स्वतंत्र भारत विश्व भर को शांति-संदेश का मार्ग दिखा रहा है, चोल राजकुमारी इन्दिरा के प्रयत्न और ऋषि पुंडरीक के शांति-सदेश भारत के इसी प्राचीन उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा और सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक नाटकों में इससे भिन्न संकेत नहीं हैं। इतना ही नही, अन्य नाटककारों ने तो नाटकों में इतिहास-तत्व की रक्षा भी की है, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इतिहासकार होते हुए भी ऐसा नहीं कर सके हैं। 'रेवा' में एक-दो ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर नितान्त काल्पनिक कथानक की सृष्टि उन्होंने की है। 'अशोक' में 'भाई साहब' जैसे प्रयोग इतिहासकार के लिए चित्य हैं। हरिश्चन्द्र सेठ ने अवश्य अपने इतिहासकार के निष्कर्षों को 'पुरु और अलेक्जेंडर' में नाटकीय रूप दिया है।

उदयशंकर भट्ट ने 'मुक्तिपथ' की भूमिका में हीगेल और मार्क्स की चिन्तन-पद्धति की आलोचना करते हुए सत्य की उपलब्धि के लिए और जीवन को सही अर्थों में समझने के लिए अपनाये गये इनके दृष्टिकोण को भ्रामक और असमर्थ बताया है। सत्यासत्य का निर्णय करने वाली मार्क्सवादी दृष्टि इसलिए दोषपूर्ण है कि उसमें व्यक्तिवाद का ह्रास है। ऐतिहासिक चिन्तन-प्रक्रिया में निर्वैयक्तिकता का आग्रह सर्वथा वांछनीय हो भी नहीं सकता। मार्क्स ने हीगेल की स्थापना को स्वीकार करते हुए भावों के अस्तित्व को भौतिक जगत से अलग नही माना था। सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक क्रान्तियाँ मनुष्य के मस्तिष्क की उपज मात्र नही होतीं, न इनके द्वारा शाश्वत सत्यों के साक्षात्कार से उत्पन्न होती हैं वरन् उत्पादन तथा वितरण की प्रक्रिया के बदले से पैदा होती हैं। ज्ञान विशुद्ध चिन्तन न होकर मन और जगत की पारस्परिक क्रिया की उपज है।[1] भट्ट जी कम्यूनिज्म को उसी अंश तक ग्रहण करना चाहते हैं जहाँ तक व्यक्ति की शुद्ध आलोचना-पद्धति की हत्या न हो। वे क्रोचे और कालिगवुड की चिन्तन-पद्धतियों के अधिक निकट हैं क्योंकि इन विचारकों ने ज्ञान को बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित न मानकर अन्तश्चेतना की उपलब्धि बताया है और 'मुक्तिपथ' में भगवान बुद्ध को भी सत्य की उपलब्धि आणोमा के तट पर तप करते ऋषियों से नहीं, स्वयं के साक्षात्कार से होती है। वे स्वीकार करते हैं कि इस सत्य का बीज व्यक्ति के अन्दर ही छिपा है।

प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की भाँति भट्ट जी ने 'शक-विजय' में इतिहास के माध्यम से समसामयिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की है। जहाँ तक नाटक में इतिहास-प्रयोग का प्रश्न है, उनकी स्पष्ट धारणा है कि 'किसी इतिहास में फल के साधनों का, पूर्व रूपों का विस्तृत विवेचन नहीं होता। नाटककार को वस्तु का आधार लेकर कल्पना की कूँची से नाटक रूपी चित्र में उत्थान और पतन के रंग भरने पड़ते हैं। ऐसा ही मैंने भी किया है।'[2]

---

१. इतिहास-दर्शन : डॉ० बुद्धप्रकाश, पृ० २६८।

२. दाहर : उदयशंकर भट्ट (भूमिका)।

इतिहास को नैतिक और सौन्दर्यात्मक स्तर पर ग्रहण करने का प्रयास जगदीशचन्द्र माथुर ने किया है। वस्तुतः पूर्णतया वैज्ञानिक निर्णय इतिहास और ऐतिहासिक नाटक दोनों को मानवीय अन्तःसम्बन्धों के स्पर्श से दूर हटा ले जाता है। इसी कारण मार्क्स और हीगेल और कॉम्टे की ऐतिहासिक चिन्तन पद्धतियों को माथुर ने सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से लिया है। 'कोणार्क' में शोषक और शोषित वर्गों के संघर्ष को दिखाते हुए भी वे मानवीय संवेदना से एकदम अलग नहीं हुए हैं। यह संघर्ष एक प्रकार से अन्तः और बाह्य की दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष बन जाता है। यह किसी विशेष काल या विशेष व्यक्ति का नहीं है, चिरंतन और सामुदायिक संघर्ष है। प्रकारान्तर से यह मानव की ऊर्ध्वमुखी चेतना का संकेत है।

जगदीशचन्द्र माथुर ने रचनाकार की भावना की तुलना में ऐतिहासिक तथ्यों को कम महत्व दिया है। 'शारदीया' नाटक के संदर्भ में अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है, 'नाटक की प्रेरणा मुझे उस अज्ञात बन्दी की कल्पनातीत अनुभूतियों से ही मिली है जिसने ग्वालियर के किले की काल कोठरी में उस महान साड़ी के रूप में दिव्य सौन्दर्य का सृजन किया।....मैंने ग्वालियर किले का वह तहखाना देखा है। उस तहखाने में बन्द सौन्दर्य के निर्माता बन्दी की काल्पनिक मूर्ति के आगे मुझे ऐतिहासिक सत्य की खोज निरर्थक जान पड़ी।'[1] उनका यह दृष्टिकोण आत्यंतिक रूप से मान्य नहीं हो सकता। यह ठीक है कि नाटककार तथ्य की अपेक्षा भावना से अधिक सम्बद्ध रहता है, तो भी इस अतिरेक में वह इतिहास की चिन्ता ही न करे, भावना के आगे इतिहास-तत्व को उपेक्षित कर दे, यह कदाचित स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथ्यों को भी भावना के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है।

यहाँ ऐतिहासिक कथावस्तु को व्यवहृत करने एवं इतिहास की नाटकीय व्याख्या के सम्बन्ध में अपनाये गये विभिन्न दृष्टिकोणों का विवेचन किया गया। समग्रतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रायः नाटककारों ने इतिहास के आदर्शवादी दृष्टिकोण को ही ग्रहण किया है। वस्तुवादी चिन्तन-पद्धति को मान्यता कम मिल सकी है। ऐतिहासिक नाट्य-रचना के संदर्भ में इस पद्धति का रचनात्मक मूल्य नहीं रह गया है। नाटक में ग्रहीत ऐतिहासिक कथावस्तु की प्रामाणिकता एवं उसमें कल्पना के प्रयोग के सम्बन्ध में यद्यपि विभिन्न धारणाएँ रही हैं फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि विकास काल की अपेक्षा उत्कर्ष काल के नाटककारों ने इस सम्बन्ध में विशेष सतर्कता बरती है और कल्पना का प्रयोग करते हुए भी नाटक को अनैतिहासिक होने से बचाया है। नाटकीय कलात्मकता के विकास के साथ-साथ यह धारणा भी दृढ़ होती गई है कि ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास-तत्व को यथासंभव सुरक्षित रखा जाना चाहिए।

● ●

---

१ शारदीया नाटक की ऐतिहासिक माथुर।

एक

•

सेनारचित कबीर और रैदास-संवाद

•

संगमलाल पाण्डेय

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में संत रैदास का जितना व्यापक नवमूल्यांकन जनता ने किया है उतना विद्वत्-समाज ने नहीं किया है। एक ओर जनता, विशेषतः चमार लोग, प्रति वर्ष माघी पूर्णिमा को रैदास-जयन्ती ऐसे धूम-धाम से मनाते हैं, मानों संत रैदास नानक की भाँति किसी विशेष पंथ के प्रवर्तक हैं, संगीतज्ञ लोग संत रैदास के पदों का गान आये दिन करते रहते हैं। और अखिल भारतीय आकाशवाणी से प्रायः प्रतिदिन उनके किसी पद को सुनाया जाता है, तो दूसरी ओर संत रैदास के विषय में उतना अध्ययन-अध्यापन तथा शोध-कार्य नहीं हो रहा है जितना कबीर, नानक, दादू, आदि संतों के विषय में हो रहा है। यही नहीं, विद्वत्समाज में एक भ्रम भी फैला है कि संत रैदास एक साधारण भक्त मात्र हैं और उनका नव-मूल्यांकन केवल उनकी जाति के लोगों का श्रद्धा-प्रदर्शन है। कहना नहीं होगा कि संत रैदास का महत्व विद्वत्समाज में उतना नहीं आँका जाता है, जितना हरिजन समाज में और संगीतज्ञो के समाज में।

धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से भी संत रैदास को एक नगण्य संत समझा जाता है।

श्री वियोगी हरि ने संत-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए कहा है—"सगुण पक्ष में भक्त कवियों में जैसे तुलसी और सूर हैं, वैसे ही निर्गुण पक्ष के संत कवियों में कबीर और दादू है" संत सुधासार पृष्ठ ४२७। उन्होंने भी संत रैदास की उपेक्षा की है और उनको संत दादू से भी कम महत्व दिया है।

इन पंक्तियों के लेखक ने संत रैदास नामक एक पुस्तक हिन्दी में और संत रैदास के दर्शन पर एक पुस्तक अँग्रेजी में प्रकाशित की है। इस अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता

है कि निर्गुणपथ के तुलसी-सूर कबीर और रैदास हैं। सत रैदास कबीर की बराबरी करते हैं और सत दादू कबीर को अपना गुरु मानते हैं। कहीं भी कोई ऐसा ग्रन्थ देखने को नहीं मिलता है जिसमें कबीर और दादू का तुलनात्मक अध्ययन हो। इसके विपरीत दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें कबीर और रैदास का तुलनात्मक अध्ययन है। एक ग्रन्थ रैदास-रामायण है जो प्रकाशित है और दूसरा ग्रन्थ कबीर अरु रैदास संवाद है जो अप्रकाशित है। इन दोनों ग्रन्थो में कबीर और रैदास की श्रेष्ठता या वरीयता का विचार किया गया है। पहले ग्रन्थ में दिखाया गया है कि संत रैदास संत कबीर से श्रेष्ठ हैं और दूसरे ग्रन्थ में दिखाया गया है कि संत कबीर संत रैदास से या तो श्रेष्ठ हैं और या तो बराबर हैं। इन ग्रन्थों की ऐतिहासिकता पर चाहे जो सन्देह किये जायँ, किन्तु इतना निर्विवाद है कि कबीर और रैदास के समय से ही यह विवाद चल रहा है कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है। हो सकता है, यह विवाद केवल हरिजनों में ही हो, जहाँ कबीर-पंथी और रैदासपंथी दोनों हैं। किन्तु इससे भी स्पष्ट है कि दोनों के ज्ञान, भक्ति, मत तथा प्रभाव का तुलनात्मक मूल्यांकन बहुत दिनों से रहा है। इस मूल्यांकन की उपेक्षा करना हिन्दी की अपनी विचार-धारा के विपरीत है।

जो भी व्यक्ति इस तुलनात्मक मूल्यांकन से परिचित होगा वह निःसन्देह इस विचार पर पहुँचेगा कि या तो संत रैदास, संत कबीर के बराबर हैं या तो फिर वे ही निर्गुण पक्ष के कवियों में उनके बाद आते हैं और संत रैदास की बराबरी कबीर को छोड़कर कोई दूसरा संत नहीं कर सकता है।

इस तुलनात्मक मूल्यांकन का एक प्रमुख ग्रन्थ कबीर अरु रैदास संवाद है, जिसे यहाँ विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस संवाद का रचयिता सेना या सैन है। यह संवाद सर्वगुटिका में संग्रहीत है। इस गुटिका का संग्रह साधु विस्नदास ने सं० १८४२ पौष शुक्ल पक्ष पंचमी मंगलवार को समाप्त किया था। यह एक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में डॉ० रामकुमार वर्मा के पास सुरक्षित है। उन्हीं की कृपा से यह संवाद यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस संवाद का घटित होना असंभव है क्योंकि कबीर और रैदास के कालों में काफी अन्तर है, दोनों समकालीन नहीं हैं। किन्तु तुलनात्मक मूल्यांकन तथा दार्शनिक और धार्मिक विवेचन के लिए दोनों के संवाद का बहुत बड़ा मूल्य है। संवाद के असली पात्र भले ही कबीर और रैदास न रहे हों, किन्तु कवि सेना के मत में इन दोनों की विचारधाराओं का वाद-विवाद अवश्य हुआ होगा। बहुत संभव है, ऐसा संवाद कबीर पंथियो और रैदास पंथियों में चलता रहा हो जिसको या जिसके आधार पर सेना ने इस संवाद को लिखा।

इस संवाद में स्पष्ट कहा गया है कि रैदास ने सच्ची भक्ति की थी। देवगण भी इसका साक्ष्य देते हैं। अन्त में रैदास संत कबीर को अपना गुरु मानते हैं किन्तु कबीर उन्हें अपने बराबर दर्जा देते हैं और उन्हें गुरुभाई कहते हैं। स्पष्ट है कि यह एक कबीर पंथी ग्रन्थ है। इसकी जोड़ का रैदास पंथी ग्रन्थ रैदास रामायण है जिसमें शास्त्रार्थ में संत कबीर संत रैदास से हार जाते हैं और अपने को संत रैदास का शिष्य मान लेते हैं। यदि पंथों की साम्प्र

यिकता को छोड़ दिया जाय तो इन ग्रन्थों से इतना स्पष्ट हो जायगा कि संत रैदास का स्थान संत कबीर के बराबर है।

इस दृष्टि से संत रैदास का अध्ययन होना चाहिए और उनको विद्वत्समाज में उसी रूप से प्रतिष्ठित करना चाहिए जिस रूप में वे हरिजन समाज तथा संगीतज्ञ समाज में प्रतिष्ठित हैं।

हिन्दू धर्म के लिए भी संत रैदास का महत्व आज पहले से भी अधिक है। पहले जब हरिजन लोग कबीरपंथ को अपना रहे थे तब हिन्दू धर्म के सनातनी हरिजनों ने कबीर के समकक्ष संत रैदास को रखकर एक वृहत् हरिजन समाज को कबीर पंथ में जाने से रोक लिया। आज डॉ० भीमराव अम्बेडकर के प्रभाव के कारण बहुत से हरिजन सनातन हिन्दू धर्म को छोड़कर महायान बौद्ध धर्म अपना रहे हैं। वृहत् हरिजन समाज को उधर जाने से रोकने के लिए उनके समक्ष संत रैदास का आदर्श और व्यवहार रखना आधुनिक काल में हिन्दू समाज के लिए बहुत आवश्यक है।। आज संत रैदास की प्रतिस्पर्धा संत कबीर से उतनी नहीं है जितनी डॉ० अम्बेडकर से है। व्यापक हरिजन समाज का संत रैदास की ओर आकृष्ट होना और हिन्दू धर्म का संरक्षण करना वर्तमान हिन्दूधर्म की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है। अतः संत रैदास का महत्व आज सभी संतों से अधिक मालूम पड़ता है।

अथ श्री कबीर अरु रैदास संवाद लिष्यते

नहीं नहीं हो माधौ हित मोरा।
मैं कैसे दरसन पाऊं तोरा ॥१॥

कबीर कहै जी ॥

रोकही ब्रह्म रोक मलमुत्र।
रोक लोही रोक गूदा।
पूरण ब्रह्म सकल घटव्यापक।
ऊं षवां भण ऊँण सूदा ॥२॥

रैदास कहै जी ॥

ऊ मत तणां दल बादल फूटा।
सुमति तणां प्रकासा।
हिरदै ग्यांन ध्यांन धरि देषौ।
संति भाषै रैदासा ॥३॥

कबीर कहै जी ॥

ब्रह्म ग्यांन बिन ब्रह्म ध्यांन बिन।
हिरदा सुधि न होई।
पूरण ब्रह्म सकल घटव्यापक।
और न दुतीया कोई ॥४॥

रैदास कहै जी ॥

तुमरो कहीरो क कहौ स्वामी।

दुजी प्रकृति कहाँ जाई ।
दूजी प्रकृत मैं रूप धखा है ।
राधां रोह बताई ॥५॥

कबीर कहै जी ॥

जेता फूल र तेती बासनां ।
जेता पवन र पांणी ।
जे या उतपत्ति प्रलै होती ।
तौ प्रकृत कहा समांणी ॥६॥

रैदास कहै जी ॥

प्रकृत समांनी प्रमपुरब मैं ।
सो बनराबन मैं आया ।
गोपन कै संगि ग्वालन कै संगि ।
चिटकी दे दे गाया ॥७॥

कवीर कहै जी ॥

नां वै नांचै ना वै गांवैं ।
नां वै बेणि बजावैं ।
पुरुष न नारि नाथ नाराइण ।
वै अवतार न आवैं ॥८॥

रैदास कहै जी ॥

जे लीला औतार न होती ।
तौ दीन कहां नियराते ।
१..............................
अंध धंध की पवरि न होती ॥९॥

कबीर कहै जी ॥

कहां नरक है जमपुर काहां ।
को आया को जाया ।
हंस बटाऊ कीया पयांना ।
चलत न काहू पेषा ॥

रैदास कहै जी ॥

बाठा देष्या कदम की छहीयां ।
कंवल नाल कर लईया ।
पीतांबर बैजंती माला ।
मोर मुकुट सिर दईयां ॥११॥

१—यह पंक्ति हस्तलिपि में बिलकुल कटी है ।

कबीर कहै जी

अष्ट कवल दल हिरदा भीतरि ।
जे यौ मन्न पतियावै ।
तृकुटी संगम हठ करि राषै ॥
तौ आवागवरण चुकावै ॥१२॥

रैदास कहै जी ॥

तुम आवागवरणं ह्वैंरण द्यौ स्वामी ।
गांवरण द्यौ गोपाला ।
वाकै रूप छलीष्ठ जबनिता ।
मोहरण नंद के लाला ॥१३॥

कबीर कहै जी ॥

कहां नंद अरु कहां के लाला ।
कहौ कहां ते आया ।
अलष पुरस अविनासी पूरण ।
कहौ क बिरलां पाया ॥१४॥

रैदास कहै जी ॥

चहूँ दिस नंद चहूँ दिस लाला ।
चहूँ दिस बेदां गाया ।
जहां जहां पाया प्रगट्या स्वामी ।
तहां तहां उवि ध्याया ॥१५॥

कबीर कहै जी ॥

नहीं तहां पाप पुनि भी नांही ।
नहीं तहां बेद र बांणी ।
कहै कबीर सुर्णौं रैदासा ।
जोति में जोति समांणी ॥१६॥

रैदास कहै जी ॥

कौंण पचि मरै गुडी कै धोवै ।
कौंण गहे पियाला ।
बड़ी लूट मैं रतन षजीनां ।
रामकृस्न औतारा ॥१७॥

कबीर कहै जी ॥

जाकूं तुम औतार कहत हौ ।
सो ही तौ कस झोखा ।
अविनासी का मरम न पाया ।
विगूगा नंदी मैं बोर्‌या ॥१८॥

रैदास कहै जी ॥

........से.... गुसाइं ?

जामैं रेप न रीका ।

सोहम देष्यां बनराबन मैं ।

नंद घरां नंद गोपा ॥१६॥

कबीर कहै जी ॥

कहां नंद अरु कहां जसोदा ।

कहो कहा का जाया ।

निराकार नृलेप निरंजन ।

नृगुण बेदां गाया ॥२०॥

रैदास कहै जी ॥

वै हैं करता वै हैं भरता ।

वै केवल वै क्रस्नां ।

निराकार आकार रोकही ।

सो रटि ल्यौ हो रसनां ॥२१॥

कबीर कहै जी ॥

काची कथा न रीकूं राहूँ ।

साची सिरपरि राषूं ।

निराकार कूं नंवणि हमारी ।

अघट अमीरस चाषूं ॥२२॥

रैदास कहै जी ॥

सुणो कबीर पीर मति देहो ।

वै बलि काज सवारण ।

केस केस हरिणांकुस हतीया ।

भगत प्रहलाद उधारण ॥२३॥

कबीर कहै जी ॥

देह धरै ताकौं नहीं चीजूं ।

अलष न औतरि आवै ।

सुनि मंडल मैं जोति किलिमिलै ।

सो म्हारै मन भावै ॥२४॥

रैदास कहै जी ॥

भगत हेत उन देह धरी है ।

ब्रह्म बिडंद कै काजा ।

---

१ शेष पंक्ति हस्तलिपि में कटी है ।

रावण कुलकुटुम्ब सब काट्यो ।
दीयौ बभीखण राजा ॥२५॥

कबीर कहै जी ॥

वैं मरै न मारै षिरै न षारै ।
वैं अविनासी ऐसा ।
पुरष न नारि नाथ नाराइण ।
नांऊ भानां बैसा ॥२६॥

रैदास कहै जी ॥

वैं मेरे न मारै षिरै न षारै ।
वानैं कौंण बिडद देयाजै ॥
पुरष न नारि नाथ नाराइण ।
कहौ किसी बिध पाजै ॥२७॥

कबीर कहै जी ॥

बिडद बहौत है अकथ कथन है ।
जिन षोज्या तिन पाया ।
घट घट में अघटि अबिनासी ।
अलख निरंजन राया ॥२८॥

रैदास कहै जी ॥

तुम भूला छौ ब्रह्म गियांनी ।
वाका मरम न पाया ।
अंजन छाड़ि निरंजन गाया ।
मिथ्या जन्म गमाया ॥२९॥

कबीर कहै जी ॥

गुर भूलै तौ सिष समझावै ।
सिष भूलै तौ गुर तारे ।
कहै कबीर सुणौं रैदासा ।
समझि भजौ निराकारै ॥३०॥

रैदास कहै जी ॥

मैं तौ निगम नेत होइ बूझ्या ।
सो तौ सबदां भाषै ।
वेद कतेब का कह्यौ न मांनैं ।
टेक आपणीं राषै ॥३१॥

कबीर कहै जी ॥

बेद कतेब षोजि सब देष्या ।
ऐ सब ऊली आसा ।

यौ ससार नरक सब बूडी ।
करि बेद बिसवासा ॥३२॥

रैदास कहै जी ।

घटत न बढ़त न घणां नहीं थोडा ।
वै निहचल वै थीरा ।
तरुन बृध बालपन वैं ही ।
वै याजी वै पीरा ॥३३॥

कबीर कहै जी ॥

घटत न बढ़त घणां नहीं थोडा ।
वै निहचल निहकामी ।
अण होता हू बाहरि नांही ।
ऐसा हमारा स्वामी ॥३४॥

रैदास कहै जी ॥

तुम साची कही सही सतबादी ।
सबलां सज्पाल गाई ।
सबल सिघा स्वानि बला नास्वा ।
सुनो कबीर गुरभाई ॥३५॥

कबीर कहै जी ॥

राग दोष दुष सुष तैं न्यारा ।
वै निरबरति भरम न भोगी ।
प्रवर तिनही पुरष परमानंद ।
वै जोति सरूपी जोगी ॥३६॥

रैदास कहै जी ॥

साध बेद भागोत बतावै ।
सुर नर बहुल सिधारा ।
भगत बिछल भगतां बसि हूवा ।
मति मेटौ औतारा ॥३७॥

कबीर कहै जी ॥

ब्रह्मा बिसन सेस अरु संकर ।
सुर नर जाकी सेवा ।
अनंत लोक का ग्वाल गुसाईं ।
अैसा हमारा देवा ॥३८॥

रैंदास कहै जी ॥

तेरी माइ तुरकणी बाप जुलाहा ।
पुत्र भया ब्रह्म ग्यांनी ।

बेद कतेब को कह्यो न मानैं
बात आपकी बानी ॥३९॥
कबीर कहै जी ॥
तेरी माइ चमारी बाप चमारा ।
कहा भगति तुम कीन्ही ।
रांम नांम का मन जांन्यां ।
माथै बेद तुम लीन्ही ॥४०॥
रैदास कहै जी ॥
हंस चढा ब्रह्मा जी आया ।
साषी बेद बुलाया ।
सति भगति रैदास करी है ।
कबीरै भेद न पाया ॥४१॥
कबीर कहै जी ॥
झूठा साषी झूठा ब्रह्मा ।
झूठा बेद पुरांना ।
जा जा ब्रह्म घरां आपनैं ।
तुम बी भेद न जांनां ॥४२॥
सिघ बांहनी बाद करत है ।
बोलत मधुरी बानी ।
सत्य भगति रैदास करी है ।
कबीरै भगति न जानी ॥४३॥
कबीर कहै जी ॥
तूं आठैं सातैं गला कटांवै ।
घरि घरि बांति डोलै ।
जा जा जगति की जननी ।
झूठी साखि क्यूं बोलै ॥४४॥
दुरमा कहै जी ॥
भोपति अनड मैं छत्र नवाया ।
भूंर कृष्न घरदासी ।
बृक्ष होइ बनां जाइ बैठा ।
दे गालि मास्वापासी ॥४५॥
कबीर कहै जी ॥
जो तुम पास्या नरक गिराया ।
जाकै माया माता ।
कनक कामणी दोऊ त्यागी ।

करि व ज्यौं ल जाता ॥४६॥

दुरगा कहै जी ॥

तीन लोक मैं बसि करि राष्या ।
हूं रस कमल की माई ।
सुर न बांद्या देव निष्यारी ।
भूंर किनूं नही षाई ॥४७॥

कबीर कहै जी ॥

तैं नुगुरा भाष्या भेद बिन भूंडू ।
हम उबरूया हरि लागी ।
तो सेयां जे गति मुक्ति है ।
तो पी पै क्यूं त्यागी ॥४८॥
नृष चतुरा सिव बाद करत है ।
बोलत इं भूत वाणी ।
सति भगति रैदास करी है ।
कबीरै भगति न जाणीं ॥४६॥

कबीर कहै जी ॥

तूं तौ भूत प्रेत कौ दाता ।
कदि तैं भगति कमाई ।
जा जा संकर घरां आपणीं ।
मिथ्या कांइ भरमाई ॥५०॥
चल्या सिव जहां गया जी ।
जहां गरड गोपाला ।
हम सौ भूत प्रेत करि घरच्या ।
जुलहा भेद अपारा ॥५१॥
तुम तौ सिभू बाद करत हौ ।
कहा चकवै षै भोला ।
डाल पांन कै पंछी बोलै ।
क्यूं मेटत हौ मूला ॥५२॥
चहूं दिसऊ भी दुरवा कोपै ।
महादेव घरा रिसानां ।
पलक मैं परलै करिरांलां ।
चहूं जुगा हम मांनां ॥५३॥

कबीर कहै जी ॥

कहा तुम सैं कहा तुम तारौ ।
को तो गयारवा घरिहै ।

तुम तो सिमू अजूनी बाद करता हो ।
हम तुम सू नहि डरिहै ।।५४।।

संकर कहै जी ।।

दस औतार हुवा मो आगैं ।
देह धरौं नहि छोड़ा ।
तुम लघु मनिष कुचल कबीरा ।
न करि हमारी होड़ा ।।५५।।

कबीर कहै जी ।।

दस अवतारां कारज कीया ।
देह धरि घर मदि ठाया ।
भसामागर आगैं तूं भागौ ।
तब हरि आंणि छुड़ाया ।।५६।।

संकर कहै जी ।।

तीन लोक समांनो मेरे ।
कहा सर भरउ हां कीनी ।
रांवन आइ पाइ जब लागौ ।
तब वाकूं लंका दीनी ।।५७।।

कबीर कहै जी ।।

तुमरै भरोसे रांवन बूड़ौ ।
करि करि सेवा तुम्हारी ।
कुल के सब कुटंब कटारी ।
भूंढ़ बुरी बिचारी ।।५८।।

संकर कहै जी ।।

हूं रअजूंनी रिध स्यधा को दाता ।
हूं र भगवंत भंडारी ।
तूं कुचल कमीन कबीरा ।
न करिहो होड़ हमारी ।।५६।।

कबीर कहै जी ।।

तुम परमोध्या तिरचा न कोई ।
सुणि हो संकर स्वामी ।
भगति मुकति सूं न्यारा रहि गया ।
हरि सूं हुई हरांमी ।।६४।।

रैदास कहै जी ।।

कौंण तेरै ग्यांन है कौंण ध्यान है ।
कौंण तेरै वेद र बाणी ।

कौं तेरै लड़ै कौण आगै भूकै ।
या मत कौंण सूं जाणी ॥६१॥

कबीर कहै जी ॥

मन ही ग्यांन है मन ही घ्यांन है ।
मौ मन र वेद र वांणी ।
यौ मन ले मन आगै भूकै ।
या मति मन सूं जांणी ॥६२॥

रैंदास कहै जी ॥

सो तुम गावौ सो हूँ गाऊँ ।
तेरा ग्यांन विचारूँ ।
कहै रैंदास कबीर गुर मेरा ।
भरम करम धोइ डारौं ॥६३॥

कबीर कहै जी ॥

भरम ही डारि दे करम ही डारि दे ।
डारि दे जीव की दुबघ्याई ।
आत्मरांम करौ विर्थांमां ।
हम तुम दोन्यूं गुरभाई ॥६४॥

रैंदास कहै जी ॥

मापरण मध्यह तत दिपलाय ।
भरम करम सब जाई ।
कहै रैंदास पीर गुर मेरा ।
या मति तुम सूं पाई ॥६५॥

कबीर कहै जी ॥

नृगुण ब्रह्म सकल कौ दाता ।
सो तुमरो चित लाई ।
को है लघु दीरघ को नांही ।
हम तुम दोन्यूं गुरभाई ॥६६॥
चल्या चल्या विस्न जी आया ।
जहाँ कबीर रैंदासा ।
उठौ कबीर सनमुष ह्वै देषौ ।
करौ कूंण की आसा ॥६७॥
कहै कबीर जी सुणौं विस्न जी ।
तुम हौ चतुर बिबेकी ।
हम तौ बुरा भला जन तेरा ।
या तन बसत क्या न देषी ॥६८॥

गरड चढे गोपाल कहैत है।
सति भगता म्हारै दोई।
सति कबीर धनि रैदासा।
गावैं सेना सोई ॥६६॥
इति श्री सैन जी बृचित कबीर अरु रैदास संबाद संपूरण।

दो

कविवर सूरत मिश्र की अप्राप्त रचनायें

अगर चंद नाहटा

१८ वीं शताब्दी के हिन्दी के कवि एवं आचार्य सूरत मिश्र ने संवत् १७६६ से लेकर संवत् १८०० तक में गद्य और पद्य में अनेकों रचनायें लिखीं। जिनके संबंध में कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं। खोज रिपोर्टों में उनकी प्राप्त रचनाओं का विवरण प्रकाशित हुआ है। मिश्रबंधु-विनोद में उनकी १८ रचनाओं के नाम दिये गये हैं। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें सन् १६०० से १६५५ तक की खोज-रिपोर्टों मे उल्लिखित १२ रचनाओं का विवरण दिया गया है। (१) अमरचन्द्रिका (२) अलंकार माला (३) कवि प्रिया सटीक (४) काव्य सिद्धान्त (५) छन्द सार (६) नखशिख (७ प्रबोध चन्द्रोदय नाटक (८) वैताल पच्चीसी (६) भक्त विनोद (१०) रस ग्राहक चन्द्रिका (११) रसरत्न (१२) श्रृंगार सार। मिश्रबंधु-विनोद में इनके अतिरिक्त रस सरस, भक्ति विनोद, रामचरित्र, कृष्ण चरित्र, रसिक प्रिया का तिलक, सरस रस, रस रत्नमाला और रस रत्नाकर माला का उल्लेख किया गया है। पर वास्तव में रसिक प्रिया की टीका जोरावर प्रकाश और रस सरस और सरस रस, और रस रत्नमाला और रस रत्नाकर माला एक-एक रचना के दो-दो नाम लिख दिये गये हैं। रसिक प्रिया का तिलक सम्भवतः जोरावर प्रकाश नामक रसिक प्रिया टीका ही हो जो बीकानेर के महाराजा जोरावर सिंह के लिए संवत् १८०० में बनाई गई है। रस रत्नमाला और रस रत्नाकर माला का वास्तविक नाम रसरत्न ही है। इस मूल ग्रन्थ की रचना संवत् १७६८ में हुई। जिसकी टीका स्वयं कवि ने मेड़ता के सुल्तानमल के लिए संवत् १८०० में रची। अमरचंद्रिका, बिहारी सतसई की टीका का नाम है। जिसे ओसवाल अमरसिंह के लिये सूरत मिश्र ने संवत् १७९४ मे बनाई। रस ग्राहक चन्द्रिका रसिक प्रिया की कवि के रचित पहली टीका है। जो जहानाबाद के नस-

रूल्ला खाँ के लिये सं० १७९१ में रची गयी। सरस रस, जिसका दूसरा नाम रस सरस भी मिश्रबंधु ने लिखा है, खोज रिपोर्ट के अनुसार संवत् १७९४ में शिवदास (राय) ने बनायी है। हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण द्वितीय खण्ड पृष्ठ ५२२ में सरस रस की टिप्पणी में लिखा गया है कि खोज विवरण में यह ग्रन्थ भूल से सूरत मिश्र कृत मान लिया गया है।

'मधुमती' के सितम्बर ६८ के अंक में डॉ० रामगोपाल शर्मा दिनेश का एक लेख 'सूरति मिश्र का अज्ञात साहित्य' शीर्षक प्रकाशित हुआ है। उसमें सूरति मिश्र के भक्ति विनोद, रस रत्न, नखशिख, अमर चंद्रिका, जोरावर प्रकाश, काव्य सिद्धान्त, रस ग्राहक चंद्रिका और छन्द सार इन आठ रचनाओं का विवरण दिया गया है। डॉ० दिनेश ने इनके लिये अज्ञात विशेषण कैसे लगाया? वास्तव में तो ये ज्ञात ही नहीं, काफी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। प्रायः सभी लेखकों ने इनका उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि 'पूर्ववर्ती रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० मोतीलाल मेनारिया आदि लेखकों ने जो परिचय प्रस्तुत किया है वह खोज विवरणों पर ही आधारित है।' पर इससे उन ग्रन्थों को अज्ञात तो नहीं कहा जाना चाहिये। लेख के अन्त में उन्होंने सूरति मिश्र के अलंकार माला, शृंगार सार, कवि प्रिया टीका, रामचरित्र और कृष्ण चरित्र, का नामोल्लेख किया है, जिनकी प्रतियाँ डॉ० दिनेश को प्राप्त नहीं हो सकीं। सूरत मिश्र की रचनाओं के संबंध में मैंने अब से २० वर्ष पूर्व अपने 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, द्वितीय भाग के पृष्ठ १६२-६३ में आवश्यक प्रकाश डाला था। उसके बाद संवत् २००६ में 'कविवर सूरत मिश्र' नामक स्वतन्त्र लेख भी मैंने ब्रज भारती, वर्ष १०, अंक ३ में प्रकाशित किया था। इस लेख का रिप्रिन्ट सूरत मिश्र की रचनाओं की नकल के साथ डॉ० दिनेश को मैंने भेज दिया था। सूरत मिश्र के वास्तविक और अज्ञात और अप्राप्त ग्रन्थ तो हैं—श्रीनाथ विलास, भक्त माला, कामधेनु कवित्त, जिनका उल्लेख कवि ने स्वयं शृंगार सार नामक ग्रन्थ में किया है, जिसकी रचना सं० १७८५ के आसाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को की गयी। इस शृंगार सार में इससे पहले के रचित ग्रन्थों का कवि ने महत्वपूर्ण उल्लेख किया है। इससे वे सभी ग्रन्थ सं० १७८५ के पहले रचे गये सिद्ध होते हैं। सन् १९३२-३४ की खोज रिपोर्ट में शृंगार सार का विवरण छपा है। उसके अनुसार इसकी एकमात्र प्रति रामचन्द्र सैनी, बेलनगंज, आगरा के पास है। ग्रन्थ का परिमाण ३९४ श्लोकों का है। शृंगार सार में पूर्ववर्ती जिन रचनाओं का उल्लेख है उनके संबंधित पद्य नीचे दिये जा रहे हैं। वास्तव में इसमें उल्लिखित जो रचनायें अभी तक कहीं नहीं मिलीं, उन्हीं की खोज तत्परता से की जानी चाहिये।

प्रथम कियो सत कवित मे, इक श्रीनाथ विलास।
इक ही तुक पर तीन सौ, प्रास नवीन प्रकास॥
बसे गोवर्द्धन धरन, लीला वागि विचित्र।
भक्त विनोद सुदीनता, प्रभु सो सिचा चित्र॥
देव तीर्थ अरु पर्व के, समै समै सु कवित्त।
बहुरि भक्त माला कही, भक्तिन के जस नाम।

श्रीवल्लभ आचार्य के सेवक ग गुनधाम।
कामधेनु इक कवित्त में, कहत सत बरन छन्द।
केवल प्रभु से नाम तहं, धरे करन आनंद।।
इक नखशिख माधुर्य है, परम मधुरता लीन।
सुनत पढ़त जिहि होत है, पावन परम प्रवीन।।
छन्दसार इक ग्रथ है, छन्द रीति सब आहि।
उदाहरन में प्रभु जसै, यौं पवित्र विधि ताहि।।
कीनों कवि सिद्धान्त इक, कठिन रीति को देखि।
अलंकार माला विषै, अलंकार सब लेखि।।
इक रसरत्न कीन्हो बहुरि, चौदह कवित प्रमान।
ग्यारह से बावन विहां, नाइकानि को ज्ञान।।
इह इक सार सिगार तहं, उदाहरण रस रीति।
खारि (बारि!) ग्रन्थ ये लोकहित, रचे धारि हिय प्रीत।।

उपरोक्त पद्यों में भक्त भक्ति विनोद का उल्लेख है। प्रास विनोद की रचना डॉ० दिनेश ने संवत् १७८५ की भादवा बदि अष्टमी की बतलाई है। और शृंगार सार के इसी संवत् की असाढ़ सुदि पूनम की रचना हो गई थी। अतः भक्ति-विनोद उसके सवा महिने बाद की रचना है। इसलिए भक्ति-काल विनोद उससे भिन्न होनी चाहिये। इसी तरह शृंगार सार मे कवि-सिद्धान्त का उल्लेख है और सूरत मिश्र के प्राप्त ग्रन्थ का नाम काव्य सिद्धान्त है। जिसका रचना डॉ० दिनेश ने सं० १७६६ बतलाया है। अतः वह शृंगार सार के १४ वर्ष बाद की रचना होने से उसमें उल्लिखित नहीं हो सकती। अतः कवि सिद्धान्त ग्रन्थ भी काव्य सिद्धान्त से भिन्न और पूर्ववर्ती सिद्ध होता है जिसकी प्रति कहीं अभी तक ज्ञात नही हुई है। बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में ऊपर लिखित सब रचनाओं के अतिरिक्त रासलीला, अपर नाम दान लीला की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं। इस रचना का भी किसी ने उल्लेख तक नहीं किया है अतः उसका परिचय और मूल रचना आगे दी जा रही है।

रासलीला की तीन प्रतियाँ अनूप संस्कृत लायब्रेरी में हैं। इसके अन्त में इसका नाम दानलीला भी लिखा मिलता है और प्रारम्भिक पद्य में ब्रजलीला का उल्लेख किया गया है। वास्तव में कवि ने भादवा सुदि ६ से १० तक ५ दिन ब्रज के तीर्थों या लीला स्थलो की यात्रा की थी, उसका अनुभूत वर्णन इस रचना में किया गया है। कवि ने कहा है कि भादवा सुदि ६ के दिन शान्तन कुंड में स्नान करके सन्तों के साथ सब जाओ चले। करहलां पहुँचे। वहाँ पिछली रात्रि में इक मंडल पर रास का विलास देखा। प्रातः उठकर एक अन्य स्थल पर आये, वहाँ जुगल किशोर को झूलते हुये देखा। फिर कृष्ण कुड के पास आये और विवाह लीला देखी। तदनन्तर लखी कुंड में स्नान करके ७ को बरसाना पहुँचे। श्रीवृषभान के दर्शन किये। वहाँ पिछली रात्रि को ढाढ़ी लीला देखी, गोपवंश का वर्णन सुना। प्रात उस गाँव में बहुत-से बाजे लाडली के जन्म के उपलक्ष में बजे। वहाँ सूरत कवि ने

कवित्त पढ़ा। फिर लाडली की लीला देखकर मन्दिर से बाहर निकले, वहाँ गायन-नृत्य हो रहा था, जुगल छवि सामने थी। वह दृश्य ऐसा मनोहर था कि मन में देखते-देखते तृप्ति नही होती थी। भादवा सुदि अष्टमी को इसका सुखानुभव करके बनौखर में नहाये। वहाँ संध्या के समय दानगढ़ रास हुआ, जिसे देखकर कवि और सबने अपना जीवन सफल माना।

नवमी के प्रातःकाल गढ़ रास और नृत्य देखकर वन में पहुँचे। वहाँ से उतरकर रास मंडल में आये। गह्वर वन में प्रभु ने परम सुखदाई रास किया। फिर वहाँ से जाउवट को रास के लिये चले। मार्ग में नन्दग्राम में बाबा नन्द, जसोदा, बलदेव, हरि को देखा। उनके सन्मुख कवि सूरत ने जन्म और बधाई के कवित्त पढ़े। कवित्त पढ़कर प्रणाम करके जाववट धाम को चले। वहाँ पिछली रात्रि में रास देखा। फिर सूववाट के निकट से होकर के प्रातः कोकिलावट पहुँचे। भादवा सुदि १० को यह सब दुपहर तक देखकर बाबा नन्द के निवास पर आये और प्रसाद प्राप्त हुआ। दोनों को हिंडोला झूलते हुये देखा। मान मंदिर, सज्या मन्दिर व रास देखा। फिर संकेतवट जाकर संकेतवट को प्रणाम किया। वहाँ से वापस बरसाना आये। रात्रि के समय मानगढ़ रास हुआ।

प्रातः सांकड़ी खौर पर लीला हुई। एक ओर ब्रज लाडली और दूसरी ओर ब्रज भूप थे। वहाँ दानलीला हुई। इसीलिये इस रचना का नाम कवि ने या प्रति लेखक ने दानलीला भी रखा है।

कवि ने स्वयं ब्रज की यात्रा कर रासलीला देखी। उसका बड़ा सुन्दर वर्णन इस रचना में हुआ है। अभी तक इस रचना का हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थों एवं खोज रिपोर्टों में कही उल्लेख तक नहीं हुआ। अतः मूल रचना भी आगे दे दी जाती है।

अथ रासलीला लिख्यते

दोहा

वृजरानी वृजराज के, चरण कमल सिर नाइ।
वृज लीला कछु कहत हौं, लखी दृगनि जेहि भाइ ॥१॥
भादव सुदि छठ के दिनां, सांतन कुंड अन्हाइ।
संत न संग सब जातरी, बसत करह लौं जाइ ॥२॥
तहां पाछली निसि लख्यौ, इक मंडल पर रास।
दंपति छवि संपति निरखि, को कहि सकै बिलास ॥३॥

कवित्त

लाडिली के सीस पर चंद्रिका विराजै अस, लाल कै रसाल मोर मुकट विलास है।
नील पट पीत पट भूषन जटित मय चापैं, वारि डारौं कोटि भानु कौ प्रकासु है।

रत सुकवि नृत्य भेद गान तान लत वजत मदग ताल धुनि को हु
ख को निवास जहां परम सुवास बड भागनि की रास हीत देख्यौ आ

इति षष्टी विलास

प्रात होत उठि और थल, इक मंडल पर आइ।
झूलत जुगल किसोर जू, सो छवि कही न जाइ ॥५॥
ता पाछै मंडल सु इक, कृष्ण कुंड के पास।
लीला रची विवाह की, आइ तहां शविलास ॥६॥
यह लखि कुंड अन्हाइ कै, सातें तिथि सुभ जानि।
पहुँचे बरसाने सबै, सुख सरसानै आनि ॥७॥
दरसन श्रीवृषभान के, लहे परम अभिराम।
श्री कीरति राजति जहां, सुत समेत जिहिं धाम ॥८॥
तहँ ढाढी-लीला लखी, रैंन पाछिलो माहि।
गोप वंस वर्णन सुन्यौं, यह सुख कितहू नाहि ॥९॥
जन पंकजि ढाढी लखै, गाढी प्रीति विशेषि।
सबकैं हिय बाढी भगति, ढाढी ढाढि निदेसि ॥१०॥

इति सप्तमी विलास

प्रात होत उहि गांज में, बाजे बजे अनंत।
भयौ लाडिली कौ जनम, कौतिग निरखत संत ॥११॥
जहां तहां निर्त्तत सबै, गावत गीत रसाल।
दधि हरदी भीजे फिरें, तरुन वृधि अरु बाल ॥१२॥
मंगल श्रीवृषभान घर, अद्भुत्त निरख्यौ मित्त।
सबकें परमानंद तहां, सूरत पढ़्यो कवित्त ॥१३॥

कवित्त

टी कुंवरि वृषभान जू के गेह तेज, कोटि वृषभान केसे देखे हरस
देह भवन में कवन जें न आए वृज, रहे न गवन विनु जेऊ अरस
त मनोरथ सफल याचिकीने अरु, दुह्यो 'वसु' देत फूल राख्यौ न
ख कर साने गोप ओप सरसाने आज, आनंद के मेघ बरसाने बरस

दोहा

बहुरि लाडली की लीला लखी 'अनूप।
मंदिर तें बाहिर निकसि, बैठे जुगल सरूप ॥१५॥

भाँति-भाँति गुन गान तह, नृत्य होत बहु भाई।
सन्मुख दरसन जुगल छवि, देखत मन न अघाई ॥१६॥
भादों सुदि तिथि अष्टमी, यह सुख लख्यौ अनूप।
तहाँ बनौखर न्हाइ कै, भए अनंद सरूप ॥१७॥
बहुरि तहाँ संध्या समै, भयौ दान गढ रास।
सफल जनम कीनौ सबनि, निरखत जुगल विलास ॥१८॥

अष्टमी विलास

प्रात होत नौमी तहा, भौविलास गढ़ रास।
मोर कुटी ऊँचे बहुरि, कीयौ नृत्य सविलास ॥१९॥
गहवर बन नीचे महा, लखत तहाँ तैं लोग।
यह सोभा लखि पाइयें, जुगल कृपा कै जोग ॥२० ॥
तरू तें फैकत मोदकनि, जुगल रूप इकबार।
परत आँन जन वृंद पर, कौतिग सुखद अपार ॥२१॥
फेर तहाँ तैं उतरि कै, रास मंडलहि आइ।
गहवर बन में रास प्रभु, कीयौ परम सुखदाइ ॥२२॥
फिरि वाही दिन जाउ बट, चले रास के हेत।
प्रथम लख्यौ मारग विषे, परम धाम संकेत ॥२३॥
नंद ग्राम पुनि दरसि कै, दरसे बाबा नंद।
श्री जसुदा बलदेव हरि, दरसत भयौ अनंद ॥२४॥
तिनके सन्मुख ह्वै तहाँ, अति हरषित ह्वै चित्त।
जनम बधाई के तहाँ, सूरत पढ़े कवित्त ॥२५॥

कवित्त

कै बधाई मन भाई, आई रिद्धि सुखदाई सबै सुख में पगत है
क अखिल लोक पालक है, जाके भए दीननि के दारिद भगत है।
ौ प्रमान हौं बखानौं कहा, गुनी लै के चले जेती संपति जगत है।
और भूपति कै ओखें ते, वे नंदजू के याचक पै जाचन लगत है।
कौ कौन परमानंद है, देखि परमानंद की परम सुहाई है।
कै घन दै लजायौ कहे, बन दै असीस जे तीगुनी पांति आई है।
वृष रासि कै उदय हित, बाढी वृष रासि लोक लोकनि में गाँई है।
ई गोकुल गनें न जांहो, गोकुल कहै हो आजु गोकुल बधाई है।

दोहा

पढ़ि कवित्त पर नाम करि, चले जाव वट धाम।
तहां रैनि पछिली लख्यौ, रास परम अभिराम ॥२८॥

कवित्त

जुगल किशोर चित चोरइत ओर दोऊ, निर्ततरी नट वेष छवि को प्रकासु है
बाजत मृदंग औ उपंग मुह चंग संग, रंग, सुभ ढंग जहाँ परम विलासु है
सूरत सु बानक अचानक बन्यौ है आलि, दान कन भाग देख्यौ मानक निवासु है
पाछै रहीं तिन्हैं हम लिये संग ऐहैं तुम, जाउवट याही आजु जाऊ वट रास है।

दोहा

तहाँ सुवा वट के निकट, लख्यौ प्रगट सुख रूप।
प्रात कोकिला वन लख्यौ, सूरत परम अनूप ॥३०॥

इति नवमी विलास

निपट सघन कुंज पुंज गुंज भौंरनि की, ठौर ठौर लता झूमि रही हैं हुलास में
सेत स्याम फूल डहडहे फूले चहू ओर, मानो बहु नैननिसों देखें वनयास में।
सूरत सु कवि स्यामु स्याम दोऊ राजै मध्य, नृत्य गति भेद होत परम विलास मे
ऊँचै सुर गावै वृज वालवै रिझावैं मानों कोकिला ए बोलैं कोकिला के वन थास में

दोहा

भादों सुदि दसमी तहाँ, लखि कै यह सुख रास।
दुपहर लो आए जहाँ, बाबा नंद निवास ॥३२॥
नंद गाम परसाद लहि, आए वन संकेत।
लखे हिंडोरा झूलते, दोऊ सखिनि समेत ॥३३॥
मान मंदिरहि लखि लख्यौ, सज्या मंदिर चारु।
बहुरि रास निरख्यौ तहाँ, सकल परम सुख सारु ॥३४॥
रास निरखि संकेत वट, कर प्रणाम सब लोग।
बरसाने आए बहुरि, लहे परम सुख जोग ॥३५॥
रैंनि समे अति चैन में, भयो मान गढ़ रास।
बहुरि तहां लीला भई, अद्‌भुत सहित विलास॥३६॥

इति दशमी विलास

दोहा

प्रांत सांकरी खोरपै, लीला भई अनूप।
एक ओर व्रज लाडिली, एक ओर व्रज भूप ॥३७॥
भई दान लीला तहाँ, वचन रचन बहु भाइ।
कृपा लाडिली लाल की, तो सुख निरखै आइ ॥३८॥

कवित्त

देहजू दान जो या मग जाति हौ, काहे कौ दान हमें न सुनावत।
जानत हैं ए सखी तुम ही कहौ, लेत हैंते नहो आपु बतावत॥
सूरत कौन हौ आपु कहौ हम, दानी सु नैंन सबै व्रज गावत।
रीति तिहारी सुनी उलटी यह, मांगत दान औ दानी कहावत ॥३९॥

श्री लाल जू के वचन—

भौंनते आछे ही सौं न चले हम, कौन के पास इतौ दधि पैहैं।
सूरत संग सखा जितन सब, गोर सही सौं बनाइ अवै हैं।
बात बनाइ बनाइ कहौ हम, हूँ बहु बातनि को समुझैहैं।
कोरि सयान विधान करौ परि, दान लियें बिनु जान न दैहैं ॥४०॥

श्री लाडिली जू के वचन—

आजू जाचत दान सुनें द्विज हे, तुम गोप कै वंस सबै जग गावत।
कै कोऊ दीन ही लेत तिहारें, तौनौ निधि नंद के गेह बतावत।
सूरत गोरस की कहियै कहा, दास औ दासी गलीनि बहावत।
ऐसे कहाइ कै मांगत हौ तुम, गोकुल सो कुल काहैं लजावत ॥४१॥

श्री लाल जू के वचन—सोरठा

तुम समुझी जो दान, सो न दान यह आन कछु।
कर लागत इहिथान, कर लागत इत छूटिहौ ॥४२॥

श्री लाडिली जू के वचन—

आगे कछू दान हम सुन्यों हूँ न कान तुम, जाचत सयान भरे नेक न सकात हौ।
कोऊ सुनियै है तब सब सुधि जैहै एक, ऊतरुन ऐ है भए ढीठ बतरात हौ।
सूरत सुकवि हम जानी मन मानी यह, भये नये छैल यातें अति इतरात हौ।
एहो नंदलाल छाडौ अटपटी चाल कहा, देख्यौ हूं जु माल जापैं मोगत जगात हौ ॥४३॥

श्री लाल जू के वचन—

जानत हैं हम जैसौ माल तुम राखति हौ, दुरी नहीं बात जग जानत विख्यात में।
हीरनि केयवा अरु कंचन कलस नए, विद्रुम श्री केसर सुरंग सरसात में।
गज श्री तुरंग संग सौं जसव दामनि की, सूरत सुकवि सो प्रगट दरसात में।
कहा कहौं बात में लही हो वडी घात में, सु माल है जू गात मे तो मांगत जगात मे ॥४

श्री लाडिली जू के वचन—

न ए हो जगाती नेक नए हौ न कहूँ, तुम, वीसह्यां कहैगी जो पै एक तुम कै हो जू
भूलो जिन घोखै एन अवला अवल होंहि, नेक मोंह तानें सब सुधि भूलि जै हो जू
सूरत सुकवि चतुराई की ए बातें घातें, कीजियै निसंक हम पै न कछु पै होजू
दान दीजै ओक काहे टोकि टोकि ठाढी कीजै, रोकि राखें कहा तुम रोक गिन लै होजू ॥

श्री लाल जू के वचन—

लैहैं वहै जु कछू जिय में तुम, मारग जो नित ही इत अैहो।
छूटि हौ क्यों हूँ दियें विनु नाजु पै, भामिनि कोटिक बात बनै हो।
सूरत और कहा कहियै इत, नीमन जानि रहैं सुख पैं हो।
जो तुम या ब्रज में वसिहौ, रसि हौ लसिहौ हँसि हौ अरु दैहो ॥४६॥

श्री लाडिली जू के वचन—

सीख कहा इनको लगि है, एतौ आपनी चाह सदा अनुरागे।
को वसुधा जसुधा कें नहीं, जिनकों लहि भिक्षुक हो तस भागे।
वस्तु पराई लगै मधुरी यह, टेव परी जु इही रस पागे।
बालक हे तव चोरी करीं जब, स्यानें भए तब मांगन लागे ॥४७॥

दोहा

बचन रचन सुख बलित कहि, चलति भई ब्रज बाल।
नेह कलित मधु वच ललित, बोले तब नंदलाल ॥४८॥

कवित्त

खरी होहु ग्वारिनि कहा जू हम खोटी देखी, सुनों नेंक बैन सो तौ और ठांव जाइयै
दीजै हमें दान सो तौ आजु न पख कछू, गोरस दै सो रस हमारें कहाँ पाइयै
महो यह दीजै सौ तौ महीपति दै है कोऊ दह्यौ जौपै दहे हौ तौ सीरौ कछू खाइयै
सूरत सुकवि अैसें सुनि हँसि रीझे लाल, दीनी उर माल सोभा कहाँ लगि गाइयै ॥४

दोहा

तब हँसि हँसि ग्वारिनि दियौ, ग्वारनि दधि बहु भाइ।
लीला जुगल किसोर की, कहत सुनत सुख दाइ ॥५०॥

इति श्री दानलीला मिश्र सूरत जी कृत संपूर्ण

संवत् १८३४ फागुन सुदी १२ बुधवार इसके बाद सूरत कवि के निम्न उपग्र हैं

अन्य कवित्त

चंद्रिका प्रिया कै भाल लाल कै मुकट राजै, गौर स्याम सोभा नील पीत पट धारें तें ।
प्यारी जू के उर मन मालनि के जाल वाल, लाल के रसाल बन माल रूप धारे तें ।
दंपति की मूरति की संपति विलौके फेरि, राखिहैं न कछु तन धन प्रान वारे तें ।
पूजै मन साधा जामें आनंद अगाधा ए री, जै है सब बाधा राधावल्लभ निहारे तें ।।१।।
टेढ़ी पाघ लाल पैंल वेंढ़ी मनि माल तापैं, कलँगी रसाल सोभा कोटि न लहति है ।
अरगजें बागें कैसे नीके अति लागै देखें, कौन अनुरागै लाज कैसे निबहति है ।
आजु मैं बिहारी जू की सूरति निहारी, बलिहारी, जिहि लखैं कौन धीरता गहति है ।
पाई एक झाँकी जामें सोभा चहुवाँ की एरी, देखें छवि बाँकी कछु बाँकी न रहति है ।।२।।
फेंटा सिर संत सोहें चंद्रिका समेत वारौं, कोटि मीन केत सोभा पुंज सरसात है ।
फूलनि की माल मोती माल तें रसाल सोहें, हाथ में कमल देखें हियो हुलसात हैं ।
सूरत सुकवि छरी देख छरी मेरी मति, घरी घरी औरे छवि रंग बरसात हैं ।
आज बृजनाथ जू की सोभा कहा कहों देखे, पहिरै पिछौरा मन बौरा भयो जात हैं ।

तीन

●

गुप्त-सम्वत् का संस्थापक

●

वेद प्रकाश गर्ग

भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में समय-समय पर अनेक संवत् प्रचलित हुए, जिन्हें या तो पृथक्-पृथक् राजाओं ने चलाया था अथवा किसी महान् पुरुष या विशिष्ट घटना की स्मृति में स्थापित किया गया था। इन संवतों के आधार पर भारत या भारत के किसी भाग विशेष का तिथि-क्रम युक्त शृंखलाबद्ध इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिली है। यद्यपि गुप्त-काल के इतिहास की घटनाएँ काल क्रमानुसार निबद्ध करने में विद्वानों को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, किन्तु फिर भी गुप्त-लेखों में 'गुप्त-काल' और गुप्त-वंश की राज-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलने से काल निर्णय में सरलता हो जाती है।

प्रायः समस्त गुप्त-लेखों में एक प्रकार की तिथि का उल्लेख मिलता है, जिससे अमुक राजा की शासन अवधि स्थिर की जाती है। सब तिथियों के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकट होता है कि तिथि का क्रम शनैः-शनैः एक शासक से उसके के लेख में बढ़ता जाता

है। यदि जथाकथित इन अंकों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि गुप्त-सम्राट किसी अमुक समय से काल-गणना करते थे।

कतिपय लेखों तथा मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी के वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि गुप्तों के नाम से किसी काल की गणना होती थी; जिसे 'गुप्त-काल' या 'गुप्त-संवत्' कहते हैं। अतः इससे प्रतीत होता है कि लेखों की समस्त तिथियाँ इसी गुप्त संवत् में दी गई हैं। गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में स्पष्टतया उल्लेख मिलता है कि इस प्रशस्ति की तिथि 'गुप्त-काल' (गुप्त-संवत्) में दी गई है—

संवत्सराणामधिके शतेतु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठ पदस्य षष्ठे गुप्त-प्रकाले गणनां विधाय॥

इसी प्रकार गुप्त नरेश कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुधगुप्त के लेखों में भी गुप्त-संवत् का नामोल्लेख मिलता है—

'वर्षे शते गुप्तानां स चतुः पंचाशदुत्तरे भूमिं।
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्॥'

गौड़ाधिपति शशांक के गंजाम-लेख में "गौप्ताब्दे वर्ष शतत्रये वर्त्तमाने" की तिथि का उल्लेख है।

ईसा की दसवीं शताब्दी के मोरवि ताम्रपत्र में भी तिथि का उल्लेख गुप्त-संवत् में पाया जाता है। उक्त ताम्र-पत्र में "गौप्ते" शब्द से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त लोगों की भी कोई काल-गणना अवश्य थी—

'पञ्चाशीत्या युतेतीते समानां शतपंचके।
गौप्ते ददावदो नृपः सोपरागेर्क मण्डले॥'

गुप्त-सम्राटों के सामंत परिव्राजक महाराजाओं के लेखों में तिथि का उल्लेख "गुप्त नृप राज्य भुक्तौ" के साथ मिलता है। अतः यह निश्चय रूप से ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् की अवश्य स्थापना हुई, जिसके द्वारा गुप्तों की काल-गणना प्रारम्भ हुई।

अब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि गुप्त-संवत् का प्रारम्भ कब से हुआ और उसका प्रतिष्ठापक कौन था? क्योंकि यह संवत् किस राजा ने चलाया, इस विषय में कोई लिखित प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।

विद्वानों ने परिश्रमपूर्वक गुप्त-संवत् की प्रारम्भिक तिथि का निर्धारण किया है। उनकी शोध का निष्कर्ष है कि शक-काल के २४१ वर्ष पश्चात् यानि ईसवी सन् ३१९-२० से गुप्त-संवत् का आरम्भ हुआ। यद्यपि कुछ विद्वान् इस स्थापना से सहमत नहीं हैं। वे गुप्त-संवत् की इस आरम्भिक तिथि को अशुद्ध मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वानों ने इस स्थापना को स्वीकार कर लिया है।

यदि समस्त संवतों के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो पता चलता है कि अमुक संवत् का आरम्भ किसी काल विशेष से होता था या उस वंश की किसी घटना के स्मारक म

संवत् चलाया गया। गुप्त-वंश में भी ऐसी ही घटना उपस्थित हुई, जिस कारण से वंश-नाम के साथ गुप्त-संवत् का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। गुप्त वंश के आदि दो नरेश-श्री गुप्त एवं घटोत्कच का नाम इतिहास में प्रसिद्ध नहीं है। वे साधारण सामन्त के रूप में शासन करते थे। गुप्तों के तीसरे राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बाहुबल से राज्य का विस्तार किया था तथा इसी ने सर्वप्रथम 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की थी। बहुत संभव है कि सिंहासनारूढ़ होने पर इसने यह पदवी धारण की हो तथा उसी के उपलक्ष में अपने वंश के नाम के साथ गुप्त-संवत् की स्थापना की। फ्लीट व एलन के मतानुसार गुप्त संवत् अन्य संवतों की भाँति राज्य वर्षों में गणना की परिपाटी से बराबर उसका प्रयोग होते रहने पर क्रम से प्रचलित हो गया, इससे अनुमान होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रचलित किये हुए राज्य-संवत् का प्रयोग उसके उत्तराधिकारी वंशधर करने लगे, जो आगे चलकर गुप्त-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। तात्पर्य यह है कि गुप्त-संवत् के संस्थापक के सम्बन्ध में विद्वानों का यही अनुमान है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ही अपने वंश में पहला प्रतापी शासक था और उसी के राज्यारोहण से गुप्त-संवत् चला।

किन्तु, गुप्त-काल के प्रारम्भिक लेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् के संस्थापक के उक्त अनुमान से संशोधन की आवश्यकता है।

श्री गुप्त, घटोत्कच तथा चन्द्रगुप्त प्रथम का कोई लेख अभी तक नहीं मिला है। गुप्त राजाओं में अभी तक सबसे पहले समुद्रगुप्त के समय के केवल चार लेख-नालन्दा, गया, एरण तथा प्रयाग इन चार स्थानों में मिले हैं। इनमें से केवल नालन्दा तथा गया की प्रशस्तियों में ही तिथि का उल्लेख मिलता है। नालन्दा-लेख की तिथि गुप्त-संवत् के पाँचवें वर्ष (सम्वत् ५ माघ-दि० २ निबद्धः।) की है और गया-लेख की तिथि नवें वर्ष की है। ये तिथियाँ ईसवी सन् के अनुसार क्रमशः ३२४ ई० और ३२८ ई० होती है। यद्यपि कुछ विद्वान् इन लेखों के तिथि-पाठ पर विश्वास नहीं करते हैं और डॉ० फ्लीट जैसे महानुभाव तो प्रशस्तियों को ही कल्पित (जाली) बतलाते हैं, किन्तु सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता राखालदास बैनर्जी जैसे विद्वान् इन प्रशस्तियों को जाली (कल्पित) नहीं मानते और इन तिथियों को सत्य मानते हैं। नालन्दा-लेख की तिथि पंचम वर्ष समुद्रगुप्त के शासन का प्रथम वर्ष नहीं है, अपितु उसके शासन-काल का पाँचवा वर्ष ही है, क्योंकि कलियुग राज वृत्तान्त में उल्लिखित है कि चन्द्रगुप्त प्रथम (जिसकी उपाधि विजयादित्य थी) ने सात वर्ष शासन किया था (विजयादित्य नाम्नातु सपपालयिता समा.)। इसलिए उक्त लेख का पाँचवां वर्ष इसके शासनान्तर्गत आ जाना चाहिए था। किन्तु नालन्दा की प्रशस्ति स्पष्ट रूप से समुद्रगुप्त की है। अतः नालन्दा-लेख का पंचम वर्ष समुद्रगुप्त के शासन-काल का पाँचवाँ वर्ष है। समुद्रगुप्त के शासन के प्रथम वर्ष से पूर्व चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन-काल था।

समुद्रगुप्त के काल-निर्णय में नालन्दा और गया की प्रशस्तियाँ तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की मथुरा की प्रशस्ति से बड़ी सहायता मिलती है। मथुरा का स्तम्भ-लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय की सर्वप्रथम प्रशस्ति है, तथा इसकी तिथि गुप्त-संवत् के ६१वें वर्ष की है। इसी आधार पर यह अनुमान किया गया है कि समुद्रगुप्त ईसा के ३८०वें वर्ष के पहले ही अपने राज्य

शासन की समाप्ति कर चुका होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय की मथुरा वाली प्रशस्ति में गुप्त-सवत् के ६१वें वर्ष की तिथि के अतिरिक्त उसके अपने चलाये संवत् अथवा राज्य-वर्ष का भी उल्लेख है—"श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राज्य संवत्सरे पंचमे (५) कालानुवर्त्तमान संवत्सरे एक षष्ठे।" इस प्रशस्ति के 'पंचमे' तथा 'एक षष्ठे' के उल्लेख से सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के संवत् अथवा राज्य का ५वाँ वर्ष गुप्त-संवत् के ६१वें वर्ष के सम है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त द्वितीय के संवत् अथवा राज्य का प्रथम वर्ष गुप्त-संवत् के ५७वें वर्ष के तुल्य हुआ। अत समुद्र गुप्त का शासन गुप्त-संवत् के ५६वें वर्ष से पहले ही समाप्त हो गया होगा, क्योंकि इन दोनों के मध्य रामगुप्त भी कुछ समय के लिए शासनाधिकारी के रूप में हमारे सामने आता है। तात्पर्य यह है कि समुद्रगुप्त की शासन अवधि ईसा के ३७५ वें वर्ष (३१९ + ५६) के पूर्व ही समाप्त हो गई होगी। जब यह (समुद्रगुप्त) ३२४ ई० में राज्य करता था तब ज्ञात होता है कि यह कुछ वर्ष पहले ही सिंहासनारूढ़ हुआ होगा। अतः समुद्रगुप्त का शासन काल ३१९ ई० से लेकर ३७० ई० के लगभग तक माना जा सकता है।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व महान् था। वह पराक्रमी योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ, प्रसिद्ध संगीतज्ञ और मर्मज्ञ सहृदय कविराज था। उसकी कीर्त्ति-पताका समस्त भारत पर फहराती थी। यदि गुप्तों के छोटे से राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप मे परिणत करने का किसी को श्रेय है तो वह समुद्र गुप्त की सशक्त भुजाओं को है। समुद्र गुप्त की हजारों कोसों तक इतनी विस्तृत दिग्विजय ही उसकी अद्भुत वीरता तथा अतुल पराक्रम का ज्वलन्त उदाहरण है। संसार के दिग्विजयी राजाओं की नामावली में इसका स्थान एक विशेष महत्त्व रखता है। चन्द्रगुप्त प्रथम के व्यक्तित्व की तुलना मे निश्चय ही समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व श्रेष्ठतम ठहरता है। संक्षेप में, समुद्रगुप्त ही अपने वंश मे सर्वाधिक प्रतापी शासक था। अत. ज्ञात होता है कि उसी के राज्यारोहण से गुप्त-संवत, चला, जिसकी पुष्टि नालंदा और गया के लेखो की तिथियों से पूर्ण रूपेण होती है।

निष्कर्षतः इन तिथियो के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि गुप्त-सवत् का संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम न होकर समुद्रगुप्त ही था, और उसी के सिंहासनारोहण से गुप्त-संवत् की काल-गणना आरम्भ हुई।

चार

●

लोकनाट्य गवरी : सांस्कृतिक विवेचन

●

महेन्द्र भानावत

गवरी राजस्थान के उदयपुर डूंगरपुर तथा बांसवाडा क्षेत्र में बसे भीलों का आदि

लोक नाट्य है। इसका कथानक शिव तथा भस्मासुर को केन्द्र बनाकर संघटित किया गया है। शिव तथा भस्मासुर का प्रतीक राई बुढ़िया, मोहिनी तथा पार्वती की प्रतिमूर्ति दोनों राइया कूटकड़िया तथा पाट भोपा-ये पांचों गवरी के प्रमुख पात्र होते हैं जो 'माजी' कहलाते हैं। दूसरे जितने भी अभिनेता होते हैं उन्हें 'खेल्ये' कहते हैं। गवरी में जो दृश्य अभिनीत किये जाते हैं वे खेल, भाव अथवा सांग के नाम से पुकारे जाते हैं। कूटकड़िया इस नाट्य का सूत्रधार होता है, जो प्रत्येक खेल के पूर्व उसकी संक्षिप्त कथा सुनाता है। इसे उस खेल का झामटड़ा सुनाना कहते हैं। इससे आगे आने वाले खेल तथा उसकी कथा की जानकारी दर्शकों को पहले से हो जाती है। ये झामटड़े गवरी के मूल भाग के छोटे-छोटे अंश होते हैं। रक्षाबंधन के बाद आनेवाली ठंडी राखी से प्रारंभ होकर लगातार सवा महीने तक अलग-अलग गाँवों में दिन को प्रातः ८ से सायं ६ तक इसके प्रदर्शन किये जाते हैं। संपूर्ण भारत में ऐसा नाट्य कहीं देखने को नहीं मिलेगा जिसमें गाँव के सारे भील मिलकर नाना खेल-स्वांग प्रदर्शित करते रहते हैं।

लोकजीवन से लोक-नाट्य का सम्बन्ध

लोकजीवन से लोकनाट्य का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। लोकजीवन के आदर्श, व्यवहार, रीतिरिवाज, धर्म, आचार विचार, रूढ़ियाँ, संस्कार आदि इन नाट्यों के मूल-स्रोत रहे हैं। लोक जीवन से इनका उद्भव और लोक जीवन से ही इनका विकास होता है। लोक भूमि पर फलते-फूलते तथा पल्लवित होते हुए ये नाट्य लोकानुरंजन के सबसे बड़े हिमायती बन जाते हैं। इनका दर्शक भी लोक जीवन और प्रदर्शक भी लोक जीवन ही होता है। लोक सिद्धि प्राप्त करने पर ही ये नाट्य अस्तित्व में आते हैं। इनकी विषय वस्तु लोकजीवन में व्याप्त वे प्रसंग होते हैं जो परम्परागत मान्य किसी विशिष्ट ढांचे में ढलकर रूढ़ रूप धारण कर लेते हैं। इनकी शैली लोक शैली, तंत्र लोक-तंत्र, भाषा लोक भाषा, संवाद प्रणाली, अभिनय कला, नृत्य प्रक्रिया , साजसज्जा, रंगमंच आदि सब लोक जीवन के अपने होते हैं। इन नाट्यों के माध्यम से लोक जीवन में व्याप्त समस्त कुंठा, आक्रोश, क्षोभ, दुख, दर्द एवं दुराचार स्वयं अपनी कहानी व्यक्त करते हैं। ढोंगी, पाखंडी, कुटिल तथा कुकर्मियों की इनमें खूब खबर ली जाती है। चोर, डाकू तथा लम्पटों को कड़ी से कड़ी सजा दी जाती है और सदाचार, सहृदयता, सहानुभूति, सहकारिता तथा सत्संग जैसे सद्गुणों की व्यापकता पर बल दिया जाता है। लोक का कठोर से कठोर यथार्थ भी इनमें आदर्श की ओर उन्मुख हुआ पाया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि लोक जीवन से लोकनाट्य का अन्योन्याश्रित संबंध रहा है।

गवरी लोक नाट्य में अभिव्यक्त लोकसंस्कृति

गवरी मुख्यतः भीली लोकनाट्य है अतः इसमें भीली संस्कृति की प्रधानता पाई जाती है। परन्तु भीलों से साथ-साथ सामान्य लोकजीवन के रहन-सहन, आचार-विचार, क्रिया-कर्म रूढ़ि-विश्वास, जीवन-दर्शन तथा उनके सांस्कृतिक जीवंत आदर्श भी यथेष्ट रूप में देखने को मिलते हैं।

(१) रहन-सहन

लोकजीवन का सामान्य रहन-सहन ही गवरी में चित्रित विशिष्ट रहन-सहन है।

गवरी का रंगमंच सामान्य जीवन की एक ऐसी चौराही है जहाँ बैठकर पंच-पटेल समस्त अग-जग की आपबीती-जगबीती बातें भी कह लेते हैं, बीड़ी तम्बाखू का कश खींचते हुए घर-गृहस्थी तथा अपने वर्ग-समाज का सर्वेक्षण भी कर लेते हैं और सुस्ताते-अंगड़ाई लेते हुए कभी-कभी ठलुआ जीवन भी जी लेते हैं। गवरी में एक दृश्य के समाप्त होने पर दूसरे दृश्य के आने के बीच जो लम्बा अन्तराल रहता है वह भी आस्थामूलक ही होता है, इसलिए दर्शक न तो ऊबते हैं और न उनमें किसी प्रकार की मूर्दानगी ही देखी जाती है। इसमें प्रयुक्त लम्बे-लम्बे संवादों में भी यही बात देखी जाती है। संवादियों के अलावा अन्य नचैये-बजैये भी अपने-अपने काम-कर्म में लगे रहते हैं। केवल सामूहिक नृत्य के समय सभी अपनी उपस्थिति दिये देखे जाते है। इन सभी अवस्थाओं में अभिनेता अपने रूढ़ रूपों में अपना रहन-सहन एवं आचार-विचार अभिव्यक्त करते हैं। इसमें प्रदर्शित सभी स्वाँग अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आदिमानव भील जंगलों में रहने के कारण वनपुत्र कहलाते हैं। ये बड़े बहादुर साहसी तथा परिश्रमी होते हैं। जंगली जानवरों का शिकार इन्हें विशेष प्रिय है। चोरी, डकैती तथा लूट-खसोट भी इनका मुख्य धंधा रहा है। ये अपने को महादेव के चोर कहते है। इसलिए निश्चिंत होकर डाका डालते हैं। चोरी करने जाते समय अपने आपको छिपाने के लिए ये अपना मुँह काला कर लेते हैं और उसे कपड़े से बाँध लेते हैं। इसके प्रमाण मे गवरी का 'गरड़ा' खेल उल्लेखनीय है। भीलों की तरह मीणे भी चौर्य-कर्म में बड़े माहिर होते हैं। तीर, कमान इनके जीवन के अभिन्न साथी होते हैं। चोरी करने जाने से पूर्व ये अपनी देवी से चोरी करने की आज्ञा प्राप्त करते हैं और चोरी पूर्ण कर उसकी मनौती करते हैं। 'गोमा' स्वाँग में मीणों की यह संस्कृति भली प्रकार विकसित हुई है। कालनेलिया अपने दैनिक जीवन में भी भगवा वस्त्र धारण करता है और झाड़-फूँक तथा तंत्र-मंत्र द्वारा जनजीवन का मनोरंजन करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि गवरी का रहन-सहन हमारे लोकजीवन का ही सामान्य रहन-सहन है।

(२) मनोरंजन की प्रवृत्तियाँ

मनोरंजन लोकनाट्यों की रीढ़ है। जिन लोकनाट्यों में जन-मन-रंजन के तत्त्व जितने अधिक होंगे, लोकजीवन की कसौटी पर वे उतने ही खरे उतरेंगे। कोई भी लोकनाट्य चाहे किसी भावना, आस्था अथवा धर्म से प्रेरित हो, उसके मूल में मनोरंजन की प्रवृत्तियों की प्रधानता ही देखने को मिलेगी। गवरी का प्रत्येक स्वाँग-स्वरूप मनोरंजन से भरपूर लोकमंगल के कल्याणकारी पक्ष को उद्घाटित करता है। प्रस्तुतीकरण की प्रत्येक लोकधर्मीकला अनवरत रस की बूँदें सरसाती हुई देखी जाती हैं। यदि इसमें यह सरसता नहीं होती तो सारा गाँव का गाँव इसे देखने के लिए क्यों उमड़ पड़ता ? गाँव ही क्यों, दूर-दूर से दल के दल प्रदर्शन के घंटों पूर्व गवरी-स्थल पर आकर क्यों अपने लिए आरामदायक स्थान नियत करने में अपने श्रम का अपव्यय करते और क्यों प्रतिदिन होनेवाले प्रदर्शन का अता-पता ही रखते ! इस सारी पृष्ठभूमि के पीछे लोकानुरंजन की जबर्दस्त पीठिका है जो सभी को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित करती है। ऐसा रंजन अन्य तमाशबीनों करिश्मों तथा जादूटोनों से प्राप्त नहीं

होता। उस रंजन में दर्शक-प्रदर्शक एकाकार नहीं होता एक दूसरे की आत्मा को विस्तार और विकास नहीं मिलता। मन की ग्रंथियाँ नहीं खुलतीं और न उसमें सामाजिक जीवन-चेतना की सच्ची तस्वीर ही देखने को मिलती है। अतः ऐसा मनोरंजन उत्तमकोटि का स्वस्थ मनोरंजन नहीं होता। गवरी में दर्शक-प्रदर्शक समानधर्मा भूमि पर प्रतिष्ठित हुए देखे जाते हैं। प्रदर्शक ही दर्शक और दर्शक ही प्रदर्शक जैसी भावभूमि अन्यत्र बहुत कम देखी जाती है।

मनोरंजन की प्रधानता के कारण लोकनाट्यों का कथानक भी बड़ा शिथिल हो जाता है। राजस्थानी ख्यालों में भी बीच-बीच में मनोविनोद के इतने अधिक प्रसंग लाये जाते हैं कि तीन-तीन चार-चार घंटे चलनेवाला खेल भी रात-रात भर तक चलता रहता है। जनता तन्मय होकर उनका श्रवण-दर्शन करती रहती है। गवरी का कुटकड़िया भी मनोरंजन का उत्तम माध्यम है। यह कुटकड़िया प्रत्येक पात्र से वार्ता-विमर्श कर पग-पग पर हास्य की वर्षा करता है। यह मध्यस्थ संवादी का भी काम करता है और अपनी चतुराई का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। खेल की मूल कथा को अपने हास्य व्यंग्यपूर्ण वार्ता-संवादों से द्रौपदी के चीर की तरह लम्बी बढ़ाता चलता है।

राई बूढ़िये की सारी पोशाक ही बड़ी विचित्र होती है। उसके मुँह पर लगा चेहरा जितना भयावना लगता है, उतना सौम्य भी। गम्मत में उसकी कलाबाजियाँ अच्छा हास्य बिखेरती हैं। खेतुड़ी का काला मुखौटा तथा फटा पुराना वस्त्रालोक देखते ही दर्शक हँसी से लोटपोट हुए बिना नहीं रहता। राक्षस पात्रों की रूप-सज्जा भी अपने ढंग की बेढब तथा निराली होती है। उनके सिर पर लगे सींग, ढीली-ढाली अस्तव्यस्त पोशाक और अनियंत्रित उछलकूद सबको चकित कर देती है। अपने पूरे शरीर को घास से ढककर जब खड़ल्याभूत आता है तो उसकी चीख-चिल्लाहट और लम्बे-लम्बे डगों को देख दर्शक समुदाय भयभीत हो जाता है। वह अपना प्रदर्शन भी भय पैदा करने के लिए ही देता है। कभी वह दर्शकों के बीच जाकर बैठ जाता है तो कभी बच्चों को समूह से उठा लाता है और अपने पूरे शरीर को कंपित कर रौद्र रूप धारण करता है। दर्शक इससे एक ओर जहाँ भय प्राप्त करते हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें आनन्द की प्राप्ति भी हो जाती है। यह भयमिश्रित आनंद प्राप्त कराना इन पात्रों की अपनी खूबी में ही निहित है।

कहने का तात्पर्य यह कि गवरी नाट्य का सारा संगठन-गुम्फन ही ऐसा है कि उसका कोई-सा पहलू लीजिये, हर पहलू में कहीं न कहीं 'सरस राग रति रंग' की पिचकारी अवश्य छूटती मिलेगी।

(३) समाज

गवरी में जहाँ अनेक वर्ग-संगठन अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा को प्रतिपादित करते हुए पाये जाते हैं वहाँ उनके सामाजिक सम्बन्धों का सुसंगठित, सुनियोजित तथा सुनियंत्रित होना स्वाभाविक है। गवरी का समाज सहकारी संगठित समाज है जहाँ समूह रूप में लोकसमाज पल्लवित होता है। यह समाज मात्र मानव समाज ही नहीं, देव, दानव तथा

पशु समाज भी इस लोकसमाज में सहकार पाता है। ये समाज अपने-अपने सामाजिक संगठनों को एक दूसरे में रूपायित कर अपने 'स्व को सम्पूर्ण 'लोक' में विलीन कर लोकादर्श की ओर उन्मुख होते हैं। यह समाज एक ऐसा समाज है जिसमें सात्विक गुणों की बहुलता देखी जाती है। सत्कर्म तथा सद्वृत्तियाँ अपने सम्पूर्ण सत्व के साथ फलती फूलती हुई देखी जाती हैं। ऐसा समाज समरसता का द्योतक होता है।

समरसता का प्रतीक यह समाज सार्ववर्णिक तथा सार्ववर्गिक समाज है जिसमें छत्तीसी जातियाँ निवास करती हैं। लखारा, भरावा, सोनी, माली, छीपा, लुहार, शकलीगर, भील, गुजर, नाई, कीर, नट, कंजर, कालबेलिया, वोहरा, वाणिया, भांभी, युगल आदि अपने धर्म-कर्म में निरत हैं। बाँझ स्त्रियों को यह समाज अवहेलना की दृष्टि से देखता है। बस्ती के लोग उनका मुँह तक देखना पसंद नहीं करते। नारी-शृंगार के लिए आभूषणों का सर्वाधिक महत्व माना जाता है। गवरी समाज भी इन आभूषणों से विलग नहीं रहा है। इसमें पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों ही आभूषण धारण करते हैं। इन आभूषणों में बिछिया, बाजूबंद, पायल, घूघरमाल, पिंजणियाँ, भमरक्या, नथड़ी, बोर, टीलड़ी, नोसर, हंसली, मूंदड़ी, कड़ल्ये आदि विशेष लोकोपयोगी सिद्ध हुए हैं। पोशाकों में गुलाबी-चमेली साड़ी, चूंगट्याभांत कस्तूरी काचली तथा गुलाबी घुँमाला घाघरा अधिक पहना जाता है। नामकरण की दृष्टि से भी यह समाज बड़ा सम्पन्न तथा सुललित रहा है। धार्या (भील), जाउड़ी (भीलन), वरजू (कंजरी), पाचा (मोचण), भान्या (जोगी), लाली (लुहारिन), जेल, (राजा), हठिया (राक्षस), हंसण्या (दानव), हीरां (दासी), धवन्या (संदेशवाहक), गोमा (मीणा), कालू (कीर), किरण (कीरनी) तथा फत्ता (ठाकुर), फत्ती (ठकुराइन) जैसे नाम अपनी जातिगत संस्कृति एवं संस्कार के प्रतीक है। शकुन तथा अन्य रूढ़िगत विश्वासों में भी यह समाज बड़ा आस्थावान रहा है। अच्छे कार्यों के लिए अथवा कहीं जाने आने के लिए थावर (शनिवार) ठीक नहीं माना जाता है। इसी प्रकार सामने छविहारी का मिलना भी अनिष्टमूलक है।

भीलों द्वारा प्रदर्शित होने के कारण गबरी का समाज अधिकांशतः भीली समाज से प्रभावित है। दुश्मनों से बैर लेने में यह समाज पक्का समझा जाता है। कहावत भी है—भीलनो वेर उदेई ने खावे। (भीलों के बैर को दीमक भी नहीं लगता।) जब तक बैर चुकाया जाता, वह अक्षय रहता है। यदि जीते जी यह वैर नहीं चुकाया गया तो इनकी ऐसी मान्यता है कि मृत्यु के बाद इनकी आत्मा भटकती रहेगी और उसे तब ही सान्त्वना मिलेगी जब कि पहले का बैर चुका दिया जायगा।

यह समाज बड़ा संगठित समाज होता है। इसमे सभी लोग अपने मुखिया के निर्देशन मे रहते हैं जो गमेती कहलाता है। गबरी में भी ऐसा ही संगठन देखा जाता है। इसमें भाग लेने वाले सभी अभिनेता बूढ़िये के निर्देशन मे रहते हैं। उसी के संकेत से गबरी का संचालन होता है। सभी उसका लोहा मानते हैं। हठिया जैसा राक्षस तक उसे छू लेने मात्र से कंपित हो उठता है। गबरी में वह प्रत्येक अभिनेता की देखभाल करता रहता है और पूरा अनुशासन बनाये रखता है। अपने खांडे से प्रत्येक पात्र को सचेत तथा सक्रिय करता हुआ देखा जाता है।

इस समाज में ऊपनीच का कोई भेद नहीं रहता। श्रम करनेवालों को विशेष प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है। कृषि प्रधान समाज होने के कारण खेती का रसिया धारनगर का राजा भी कृषि करने के लिए जुट पड़ता है। भूत-प्रेत तथा झाडू-टोनों में गहरी आस्था होने के कारण हर बीमारी भूतप्रेत का कारण समझ ली जाती है। खेतुड़ी को भूत लगजाने पर उससे छुटकारा पाने के लिए बाहर भट्टियों का शराब, बारह मन बाकले, तेरह घाणियों का तेल तथा काली गर्दन का बकरा भेंट चढ़ाया जाता है। कालबेलिया खेल में कई प्रकार के जादु टोने दिखाये जाते हैं। गबरी के भोपे बार-बार कंपित होकर अपने में देवी की छाया लाते हैं और सम्पूर्ण गवरी को टोने टोटकों से बचाये रखते हैं। बुरे नक्षत्र में बच्चा पैदा होने पर पंडित के कथनानुसार सत्ताइस वृक्षों की पाती सत्ताइस भाई-बेटों को अमल पानी तथा सत्ताइस ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है और बच्चे का नाम कन्हैयालाल रखा जाता है।

गवरी का समाज देव-देवियों का विशेष भक्त रहा है। गवरी की स्थापना के प्रारंभ मे सभी देवी-देवताओं का स्मरण किया जाता है। उनके बिना गवरी का प्रारंभ अशुभकारी माना जाता है। उन्हें स्मरण कर लेने से ऐसा मान लिया जाता है कि गवरी खेल में आदि से अन्त तक उनकी उपस्थिति बनी रहती है। फलतः गबरी-अभिनेताओं पर किसी प्रकार का कोई संकट नही आने पाता है।

गवरी का पशु-समाज भी सुसंस्कृत मानवी समाज है उसके सामाजिक सम्बंध मानवी समाज से मिलते जुलते हैं। मानव-संस्कृतिका इस पर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। यहाँ का दानव-समाज भी अपने दानव पन से कोसों दूर है। हठिया का विवाह-संस्कार मानव की वैवाहिक संस्कृति के अनुकूल किया जाता है। हल्दी-पीठी, घूबरी तथा बारात के समय भी वे ही गीत गाये जाते हैं, जो मनुष्य समाज में प्रचलित हैं। यहाँ का देवलोक मानव संसर्ग से अब उतनी घुटन अनुभव नहीं करता। मानव बनने में लालायित देवलोक में आकर अपने को अत्यत आल्हादकारी मानता है।

(४) आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ :—

गवरी में अलौकिक शक्तियो तथा रहस्यमय कार्यकलापों के रूप में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का बड़ा महत्व रहा है। इन प्रवृत्तियों के माध्यम से ऐसी घटनाएँ देखने को मिलती हैं, जो मानव को चकितकर रहस्य में डाल देती हैं। इनकी उद्भावना के मूल मे लोकमानस की आदिम वृत्तियाँ सुरक्षित रही हैं। इसमें शिव-पार्वती का रहस्य अनबुझ पहेली सा लगता है। लोकभूमि पर सशरीर भ्रमण करना, नानारूप धारण करना, अमृत की वर्षा करना तथा मरे हुओं को पुनर्जीवित करना अलौकिक और आश्चर्यमयी घटनाएँ हैं। गवरी के कथा-क्रम को विकसित करने तथा एक सूत्रता बनाये रखने के लिए ही इन घटनाओं की अवतारणा की गई है। इन सारी घटनाओं के मूल में पार्वती रही हैं जो स्वयं रहस्यमय बनकर शिवजी से इनका रहस्य खुलवाती हैं। घटनाओं का यह माध्यम कथा-तंतु को सरस बनाता हुआ गति प्रदान करता है। विष्णु का मोहिनी रूप धारणकर भस्मासुर को भ्रमित करना और शिवजी को उसके चंगुल से बचाने की घटना जितनी रहस्यमय

लगती है उतनी ही लोक सम्मत भी। कारण कि ये सारी घटनाएँ किसी अदृश्य रूप में नहीं घटतीं। ये सब हमारे सामने प्रत्यक्ष रूप में घटती हैं और हम पूर्ण निष्ठा, भक्ति और विश्वास के साथ इनकी सत्यता पर दांतों तले अंगुली दबाते रहते हैं।

वड़ल्याहींदा की नौलाख देवियों की घटनाएँ अध्यात्म से ओत-प्रोत हैं। नाना प्रकार के रूप धारण कर ये देवियाँ सभी लोकों में जाने-आने में समर्थ होती हैं। कठिन से कठिन तथा अनहोना कार्य भी इनकी सामर्थ्य से परे नहीं होता। इनकी लीलाओं से गवरी लीलामय हो उठती है। गवरी की सम्पूर्ण पीठिका, उसकी संगठन-विधि तथा शिल्प-प्रक्रिया इन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से प्रभावित रहती है। अन्य सभी अभिनेताओं के विश्राम करने पर भी नायक बूढ़िया विश्राम नहीं करता। वह गवरी के चारों ओर बराबर चक्कर काटता रहता है। न कहीं बैठता न कहीं स्थिर ही होता है। वह चिर सक्रिय और स्थाणु रहता है। खेल के बीच में यदि कभी उसे किसी से बातचीत भी करनी पड़ती है तो भी वह एक स्थान पर खड़ा रहकर भी आगे-पीछे हिलने की क्रिया बराबर करता रहेगा। यदि उसे किसी शंका की निवृत्ति के लिए गवरी-स्थल के बाहर जाना होता है तो वह अपना चेहरा दूसरे के मुँह पर बांधकर ही जायेगा, अन्यथा नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि गवरी का सम्पूर्ण शिल्प आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत अपने बहुरूपी चमत्कारों द्वारा अलौकिक दृश्य प्रस्तुत करता है।

(५) रूढ़ियाँ

लोकजीवन का लोकादर्श उसकी परम्पराओं तथा रूढ़ियों से प्रभावित होता है। इन रूढ़ियों में कथानक रूढ़ियों का सर्वाधिक महत्व है। इनमें लोकदृष्टि की विचित्रता, अनुभवशीलता, विशालता तथा व्यापक व्यावहारिकता देखने को मिलती है। इन्हीं के आधार पर लोकमानस का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन निहित रहता है। ये रूढ़ियां लोकजीवन की साधारण भौतिकता को भी असाधारण रूप में उद्घाटित कर, हमारा पोषण कर अपने सांस्कृतिक दायित्व का निर्वाह करती हैं। अलौकिक एवं आश्चर्यमय क्रियाकलापों के रूप में इनका प्रयोग कथा को सरस बनाने तथा घटना-व्यापार को बढ़ावा देने के लिए किया जाता है। गवरी में ये रूढ़ियाँ निम्नलिखित रूपों में अभिव्यक्त हुई हैं—

१. शिवजी का भस्मासुर को वरदान देना जिससे तीनों लोकों में उसका उपद्रव मचाना।

२. विष्णु का मोहिनी रूप धारण करना।

३. वृकासुर द्वारा अग्नि को शंकर का मुख मानकर उसमें अपने शरीर का माँस काटकर हवन करना।

४. वृकासुर का कुल्हाड़े से अपना मस्तक काटकर हवन करना।

५. शंकर का अग्नि-देव के रूप में प्रकट होना और वर माँगने के लिए कहना।

६. नारायण का ब्रह्मचारी रूप धारण करना।

७. देवी अंबाव का भंवरी-रूप धारण करना।

८. तांबे की कूंडी में तेल उबालकर उसमें भँवरा डालना।

९. देवी द्वारा कूंडी में दूध भरकर पाताल जाना।

१०. कूंडी का दूध सूखने पर पाताल में देवी की मृत्यु हुई समझना।

११. देवी द्वारा मैल से नेवला पैदा करना।

१२. नाग की दृष्टि पड़ते ही देवी का भस्म हो जाना।

१३. देवी के भस्म होनेपर सुनहली ज्वाला, रूपहला धुँआ निकलना तथा ढेरी का केसरवर्णी होना।

१४. शिव-पार्वती का पाताल में घूमते हुए आना।

१५. पार्वती का मक्खी बन अलोप हो जाना।

१६. शिव द्वारा ढेरी पर अमृत छिड़क देवी को पुनर्जीवित करना।

१७. देवी का शिवजी से वर मांगना।

१८. देवी का जहरीफूल पर फूंकार झेलना और कटारी से फण काटना।

१९. बड़ के काली चट्टान पर स्थापित करना।

२०. देवियों का मक्खियाँ बन बड़ के पत्ते-पत्ते पर बैठना।

२१. देवी अंबाव तथा चाँवंडा का कंजरी-रूप धारण करना।

२२. गजानंद का मंत्र द्वारा उड़द फेंकना।

२३. देवियों की रक्षा के लिए सातवें पाताल से बड़ का आना और अदृश्य होना।

२४. बड़ को दूध-दही से सींचना।

२५. बारह बीघे में बड़ फैलना।

२६. देवी द्वारा चेलों को बड़ भेंट चढ़ाना तथा उसके सिर का चबूतरा और बड़ की तलाई बनाना।

२७. बड़का रोना और उसके आँसू से देवियों के चीर भीगना।

२८. देवी अंबाव का नट-भेष 'धारण करना और राजा का वध कर उसे गूगा होने का शाप देना।

२९. बाहर भट्टियों का शराब, बारह मन बाकले, तेरह घणियों का तैल तथा काली गर्दन का बकरा चढ़ाकर खेतु को प्रेत-मुक्त करना।

३०. देवी अंबाव का छविहारी रूप धारण कर हठिया के रास्ते बैठना।

३१. शिवजी द्वारा बणजारे को पुनर्जीवित करना।

३२. बाँझ स्त्री को शिव का टूटना और पुत्र-प्राप्ति होना।

३३. बारह जुग का नेम 'धारण करने पर शंकर पर दीमक का घर बनाना, छाती पर थूहर पैदा होना, कान में बया का घोंसला बनाना तथा मस्तक पर नागिनी का घेरा डालना।

३४. शंकर के मैल से चील पैदा होना।

३५. शंकर द्वारा चील पर अमृत छिड़कने से बारह-बारह बरस की दो कन्या पैदा होना।

कथानक रूढ़ियों की तरह काव्य-रूढ़ियाँ भी गवरी नाट्य में अधिकाधिक रूप में प्रयुक्त

हुई मिलती हैं। ये रूढ़ियाँ जीवन के साधारण से साधारण भौतिक पहलू को अत्यंत मूल्यवान रूप में प्रदर्शित कर, सामाजिकों को गौरव प्रदान करती हैं। इनके सामने सोना, चाँदी, हीरा, मोती कोई मूल्य नहीं रखते। इसीलिए दैनिक जीवन में प्रयुक्त साधारण वस्तुएँ भी सोने, चाँदी तथा मोतियों से कम नहीं समझी जातीं। लोक जीवन की यह स्वर्णिम दृष्टि इस सत्य को उद्घाटित करती है कि जीवन में प्रेम, ममता, सौहार्द वात्सल्य, स्नेह, त्याग, करुणा आदि भावनाओं से बढ़कर किसी का महत्त्व नहीं है। उनके समक्ष सोने, चाँदी तथा हीरे जवाहरात भी कुछ नहीं हैं। लोक-जीवन की यह सहज वृत्ति गवरी में कई रूपों में उद्घाटित हुई मिलती है। यथा—सोने का थाल, रूपा का बड़ा घड़ा, सोने की चूमली, मोतियों के अक्षत, सोने का कलश, सोने का महल, मोतियों का थाल, सोन बुहारी, सोने के कड़े, लूमो की जाजम आदि।

कथानक रूढ़ियों तथा काव्य रूढ़ियों की तरह रूढ़ संख्याएँ भी गवरी में स्थान-स्थान पर बरसाती दूब की तरह अंकुरित हुई मिलती हैं। इन रूढ़ियों के पीछे वस्तु-बोध की सचाई तथा अनुभव जन्य सत्यता देखने को मिलती है। गवरी में ये संख्याएँ इस प्रकार आई हैं—

(१) नौ लाख देवियाँ (२) बारह मन का भँवरा (३) तेरह कोस की गुंजार (४) बारह बरस की नींद (५) इठ्योत्तर मानवी (६) सवामण धान (७) दो वाटियाँ (८) सातवां पाताल (९) एक सेर अनाज (१०) छः-छः महीने की नींद (११) पाँच, पचास तथा सौ मुँह का नेग (१२) बारह बीघा में बड़ फैलना (१३) बारह भट्टियों का शराब (१४) बारहमन बाकले (१५) तेरह घाणियों का तैल (१६) चौंसठ जोगिनियाँ (१७) सत्ताइस वृक्षों की पाती (१८) सत्ताइस नालों का पानी (१९) सत्ताइस बहिन-बेटियों को काँचली-कापड़ा (२०) सत्ताइस भाई-बेटों को अमल पानी (२१) सत्ताइस ब्राह्मणों को भोजन (२२) बारहजुग का नेम (२३) बारह बरस की कन्याएँ (२४) बारह बरस की सेवा (२५) सवा सौ मोती (२६) तीन लाख टाकी (२७) तीन सौ पचास झालर (२८) बारह मन की मणियाँ (२९) तेरह मन की आन (३०) चौबीस हाथ का सैल।

गवरी नाट्य में अभिव्यक्त लोक-संस्कृति का स्वरूप

गवरी नाट्य में मुख्यतः भीली संस्कृति का प्राधान्य रहा है। भीली संस्कृति की यह प्रधानता भीलों से सम्बन्धित स्वांग-स्वरूपों में तो है ही परन्तु अन्य वर्गों के स्वाँगों में भी इसका पूर्ण प्रभाव अभिव्यंजित हुआ दृष्टिगोचर होता है। गवरी के समस्त अभिनेता भील होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक और सहज है। अन्य स्वाँग यद्यपि अपनी जातिगत संस्कृति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु उनमें भी यह भीलीकरण सहजतः स्वीकृति का हुआ मिलता है। भीली संस्कृत यह स्वरूप गवरी नाट्य में देव, दानव, मानव तथा पशु संस्कृति को अपने में आत्मसात करता हुआ, लोक संस्कृति का विराट स्वरूप प्रतिष्ठित करता है।

● ●

पाच

हिन्दुस्तानी का प्रथम रूसी व्याकरण-लेखक—लेबेडफ

मुरलीधर श्रीवास्तव

हेरासिम लेबेडेफ़ का व्याकरण

यूरोप मे भारतीय विद्याओं के अध्ययन-अनुशीलन के आरम्भिक इतिहास में लेबेडेफ का नाम आता है, जिसका 'शुद्ध और मिश्र पूर्व भारतीय भाषाओं का व्याकरण' (ग्रामर आफ द प्योर ऐंड मिक्स्ड ईस्ट इंडियन डायलेट्स-लन्दन) १८०१ में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने इसे ईस्ट इन्डिया कम्पनी को समर्पित किया था।[1]

इस व्यक्ति की जीवन-कथा भी बहुत रोचक है। लेबेडेफ को वहुत साधारण शिक्षा मिली थी। पंद्रह वर्षों तक वह केवल अपनी मातृभाषा लिखना-पढ़ना जानता था। इसके अतिरिक्त, यदि वह कुछ जानता था तो वह था संगीत। पर उसमे दुनिया को देखने और जानने की वड़ी इच्छा थी, जिससे प्रेरित होकर वह देशाटन के लिये निकल पड़ा। बड़े लोगों से सिफारिशी चिट्ठियाँ लेकर वह १७८५ में मद्रास आया। वहाँ दो साल ठहरा। मद्रास में यूरोपियनों की मदद से रोटी-रोजी की कठिनाई नहीं हुई। पर वह मद्रास से कलकत्ता आने को बेचैन था। अन्त मे १७८७ मे वह कलकत्ता पहुँचा और शीघ्र ही यूरोपियनों के बीच अपने में निपुणता के बल पर संगीत प्रेमियों का कृपामात्र बन गया। अपने संगीत-प्रदर्शनो के कारण कलकत्ते के यूरोपियन समाज मे उसकी ख्याति बढ़ती गयी। यहाँ उसे ब्राह्मणो की भाषा और लिपि सीखने का चाव हुआ और उसने कुछ पंडितों को गुरु बनाकर ब्राह्मणो की वर्णमाला, कोश, व्याकरण, गणित पंचांग आदि का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। संगीत द्वारा जीविका निर्वाह करते हुए उसने बँगला, हिन्दुस्तान की सामान्य मिश्र भाषा (हिन्दुस्तानी) और थोड़ी संस्कृत भी सीखी। बंगला नाटको के इतिहास में उसका योग महत्वपूर्ण है। उसने बंगला में अँग्रेजी की कई 'कामेडियों का अनुवाद कर अभिनय किया। आरम्भ में वह बहुत सफल हुआ पर उसकी बढ़ती हुई कीर्ति और आय देखकर ईर्ष्या करने वाले कुचक्र रचने लगे और अन्त मे अपने एक कपटी मित्र के विश्वासघात के कारण उसका अभिनय व्यवसाय चौपट हो गया और वह तबाह हो गया। नियति का क्रूर व्यंग ऐसा घातक हुआ कि उसे सब कुछ गँवा कर ३ नवम्बर १७९७ को भारतभूमि को त्यागना पड़ा। इस प्रकार सहकारियों के कुचक्र का शिकार होकर इस व्यक्ति को लौट जाना पड़ा। पर इस दुर्दशाग्रस्त विदेशी ने लन्दन पहुँच कर १८०१ में अपना वह 'ग्रामर' प्रकाशित कराया, जो कालक्रम की दृष्टि से अत्यत

१. इसके समर्पण में लेखक का नाम लेबेडनेफ़ लिखा है। कुछ लोग लेबेडेफ और कुछ लेबडेप उच्चारण करते हैं।

महत्त्वपूर्ण है यद्यपि इसका प्रकाशन १८०१ में हुआ था पर यह पुस्तक कुछ पहले लिखी गयी थी, ऐसा अनुमान होता है।

१७९१ में लेबेडेफ का परिचय एक बंगाली स्कूल मास्टर गोलोकनाथ दास से हुआ, जो बँगला भाषा, मिश्र भाषा, (खिचड़ी बोली) और काफी संस्कृत जानते थे। 'मिश्र भाषा' से उसका अभिप्राय: बोलचाल में चलती हिन्दुस्तानी या डॉ० सुनीति कुमार के शब्दों में 'बाजार हिन्दुस्तानी' से था, यह इस पुस्तक को देखने से ज्ञात होता है। जब लेबेडेफ ने अपने शिक्षक से यह दरियाफ़्त किया कि पूर्वीय देशों (भारत के पूर्वी भागों) में आमतौर से कौन भाषा बोली जाती है, तब उन्होंने कहा कि मिश्र (खिचड़ी) भाषा चलती है। लेखक का कथन है 'मेरे भाषा पंडित ने मुझे लगन के साथ संस्कृत वर्णमाला सीखने की सलाह दी, चूँकि पूर्व के ज्ञान-विज्ञान के खजाने की 'मास्टर कुंजी वही भाषा है।' जान पड़ता है कलकत्ते के बाजार मे ऐसी मिली-जुली हिन्दुस्तानी उन दिनों खूब चलती थी। इस बोली का शुद्ध रूप भी था, पर लगता है कि स्टैन्डर्ड या शुद्ध हिन्दुस्तानी से लेबेडेफ का परिचय नही था। लेबेडेफ की कठिनाई यह थी कि उसने ऐसे बंगाली स्कूल मास्टर से यह बोली भाषा सीखी जो शुद्ध और परिनिष्ठित हिन्दुस्तानी का अच्छा जानकार नहीं था। एक बचन और बहु बचन का जो रोमन मे रूप मिलता है, उससे उसमें सन्देह नहीं रह जाता कि संस्कृत के व्याकरणिक शब्दों का बँगला उच्चारण उसने सीखा था। हिन्दुस्तानी के सही उच्चारण से वह अपरिचित था और उसका बंगाली शिक्षक हिन्दुस्तानी सिखलाने योग्य नहीं था। लेबेडेफ ने जार्ज हैडले और जान फर्गुसन की आलोचना की है, जो डॉ० चटर्जी के शब्दों में, उसके पहले बाजार हिन्दुस्तानी, पर लिख चुके थे, पर सही बात तो यह है कि स्वयं उसका 'हिन्दुस्तानी का ज्ञान न तो शुद्ध था और न पर्याप्त। हिन्दुस्तानी शब्दों का जो लिप्यन्तरण उसने अपनी पुस्तक में दिया है, वह तो हिन्दुस्तानी भ्रष्ट उच्चारण और वह भी बँगला प्रभाव से दूषित है। डॉ० चटर्जी का अनुमान सही है, कि इसका मुख्य कारण है लेबेडेफ के शिक्षक गोलोनाथ दास की हिन्दुस्तानी की अल्पज्ञता। किसी हिन्दुस्तानी गद्य पुस्तक के अभाव में विदेशियों की कठिनाई को हम समझ सकते हैं, क्योंकि बोलचाल में कलकत्ते के बाजार में जिस रूप में हिन्दुस्तानी बोली जाती थी, उस रूप के सिवा अच्छे रूप को जानने का कोई उपाय भी सुलभ न था। १७९१ में लेबेडेफ को संस्कृत वर्णमाला या देवनागरी के माध्यम से उस बोली या भाषा को जानने या सीखने के लिये कोई पुस्तक बतायी भी नहीं जा सकती थी। कलकत्ते के बाहर हिन्दुस्तानी का उत्तर भारत के बड़े शहरों में शिक्षित समाज में उसका क्या रूप था इसे सुनने और जानने का अवसर न लेबेडेफ को कभी प्राप्त हुआ और न उसके शिक्षक गोलोकनाथ दास को, जो शायद कलकत्ते से दूर कहीं गये नही थे। अतः हैडले या फर्गुसन की आलोचना करने का अधिकारी लेबेडेफ नही था। चटर्जी के अनुसार 'हिन्दुस्तानी के ग्रामर के रूप में तो उसका कम महत्व है, पर बाजार हिन्दुस्तानी पर, जैसी कलकत्ते में बंगालियों और दूसरों के बीच बोली जाती थी—अच्छा पार्श्वप्रकाश डालता है।'

इस पुस्तक के समीक्षक ने १८०२ में लिखा था—'यद्यपि हिन्दुस्तानी ग्रामर (गिलक्रिस्ट का प्रकाशित हमने नहीं देखा है) निःसंदेह दोषपूर्ण प्रकाशन है, फिर भी हमारा ख्याल है

कि इस समीक्षाधीन पुस्तक से अधिक उपयोगी जानकारी हैडले या फर्गुसन की पुस्तकों से मिलेगी। पाठक हमसे यह आशा न करें कि मि० लेबेडेफ के प्रहार से सर विलियम जोन्स को हम बचाना चाहेंगे, क्योंकि लेखक की भूल यह है कि उसने बंगला उच्चारण को परिनिष्ठित लेखन रीति का आधार बनाने योग्य मान लिया, जबकि सर विलियम ने बनारस और मथुरा के श्रेय उच्चारण को ग्रहण किया है।[१] वास्तव में जोन्स ने काशी के शुद्ध उच्चारण के आधार पर रोमन लिप्यन्तरण प्रणाली चलायी। उनके पूर्व रोमन मे हिन्दुस्तानी लिखने मे अव्यवस्था अथवा अराजकता थी। हिन्दुस्तानी का बंगला ढंग का उच्चारण लेबेडेफ के बगाली गुरु ने उसे सिखला दिया था। खेद की बात है, लेबेडेफ ने अपने समकालीन अन्य विद्वानों के ज्ञान का उपहास किया है, जबकि स्वयं उसका हिन्दुस्तानी का ज्ञान कच्ची और कमजोर नींव पर खड़ा था। बंगला का अच्छा जानकार कलकत्ते में रहकर वह हो सकता था, पर हिन्दुस्तानी का सही रूप कलकत्ते में सुनने को नहीं मिल सकता था। इस बोली को 'मिश्रित' इसीलिये कदाचित् कहता है कि इसका प्रयोग कलकत्ते के सभी वर्ग के लोग दैनन्दिन व्यवहार में करते थे।

ग्रियर्सन ने भी इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखते हुये इसकी रोमन लिप्यन्तरण की भ्रष्टता की निन्दा की है, और इस भाषा के इस पुस्तक में दिये गये व्याकरणिक विवरण को सही नहीं माना है।[२] पर इससे यह लाभ तो होता है कि १८ वीं सदी के अन्तिम दशक मे कलकत्ते की बाजार की बोली का हमे परिचय मिलता है। दूषित रोमन लिपि मे लिखित बाजारू हिन्दुस्तानी का जो रूप इस पुस्तक में मिलता है, उससे उस समय की भाषिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। हो सकता है कि 'मिक्स्ड डायलेक्ट' अनुवाद इसलिये किया गया, चूंकि इसे जबान रेख्ता भी कहते थे। इस बोली में फारसी, अरबी, तुर्की, हिन्दी, संस्कृत सभी तरह के शब्दों का खुल कर मिश्रण हुआ था, अतः यह मिश्रित बोली भी थी। लेबेडेफ को यहाँ के यूरोपियनों के छल-कपट पूर्ण व्यवहार का कटु अनुभव हुआ था, अतः यूरोपियनो की नैतिकता के सम्बंध में उसकी धारणा बुरी थी।

इस ग्रामर के अतिरिक्त लेबेडेफ ने एक दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक रूसी में लिखी है जिसका नाम है—पूर्व भारत के ब्राह्मणों का निष्पक्ष विवरण। इसमें हिन्दू-प्रथाओं और रीतियों का वर्णन सहानुभूति पूर्वक किया गया है। ब्राह्मण यूरोपियनों को क्रूर अत्याचारी समझते है और म्लेच्छ परिया। (एक अधम अस्पृश्य जाति) के समान उनसे घृणा करते है। लेबेडेफ को इस देश में बिना पैसे लिये शिक्षा देने वाले गुरु मिले। उसे यहाँ की भाषा या विद्या सीखने के लिये कुछ देना नहीं पड़ा। क्योंकि यहाँ ब्राह्मण विद्या बेचते नहीं। अन्य यूरोपियनों की तरह उसे कहीं बाधा-विरोध नहीं सहना पड़ा, चूंकि वह अन्य यूरोपियन विद्वानों की तरह पंडितो को 'गुरु' मानता था—क्लर्क नहीं। एक स्थान पर यह भी उल्लेख है कि वह बदले में संगीत की शिक्षा देता था। यह पुस्तक १८ वीं शताब्दी के अंतिम चरण के पूर्व भारत के हिन्दुओ के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है।

---

1. Asian Annual Register (VOL. 4.1802 P. 41)
२ इंडियन ऐन्टीक्वेरी १९०३।

लेबेडफ का ग्रामर डा० महादेव साहा द्वारा संपादित होकर हाल में ही प्रकाशित हुआ है। लेबेडफ-विषयक सामग्री को संकलित कर प्रकाशित करने का श्रेय डॉ० साहा को है अन्यथा इस व्यक्ति के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम थी। अब हम इस रूसी लेखक की व्याकरणविषयक पुस्तक के आधार पर कलकत्ते की बाजार हिन्दुस्तानी या उस समय की कलकतिया हिन्दी का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

एक बचन	बहुबचन
एक आदमी	सब आदमी या सब लोग।
एक लड़का	सब लड़का, लड़का लोग
एक कुत्ता	सब कुत्ता या कुत्ता लोग।
सिपाही लोग	सब सिपाही लोग।

'सब और लोग' का बहुबचन में प्रयोग स्पष्ट ही अशिक्षित जन और बंगाली प्रभाव का सूचक है। रोमन में जो हिन्दुस्तानी शब्दों को रूप दिया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि रोमन अक्षरों द्वारा बंगला उच्चारण को वह भी भ्रष्ट रीति से व्यक्त किया गया है। एक रूसी का एक बंगला भाषी से कलकत्ते में हिन्दुस्तानी के प्रचलित जन रूप को सीख कर रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी ध्वनियों को व्यक्त करने में जैसी भूल या भ्रान्ति सहज सम्भव है, उसका यह ग्रामर अच्छा उदाहरण है।

शब्द : रूप

'आदमी' शब्द का कारक भेद से रूप-भेद इस प्रकार दिखलाया गया है।

एक बचन :

कर्त्ता—आदमी
सम्बन्ध—आदमी का (या के)
सम्प्रदान—आदमी को
कर्म—आदमी को
सम्बोधन—ऐ आदमी

अपादान—आदमी का मारफत या आदमी के आदमी का पास से या आदमी से आदमी का वास्ते या आदमी के वास्ते आदमी में या आदमी या।

टिप्पणी : कारकों का क्रम भिन्न है। कर्त्ता, सम्बन्ध, सम्प्रदान, कर्म, सम्बोधन और अपादान—इस क्रम से कारक-भेद दिया गया है। आदमी का वास्ते 'आदमी का पास' में का के स्थान पर शिष्ट भाषा में के आता है। यह 'का' भी बंगला का प्रभाव है।

व्याकरणिक शब्दों का बंगला उच्चारण ही रोमन में रूपान्तरित हुआ है। कारक, लिंग, क्लीबलिंग, पुंलिंग स्त्रीलिंग क्लीबलिंग या नपुंसक।

सर्वनाम

एक बचन—उत्तम पुरुष	—	मै, मैं मैं, हम—
म० पु०	—	तू तुम
अ० पु०	—	वो, ऊ, वह आदि

इन रूपों में कुछ स्पष्ट नहीं है—दूषित रोमनलिपि के कारण।

बहु बचन—उ० पु० ब० ब०		—	सब, मैं सब, हमलोग
म० पु०	"	—	तें सब, तुम लोग
अ० पु०	"	—	ऊ सब, वह सब, वह लोग, उन लोग ये,

एक स्थान पर बोली के तीन रूप दिये गये हैं—

विकृत मिश्रित, नियमित मिश्रित, और शिष्ट मिश्रित रूप। 'शिष्ट मिश्रित' से कदाचित् अच्छी या स्टैन्डर्ड हिन्दी से अभिप्राय है। इन तीनों रूपों को नीचे की सारणी में देखें।

कारक	विकृत मिश्रित बोली (जार्गन मिक्स्ड डायलेक्ट)	नियमित मिश्रित बोली (रेगुलर मिक्स्ड डायलक्ट)	शिष्टमिश्रित बोली (सिविल मिक्स्ड डायलेक्ट)
कर्ता—	तू तु	त	तुम
सम्बन्ध—	तोर, तेरे, तार, तेरो (स्त्रीलिंग)	तार तारा	तुम्हारा, या तुमारे (तुम्हारा, तुम्हारे)
सम्प्रदाय—	तुझ-को या तुजको	ताको	तुमको
कर्म—	तुझको	ताको	तुम, तुमको
सम्बोधन—	है तू या हय तू,	हेते	हे तुम
अपादान—	तोर, तेरे मारफत	तारा मारफत	तुम्हारे मारफत
		यातोरे मारफत	तुम्हारा मारफत
	तेरे पास	तारापास	तुम्हारा पास
	तुझ से या तुज से	ते से या तेरा पास से	तुम्हारा पास से
	तेरे वास्ते	तारा वास्ते (तार)	तुम्हारे वास्ते
	तोर वास्ते	तेरे वास्ते (तार)	तुम्हारे वास्ते
	तुझ में	ते में	तुम में
	तुझ मा	ते मे	तुम में।

टिप्पणी तुमारा (तुम्हार) तुमारे तुम्हारे) में ह की मन्द ध्वनि बंगला प्रभाव से व्यक्त नहीं हुई है। म का अनुनासिक चिह्न छोड़ दिया गया। तुम तुम्हारा आदि रूप शिष्ट भाषा में ही दिये गये हैं।

इसके बाद लेखक ने बोलचाल की भाषा के कुछ वाक्य उदाहरण रूप में दिये हैं, उस समय यूरोपियन कैसी हिन्दुस्तानी समझते थे और कैसी जबान बोलते थे, इसका कुछ पता चलता है।

'खुदा पैदा करने वाला है दुनिया का बिहिश्त का जमीन का, और सबके पास, सब कुछ जो खुदा किया है या रहेगा हमेशा, उसको कोई कमबेश करने सकेगा नहीं और कोई कुछ सकते उठने का किसको तुम कहते हो' साहेब, हम कहते हैं तुम तुमको, जो तुम्हारा खुशी है यह सुनने, तो तुम्हारा खुशी होये करने का यह मेहरबानगी, हम आपको और बास होयेंगे हम जानत है जो खुदा के अकल के मारफत, बिहिश्त के सब और बौर उजेला सब बनाता है सूरज दिन का सरवा के (?) वास्ते, चाँद और सितार सब रस के दर करने का वास्ते, हरे एक चीज इयाम (?) में सायत होता है, और एक वक्त है हरि एक का सेफिर बिहिश्त के नीचे।'

उसके बाद खरीद-बिक्री से सम्बन्धित बातचीत दी गयी है। इससे यह पता लगता है कि यूरोपियन सौदागर कुछ इसी ढंग पर हिन्दुस्तान के दुकानदारों से १८ वीं सदी के अंतिम चरण में बातें करते होंगे।

खरीद करना और बेचना—

क्या चीज है तुम्हारा दुकान में
मेहरबान, क्या आप माँगते हो ?
तुम्हारा पास कुछ अच्छा महीन बनात, सूत्र फीते टोपी और मोजे हैं
हाँ साहेब हैं
सहर का ऊपरी इस सहर में और अच्छा तुम सकते नहीं मिलेगा या सच है
हाँ साहब सच है
दिखलाओ हमको एक थान अच्छा बनात काला रंग
यह एक थान है महीन बनात साहेब
और इसका रंग हम बूझते हैं आपका पसन्द मे हो
क्या मोल तुम बेचते हो
क्या दूँ इसका गज
इसका ठीक दर है आठ रुपया
क्या, आठ रुपया
यह होगा नही साहेब
तुम बूझे हो
हमको ऐसा ऊम है

नहीं साहेब, माफ करो—

इस बातचीत के नमूने से यह जाहिर होता है कि इस बोलचाल की ज़बान में संस्कृत-मूल के शब्द कम प्रयुक्त होते थे, सरल फारसी-अरबी शब्दों का ही बाज़ार में अधिक प्रयोग होता था।

विशेष—हमने यहाँ लेबेडेफ की विचित्र रोमन लिपि को पढ़कर हिन्दुस्तानी में दिया है। इसका मूल रूप अंग्रेजी अनुवाद के साथ परिशिष्ट में दिया जाता है।

छह

"हिन्दी और अफ्रीकी किडाविडा (फिटाइटा, वटाइटा) का भाषा शिक्षणीय अध्ययन"

डा० रवि प्रकाश, डेक्कन कालेज, पूना ६

इस लेख में खड़ी बोली (हिन्दी भाषा) और अफ्रीका की किडाविडा भाषा का भाषा-शिक्षणीय दृष्टि से अध्ययन किया गया है। हिन्दी भाषा का मूल क्षेत्र उत्तर प्रदेश विशेषकर बुलन्दशहर और मेरठ के आस पास का क्षेत्र है, जिसमें खड़ी बोली व्यावहारिक रूप में प्रयुक्त होती है। किडाविडा भाषा पूर्वी कन्या के मूलोलो, सगल्ला, कसिगन, म्वले शविश्रा आदि स्थानों में बोली जाती है, इन दोनों भाषाओं के अध्ययन के लिए हिन्दी भाषा से श्रीमती शीला श्रीवास्तव और अफ्रीकी भाषा से श्री इ० एफ्० केंजा सूचक चुने गये हैं। हिन्दी को, किसी अफ्रीकी विशेष तौर से किडाविडा भाषी को, सिखाने के लिए किन-२ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है या किडाविडा भाषी को हिन्दी सीखने में क्या-२ कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। इसी प्रकार एक हिन्दी भाषी को अफ्रीकी स्वाहिली या किडाविडा आदि भाषाओं को सीखने में क्या-२ कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती है। इन समस्याओं का यहाँ अध्ययन किया गया है। इस लेख को केवल ध्वनि सम्बन्धी समस्याओं तक सीमित रक्खा गया है।

ध्वनि सम्बन्धी समस्यायें—

किडाविडा भाषा के स्वर

/इ

उ ऊ

ए ऑ ओ

अ आ

हिन्दी भाषा के स्वर

/इ ई /उ ऊ

ए ओ

ऐ औ

अ आ

किडाविडा भाषा में २ अग्रस्वर ओ स्वय लघु हैं किंतु उनके वैषम्य में दीर्घस्वर नहीं मिलते, जैसे कि हिन्दी में अग्रस्वर एवं दीर्घ स्वर दोनों वैषम्य परिसर में मिलते हैं। ऐसी स्थिति में किडाविडा भाषी हिन्दी के अग्र दीर्घ स्वरों के स्थान में अपनी भाषा में प्राप्त होने वाले लघु स्वरों का प्रयोग करता है और उसे प्रायः हिन्दी के दीर्घ स्वरों के उच्चारण मे भ्रान्ति हो जाया करती है और इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करने में प्रथम प्रयास में विफल होता है और वह दीर्घ स्वरों को दीर्घ न समझकर प्रायः ह्रस्व का ही प्रयोग करता है।

उदाहरण के लिए—

हिन्दी	अफ्रीकन
/कि/ "पूर्वसर्ग,	/इकाजी/ (आलू) /इकुङ्ङ्गु (बादल)
/की/"सम्बन्ध बोधक परसर्ग'	/ईकाजी/ (आलू) ईकुङ्ङ्गु (बादल)
/एँक्का/ 'संज्ञा'	
/एक/ 'विशेषण'	

इन दोनों के स्थान में वह एक था और एक इन दोनों शब्दों के आदि में आए हुए स्वर दीर्घ और लघु के स्थान में वह प्रायः दीर्घ ही स्वरों का प्रयोग करता है। हांलाकि उच्चारण की दृष्टि से और दोनों शब्दों का अर्थ वैभिन्न नहीं होता, किन्तु हिन्दी भाषी के लिए हास्यास्पद होता है किंतु हिन्दी के पश्च स्वरों उ, ऊ, ओ औ, और हिन्दी का अग्र पश्च अ आ, के स्थान में वह केवल अपनी भाषा के पश्च स्वरों अ आ का प्रयोग करता है।

जैसे—

हिन्दी में	अफ्रीकी में
/उन/ 'सर्वनाम'	/उडू/ (कान)
/ऊन/ 'संज्ञा'	/ऊडू/ (अभावत्व)
	/ओकों/ (वह है)
	/ओको/ (वह गया)

किंतु हिंदी भाषी को प्रायः स्वरों के दीर्घ और ह्रस्व के भेदयुक्त शब्दों में कठिनाई नहीं उठानी पड़ती। किंतु व्यंजनों के उच्चारण में विशेषकर सघोष अन्तः स्फोट ध्वनिग्रामों में एवं संघर्षी द्विओष्ठीय (उभयोष्ठीय) सघोस संघर्षी और दन्त सघोष संघर्षी, सघोष मृदुतालव्य संघर्षी, सघोष द्विओष्ठीय संतत स्वनिम एवं दन्तोष्ठय स्वनिम के उच्चारण में बहुधा उससे भ्रान्ति होती है। क्योंकि उसकी भाषा में सघोष अन्तस्फोट एवं सघोष संघर्षी स्वनिम नहीं है जो हिन्दी भाषी उर्दू का ज्ञान रखते हैं उन्हें सघोष ताभव्योम संघर्षी ज़, ग़ के

में कोई कठिनाई नहीं होती है किंतु यह कठिनाई एक अवधी भोजपुरी और बुन्देलखन्डी भाषी को हुआ करती है। और प्रायः निम्नलिखित परिसर में—

अफ्रीकी शब्द	हिन्दी भाषी का उच्चारण
/ब्रासी/ 'और' /बासी/ 'इसलिए'	/बासी/ 'और' /बासी/ 'इसलिए
/ब्राहारी/ 'समुद्र' /बहतिज़मिये/ 'अभागा'	/बाहरी/ 'समुद्र' /वहति जमिये अभाग अर्थ में

इन दोनों /ब्/ के स्थान में /ब्रासी/ /ब्राहारी/ दोनों अन्त स्फोटो के स्थान में केवल स्पर्श /ब्/ का प्रयोग करता है। इसी प्रकार सघोष अन्तस्फोट दन्तस्वतिम एवं सघोष बहिस्फोट स्वतियों के स्थान में बहिस्फोट का प्रयोग करता है।

/डाजा/ 'हम खाते हैं' /डाजी/ 'नाच'

इसी प्रकार द्विओष्ठीय सघोष अन्त स्फोट और दिओष्ठीय सघोष संघर्षी के उच्चारण में बहुत दिन तक उसे अत्याधिक कठिनाई झेलनी पड़ती है और जिसे वह सुस्पष्ट अन्तर निकालने में उसे भ्रांति बहुत होती है।

जैसे—

/बारा बारा/ 'सड़क /ब/ और /व/ इन स्थानों में हिन्दी भाषी
/वग़ेत्री / 'मित्र' /ब/ क/ प्रयोग करता है।

एवं दन्तोष्ठ /व्/ के उच्चारण में वह या तो द्विओष्ठीय /ब्/ का प्रयोग करता है एवं सघोष मृदुतालवीय और सघोष मृदुतालवीय संघर्षी/ग्/ और /ग़्/ के स्थान में प्रायः वह /ग्/ का प्रयोग करता है।

जैसे—

/गाली/ 'महगा' /गाजा/ 'अच्छा' /दोनों के स्थान में
/गारा/ 'जांघ' /ग़ाशोमेआ/ 'वे/ अचेतन पदार्थ) /ग्/ का प्रयोग करता है।

इसी प्रकार शब्दों के आदि में तालवीय नासिक स्वनिमों का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता है।

	हिन्दी भाषी का उच्चारण /यांसी या
/ञासी/ 'घास'	/ह्यांसी/ होता है।
/ञुङ्गो/ 'बर्तन'	/युङ्गो/ या /ह्यु ङ्गो/
/ङोम्बे/'गाय'	/गोम्बो/ या /गाम्बे/

इसी प्रकार आदि द्वित्य संतत स्वतियों के उच्चारण में हिन्दी भाषी केवल एक संतत स्वतिम का उच्चारण करता है।

अफ्रीकी शब्द—	हिन्दी शब्द
/व्वाडा/'फाड़ना'	/वाडा/

सात

●

मद्रास के नामों तथा उपनामों : का सांस्कृतिक अध्ययन

●

रामगोपाल सोनी

आप जिन नामों तथा उपनामों का हर समय प्रयोग करते हैं। क्या कभी आपने उनकी सत्ता और महत्ता पर विचार किया है। कल्पना कीजिए कि आपका कोई नाम न होता तो आपका अस्तित्व ही न होता। नाम एक चिह्न है, प्रतीक है। यह निराकार को साकार तथा रूप को सार्थक करता है। सामाजिक जीवन में नामों का बड़ा महत्व है। नाम के अभाव में हमारे सामाजिक व्यवहार रुक सकते हैं, और हमारा अस्तित्व ही जन-समुदाय में विलीन हो सकता है। नाम से ही हम व्यक्ति-विशेष को समुदाय से पृथक् करते हैं। नाम-संबोधन की एक विधा है, और इस विधा द्वारा ही हम सामान्य से विशिष्ट की ओर जाते हैं। नाम एक विशिष्टीकरण है। नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है "मान्यते अभ्यते नम्यते अभिधीयते अर्थोऽनेनवा" अर्थात् जिससे अर्थ का ग्रहण अथवा बोध होता है उसे नाम कहते हैं। 'म्ना' धातु अभ्यास या आवृत्ति करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। जो शब्द किसी एक को पुकारने के अर्थ में मनुष्यों द्वारा बार-बार दुहराया जाता है इसी आवृत्यर्थक शब्द को नाम कहते हैं। दूसरे शब्दों में "नाम वह सांकेतिक एवं सार्थक शब्द अथवा शब्द-समूह है जिससे किसी सत्ता का परिचयात्मक बोध होता है।"[1] अमरकोश में नाम को आह्वय, आख्या, आह्वा, अभिधान, नामधेय, नाम से पुकारा गया है।[2] यास्काचार्य ने नाम का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

> "शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
> तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिण :॥[3]

मनुस्मृति, पारस्कार, मानव, आपस्तम्बीय, बोधाय न, आश्वलायन गोभिलीय आदि गृह्य सत्रों व मिताक्षरा आदि में नामों के शास्त्रीय स्वरूप पर विस्तृत विचार किया गया है और नामकरण के शास्त्रीय सिद्धांत निर्धारित किए गए हैं।

नाम मानवनिर्मित ऐसी उपयोगी विधा है जिसका व्यावहारिक जीवन में बड़ा महत्व

---

१. अभिधान-अनुशीलन डॉ० विद्या भूषण पृ. २ (प्रबंध परिचय)

२. अमरकोश ३२५-२६ प्रथम कांडे शब्दादि वर्ग :।

३ निरुक्तम्- आचार्य विश्वेश्वर पृ० २०

है। हिन्दू समाज में नामकरण संस्कार का बहुत महत्व है। सोलह संस्कारों में नामकरण एक महत्वपूर्ण संस्कार है। इस संस्कार द्वारा हम अनाम बालक या बालिका को नाम की छाप देते है, जो श्मशान तक उसके साथ रहता है। मृत्यु के पश्चात् भी नाम उस दिवंगत आत्मा की याद दिलाता रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में नाम के महत्व से सम्बद्ध एक संवाद मिलता है। प्रश्न है कि मरने के पश्चात् पुरुष को क्या नहीं छोड़ता? उत्तर है नाम। संसार में कुछ ऐसे लोकप्रिय व अजर अमर नाम हैं जो युग युग तक प्रेरणा के स्रोत बनकर मानव-मनस को आनंदित करते रहते हैं। जैसे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसामसीह, मुहम्मद साहब आदि। नाम की प्रसिद्धि एक ऐसा बड़ा आकर्षण है जो किसी व्यक्ति को कठिन से कठिन कार्य करने के लिए प्रेरित करती है, और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का बल देती है। नाम हमारे हृदय की कोमल कल्पना तथा उसकी अभिव्यक्ति है। नाम की महत्ता इस श्लोक से व्यक्त है—

"नामाखिलस्य व्यवहार हेतु. शुभावह कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्ति लभते मनुष्यस्तत' प्रशस्तं खलु नाम कर्म ॥[1]

नामों की तरह उपनामों का भी हमारे दैनिक जीवन में बड़ा महत्व है। आज हमारे सम्पूर्ण व्यवहार उपनाम के माध्यम से ही चलते हैं। उपनाम नामों के विकसित रूप हैं। जब एक ही नाम के कई व्यक्ति होते है तो नामों से हमारा काम नहीं चलता। अतः स्पष्ट परिचय देने के लिए गोत्रनाम, पितृनाम, व्यवसाय नाम, पदनाम, पदवी नाम, स्थान नाम आदि जोड़ दिया जाता है। दूसरे शब्दों में उपनाम वह नाम है जो व्यक्ति का स्पष्ट परिचय देता है। उपनाम के अंतर्गत जातिनाम, कुल नाम, व्यवसाय नाम आदि का समावेश होता है। मनुस्मृति में वर्णों के आधार पर पदांत या उपनाम प्रयोग करने की व्यवस्था की गई है—

"शर्मदेवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भू भुजाम्।
भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्यः दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥[2]

तमिलनाडु के नामों तथा उपनामों का अध्ययन करने से पता चलता है कि वहाँ मनुस्मृतिकार की व्यवस्था का पालन नहीं किया गया। अन्य प्रांतों की तुलना में मद्रास में नाम लिखने की प्रथा भिन्न है। मद्रास में पहले पिता नाम तथा अंत में अपना व्यवहार नाम लिखाते हैं। जैसे शंकरन श्री निवासन, रामनाथन, कृष्णन आदि। इसमें शंकरन पिता का नाम तथा श्री निवासन व्यक्तिनाम है। इन नामों में उपनाम का प्रयोग नहीं किया गया। अतः हम कह सकते हैं कि तमिलनाडु में कुछ लोगों के पास उपनाम नहीं हैं। कुछ लोग अपने नामों में पहले निवास-स्थान का नाम, फिर पिता या कुलदेवता का नाम और अंत में अपना नाम लिखते हैं। जैसे कांचीपुरम् नटराजन अन्नादुराय। कुछ लोग सम्प्रदायसूचक नाम का भी प्रयोग करते हैं। जैसे चक्रवर्ती राजगोपाला आचारी। इसमें चक्रवर्ती उपनाम, राजगोपाला व्यक्तिनाम तथा आचारी (स्मार्त वैष्णव) सम्प्रदायसूचक नाम है। इस नाम में पिता के नाम का

१. बृहस्पति, वी. मि. सं. भाग १ पृ० २४१
२. मनुस्मृति १. १०

प्रयोग नहीं हुआ उपर्युक्त वर्णित पद्धति का यह अपवाद है इस प्रकार के अन्य नाम भी मद्रास म प्रचलित हैं जैसे के० ए० शिवरामकृष्ण शास्त्री अग्निहोत्रम रामानुजम ताताचाय वि. रा. रामचन्द्र दीक्षितार आदि। इन नामों में विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। प्रथम नाम में के० ग्रामनाम (करूर), ए० पिता का नाम, शिवरामकृष्ण व्यक्तिगत नाम तथा शास्त्री सम्प्रदाय सूचक नाम है। दूसरे नाम में अग्निहोत्रम् यत्कर्म सूचक नाम, रामानुजम व्यक्ति नाम तथा ताताचार्य वैष्णव सूचक नाम है। इसी प्रकार तीसरे नाम में वि० ग्राम नाम, रा० पिता का नाम, रामचन्द्र व्यक्तिनाम व दीक्षितार सम्प्रदायसूचक नाम है। तमिलनाडु के जो ब्राह्मण वेद तथा शास्त्रों का अध्ययन करते हैं उन्हें शास्त्री कहा जाता है। तमिल के अय्यर तथा अय्यंगार सम्प्रदाय सूचक (वैष्णव) नाम है। आंध्र में भी अय्यर तथा आचारी हैं परन्तु अय्यर का तेलगू रूप 'अय्या' है। आंध्र में अय्यर जाति सूचक (ब्राह्मण) तथा अय्या शब्द सम्मान सूचक है जो किसी भी जाति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जैसे डी० संजीवैया (हरिजन), तथा पट्टाभिसीतारमैया (ब्राह्मण)। मद्रास में कुछ नाम जाति सूचक हैं जैसे मुदलियार, पिल्लै (शूद्र), कल्लर, नाडार, तेवर आदि। आज इन जाति नामों का प्रयोग उपनाम की तरह होता है। जैसे ऊपर बताया जा चुका है कि मद्रास के कुछ लोग उपनामों का प्रयोग नहीं करते, परन्तु जिन लोगों ने स्थानांतरण किया है वे उपनामों को ग्रहण कर रहे हैं। इस तरह उपनामों का विकास हो रहा है।

मद्रास के नामों तथा उपनामों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन नामों में भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि बिखरी तथा छिपी है। आचारी, दीक्षितार, शास्त्री, अग्निहोत्रम् आदि-नाम वैदिक संस्कृति के अवशेष तथा प्रतीक हैं। वैदिक संस्कृति का इतिहास इन नामों में अवकीर्ण है। अय्यर आर्य शब्द का विकसित रूप है। आर्यन शब्द जाति तथा सभ्य व्यक्ति का सूचक है। दूसरे शब्दों मे भारतीय संस्कृति की जड़ें वेदों में निहित हैं और ये नाम तथा उपनाम भारतीय संस्कृति की एकता के सूचक हैं। इन नामों में स्थान तथा भाषा का रूप भी झलकता है। संक्षेप में ये नाम तथा उपनाम हमारी भारतीय संस्कृति के जीवंत स्मारक हैं।

● ●

नये प्रकाशन

समीक्षा

विज्ञान सम्बन्धी दो पुस्तकें :
चित्रमय विज्ञान : वैज्ञानिक खोज
श्री विज्ञान बिहारी

चित्रमय विज्ञान : टेलीफोन
श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव

श्री बालकृष्ण राव द्वारा समीक्षित

दोनों पुस्तकें हल्की-फुल्की (क्रमशः १६ और २८ पृष्ठों की), मोटे, काले टाइप में छपी, अनेक चित्रों से सज्जित, रंग-बिरंगे आवरण से अलंकृत प्रकाशन हैं। 'वैज्ञानिक खोज' तो भूमिकारहित है, पर 'टेलीफोन' के 'आमुख' में लेखक ने बताया है कि उन्होंने उस यंत्र की कहानी सरल भाषा में लिखी' है। यह भी कहा है कि पुस्तक में अनेक चित्र हैं, जिससे' (न कि जिनसे) 'विषय अधिक सरल और रोचक बन गया है'। स्पष्टतः बल सरलता पर है। अतः इस 'सरलता' की बानगी देखनी ही चाहिए। देखें :

माइक्रोफोन एक विद्युत-प्रतिरोध है'; पर्दे में सम्पीड़ित कारबन होता है,' 'यह प्रतिरोध समस्त तारों, कमानियों और सम्पर्क-स्थलों के प्रतिरोध से काफ़ी अधिक होता है, 'फलतः कारबन-कण का कुल प्रतिरोध बहुत कम हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि ओम के नियम के अनुसार परिपथ में विद्युत-धारा की तीव्रता बढ़ जाती है ...'

भाषा क्लिष्ट ही नहीं अव्यावहारिक भी है। विषय का प्रतिपादन भी दुरूह है—कई जगह मैं प्रतिपाद्य विषय को नहीं समझ पाया—नवसाक्षर से तो कुछ अधिक ही पढ़ा-लिखा कहा जाऊँगा।

यह पुस्तक-माला या तो बच्चों के लिए है या नव-साक्षरों के लिए। यह भाषा जिन बच्चों और नव-साक्षरों के पल्ले पड़े उनकी खुदा ही खैर करे। भला हो बच्चों और नवसाक्षरों के नाम पर होने वाली थोक सरकारी खरीद का!

(बालकृष्ण राव)

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या
डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना कृति

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता
संस्करण : प्रथम
मूल्य : ५ रुपये

भाषिक सर्जनात्मक का दर्शन

भाषा की सर्जनात्मकता के प्रश्न को केन्द्र में रखकर किसी भी आधुनिक रचनाकार की सर्जनात्मक दृष्टि की समग्र व्याख्या करना अपने आप मे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाएगा— समीक्ष्य रचनाकार यदि अज्ञेय जैसा प्रतिनिधि और समर्थ तथा सर्जनात्मक भाषा के प्रति सचेत लेखक हो, जिसके बहाने एक विशेष प्रकार के समूचे समकालीन लेखन को अधिक सूक्ष्म और संवेदनशील स्तर पर विश्लेपित करना संभव हो सके—तो यह प्रयत्न और भी महत्वपूर्ण हो उठता है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी इस आलोचनात्मक कृति में अज्ञेय की समग्र रचनात्मकता का विश्लेषण करने के साथ ही व्यापक रूप से आधुनिक साहित्य की संवेदना का विश्लेषण करने की कोशिश की है। यह अलग बात है कि अज्ञेय के महत्त्व के प्रति रामस्वरूप चतुर्वेदी की अतिरिक्त-सजगता, दूसरे पक्ष यानी आधुनिक साहित्य की सवेदना के विश्लेपण में सहायक होने की जगह कही-कहीं बाधक भी सिद्ध हुई है। अज्ञेय के महत्त्व का बोध समीक्षक के मन पर और उसके समूचे अध्ययन पर इस तरह हावी है कि अज्ञेय के विचार-सूत्रों से न वह आगे बढ़ पाता है, न अलग हो पाता है। इसके बाद भी इस 'अध्ययन की अपनी रोचक उपयोगिता है—समसामयिक आलोचना में जो चालू किस्म की पत्रकारिता या फिर रूढ शास्त्रीयता घुसी हुई है—उससे अलग यहाँ एक विशिष्ट कृतिकार की समग्र रचना-प्रक्रिया को अधिक आत्मीयता और सहृदयता के साथ परखने की कोशिश की गई है। समीक्षक की दृष्टि में अच्छी समीक्षा का केन्द्रीय गुण भी यही है कि वह "मूल रचना के अनुभूत, अनुभूत या अर्द्ध-अनुभूत आयामों को पुनर्सृजित तथा प्रकट करें"। उसके इस समीक्षात्मक प्रपत्र का आदर्श भी यही है।

निराला और अज्ञेय की काव्य प्रकृति में, संवेदना या भाषा में मामूली अन्तर नहीं है—फिर भी यहाँ कई स्थानों पर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने दोनों कवियों की समानता निरूपित करने की कोशिश की है—जैसे, शुरू में ही उन्होने स्थापित किया है कि "यह श्रेय इन दोनों कवियो का है कि आधुनिक हिन्दी कविता क्रमशः अधिक खरी, स्वायत्त और कविता होती गई है" या अन्यत्र निराला से अज्ञेय की विशिष्टता आंकने को चेष्टा करते हुए लिखा है "निराला

में जो विद्रोह था वह अज्ञेय में प्रयोग के रूप में दिखाई देता है" या अज्ञेय की श्रेष्ठता उन्हें इसमें दिखाई देती है कि "अपने नये ढंग से सर्जनात्मक शक्ति विकसित करके वे निराला से तुलनीय हो पाते हैं, निराला जिनमें क्लासिकी टक्कर का विधान, रोमान्टिक का विद्रोह, और आधुनिक रचना-पद्धति के बीज सब एक साथ हैं।"

अज्ञेय का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करने के लिए रामस्वरूप चतुर्वेदी उनकी उन्हीं कविताओं को विश्लेषण के केन्द्र में रखना चाहते हैं जिनमें "भावावेग का सहारा लिए बिना प्रधानतः भाषिक सर्जनात्मकता के माध्यम से रचना संभव हुई है।" इस विश्लेषण-क्रम में वे अनुभव करते हैं कि स्वचेतनता आधुनिक युग-बोध की खास विशेषता है और वही यथार्थ के प्रति जटिलतर होते सम्बन्धों को पहचानने की दृष्टि देती है। यह विशेषता ही अज्ञेय की कविता को बिम्बधर्मी बनाती हो तो आश्चर्य नहीं क्योंकि "बिम्ब का मुख्य दायित्व अर्थ की आत्मसंभव और विकसनशील शक्ति को बनाए रखना है न कि दृश्य प्रतिमा का निर्माण करना"—जैसा अक्सर समझा जाता है। भाषा और संवेदना के बीच का तनाव अज्ञेय में "व्यक्तित्व के गहरे स्तरों पर है"—रामस्वरूप चतुर्वेदी की यह स्थापना अपनी जगह सही है क्योंकि संघर्ष या द्वन्द्व या तनाव के लक्षण अज्ञेय की मानसिक चेतना में हैं जरूर—पर इस तनाव के स्वभाव का कुछ दूर तक विश्लेषण किया जाय तो यह समझते देर नहीं लगती कि यह तनाव अन्ततः मानसिक है और स्वयं अज्ञेय के अनुसार "व्यक्ति और परिवेश के बीच सामंजस्य के प्रयत्न का लक्षण है।"

रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार अज्ञेय की कविता-भाषा में अर्थक्षमता का मूल स्रोत "तद्भव शब्दावली" है—वे लिखते हैं—"यह तद्भव शब्दावली की विशेषता है कि वह जीवन को क्षेत्रों में न बाँटकर उसे सम्पूर्णता में लेती है—इसलिए भाषिक शक्ति का मुख्य स्रोत वही है, जनतन्त्र के इस युग में तो और भी अधिक।" यहाँ कई सवाल पैदा होते हैं—क्या शब्दावली की प्रकृति जीवन-दृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में निर्णायक तत्त्व है या यह जीवन को देखने की दृष्टि पर निर्भर करता है कि किस प्रकार की शब्दावली का व्यवहार अपनी संवेदना को व्यक्त करने के लिए किसी कवि या लेखक ने किया है—क्या तद्भव शब्दावली का इस्तेमाल भर करने से अज्ञेय की दृष्टि में सम्पूर्णता और उसकी अनुपस्थिति में दूसरे समकालीन कवियों की दृष्टि में अधूरापन है? इसी तरह जनतन्त्र के युग में भाषिक शक्ति का स्रोत क्या कुछ और होता है—'ये स्थापनाएँ न केवल भ्रामक हैं बल्कि भ्रामक परिणामों की ओर ले भी जा सकती हैं—जैसे इन्हीं विश्वासों से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि अज्ञेय में तद्भव शब्दों का प्रयोग उनकी गैर रोमान्टिक प्रवृत्ति के कारण है—(विचार करने से जान पड़ेगा कि अक्सर इन शब्दों का प्रयोग अज्ञेय ने खास तरह की रोमान्टिक आकांक्षा से प्रेरित होकर ही किया है) या यह स्थापित करना कि "अज्ञेय का तद्भव शब्दावली पर बल देना—ठेठ ग्रामीण जीवन की बिम्बमाला का निर्माण करना—अज्ञेय की मूल भारतीय वृत्ति को निर्विवाद सिद्ध करता है" (क्या गैर तद्भव शब्दों का व्यवहार या शहरी जीवन की बिम्बमाला का निर्माण करना 'अभारतीय वृत्ति' का परिचायक माना जाएगा)। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार अज्ञेय के परवर्ती काव्य में इस गैर रोमांटिक वृत्ति का विकास एक ऐसे रहस्यवाद के

रूप में हुआ है, जो धार्मिक या दैवी नहीं है वरन् जो सर्जनात्मक शक्ति को समझने-समझाने का प्रयास है। अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य, सर्जनात्मक क्षमता आदि सूत्रों की व्याख्या चतुर्वेदी ने इसलिए की है कि वे आधुनिकता और आधुनिक कवि अज्ञेय के कृतिकर्म के भी महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं। यहाँ उपयोगी होता यदि चतुर्वेदी ने सर्जनात्मकता और सहजता सर्जनात्मकता और रहस्य के सम्बन्ध-सूत्रों का विश्लेषण अधिक विस्तार से किया होता।

कवि अज्ञेय की सर्जनात्मक प्रकृति के विश्लेषण से रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जो नतीजे निकाल लिए हैं, वस्तुत: उन्हीं को उनकी कहानियों, उपन्यासों, यात्रा-प्रसंगों और साहित्यिक मान्यताओं के विश्लेषण से भी सम्बद्ध करने की कोशिश की है। चतुर्वेदी के इस तमाम विश्लेषण के अपने अन्तर्विरोध भी हैं। मिसाल के तौर पर 'रंगहीनता' को कहीं वे भाषा की शक्ति और कहीं सीमा मानते हैं। जिस ठंडेपन को वे ग़ैर रोमांटिक वृत्ति मानते हैं और निश्चय ही एक स्तर पर वह है भी-पर अज्ञेय की ही कविता में वही एक तरह की 'रोमांटिक समरसता' का लक्षण है, जो समर्पण और वास्तविक समस्याओं या स्थितियों से पलायन के कारण ही सुलभ हो पाती है—इस ओर चतुर्वेदी की दृष्टि नहीं है—क्योंकि सब मिलाकर उन्हें सन्तोष इस बात का है कि "आधुनिक रचना की समस्या से सर्जनात्मक स्तर पर जूझने का हिन्दी के साहित्य के इतिहास में पहला महत्त्वपूर्ण उपक्रम अज्ञेय का है।"

—परमानन्द श्रीवास्तव

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि
श्री सत्यपाल चुघ का शोध-प्रबंध

प्रकाशक : डिमाई प्रकाशन इलाहाबाद
संस्करण : प्रथम
मूल्य : ३५ रुपये

'प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि' डॉ० सत्यपाल चुघ के दिल्ली विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का प्रकाशित रूप है। पिछले दो दशकों व विभिन्न विश्वविद्यालयों में हुए शोध कार्य ने हिंदी कथा-समीक्षा के विकास में अभूत पूर्व योग दिया है। भले ही यह कहना किसी हद तक ठीक हो कि उस शोध-प्रक्रिया और प्रणाली की अपनी सीमायें भी रही हैं। सामान्यत इन शोध प्रबन्धों में या तो पिष्ट-पेषण की प्रवृत्ति मिलती है या फिर विषय के प्रति सुगम्भीर अध्ययन-अनुशीलन एवं समुचित दिशा-निर्देश के अभाव में उसे हल्के हाथों से छुआ गया है और इसी कारण शोध की वास्तविक अपेक्षाओं को पूरा करने में वे असमर्थ रहे हैं। लेकिन इसके बावजूद हिंदी कथा-साहित्य पर कई-एक ऐसे शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं जिनका स्तर असामान्य रूप से सन्तोषजनक एवं दृष्टि विज्ञान सम्मत रही है। काफी पहले डॉ० लक्ष्मी-

नारायण लाल ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी कहानियों की शिल्प-विधि पर शोध कार्य किया था। उपन्यास के क्षेत्र-विस्तार को देखते हुए यह उचित ही मालूम होता है कि डॉ० गुप्त ने सम्पूर्ण हिंदी-उपन्यास को न लेकर प्रेमचंदोत्तर उपन्यास को ही अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया है। यूँ भी शिल्प की दृष्टि से प्रेमचंदोत्तर उपन्यास ही अधिक वैविध्यपूर्ण और प्रयोग बहुल रहा है। इस सीमित काल-खण्ड के चुनाव में भी एक अतिरिक्त सतर्कता यह बरती गई है कि समय की सीमा का स्पष्ट निर्देशकर दिया गया है, जैसा कि सुषमा धवन ने भी अपने शोध-प्रबन्ध में किया है। चूंकि डॉ० एस. एन. गणेशन ने ऐसा नहीं किया एक अनिवार्य अस्पष्टता से वह बच नहीं सके है। अपने शोध-प्रबन्ध के लिए शोध कर्ता ने केवल १९५६ तक के उपन्यासों को लिया है, लेकिन शोध प्रबन्ध को अधिक पूर्ण और उपयोगी बनाने के लिए इसके बाद के महत्वपूर्ण उपन्यासों को चर्चा 'उत्तर प्रेमचंद उपन्यास शिल्प' शीर्षक अध्याय में कर दी गई है।

यदि भूमिका और परिशिष्ट वाले खण्डों को छोड़ दिया जाये तो इस शोध-प्रबन्ध को बारह अध्यायों मे बांटा गया है। अपने विवेचन के लिए शोध-कर्त्ता ने चौंतीस उपन्यासों को चुना है और उनपर सुविस्तृत चर्चा के माध्यम से सम्पूर्ण प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यास की उपलब्धियों और सीमाओं के आकलन का सराहनीय कार्य किया है। शोध प्रबन्ध का पहला अध्याय 'उपन्यास की शिल्पविधि' उसके विषय के लिए एक पीठिका जैसा है, जिसमें शोधकर्त्ता ने शिल्पविधि की व्याख्या करते हुए अन्य साहित्य-विधाओं से उपन्यास के साम्य-वैषम्य का स्पष्टीकरण किया है। फिर उसने उपन्यासों का वर्गीकरण कर के अपने चुने गए उपन्यासों पर वर्गानुसार विस्तृत चर्चा की है। 'वर्गीकरण' शीर्षक अध्याय में वर्गीकरण की व्यवहारिक कठिनाई की समस्या उठाते हुए भी ऐसा करने की विवशता पर प्रकाश डाला है। उसने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि यह वर्गीकरण अध्ययन की सुविधा के ख्याल से ही किया गया है। आंचलिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए उसने क्रमशः 'देश प्रधान' और 'देश काल प्रधान' उपन्यासों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है। लेकिन ऐसा लगता है कि इस नामकरण के मूल में सुविधा से अधिक नवीनता का विचार ही अधिक रहा है, क्योंकि आंच-लिक और ऐतिहासिक उपन्यासों से जिस प्रकार के उपन्यासों का बोध होता है हिंदी का सामान्य पाठक भी उसे समझता है, जब कि अपने नामकरण की व्याख्या स्वयं शोधकर्त्ता को करनी पड़ी है। इसी के अन्तर्गत शिल्प प्रधान वर्ग में उसने परम्परा से अलग हटकर किए गए नए प्रयोगों के समाहार की बात कही है। कुल मिलाकर यह वर्गीकरण अधिक पूर्ण और विवेक सम्मत है क्योंकि "कम-से-कम इसमें उपन्यासों के केन्द्रीय तत्व को खोजा जा सकता है।" (पृ० सं० १२२) कथानक प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत 'मनुष्य के रूप', 'चलते-चलते' और 'सागर लहरें और मनुष्य की चर्चा की गई है। अन्तरंग चरित्र प्रधान उपन्यासों, जिसे सामान्यतः आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा है, में 'सुनीता' 'शेखर: एक जीवनी और 'सन्यासी' की चर्चा की गई है। अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत उन उपन्यासों की चर्चा है जिनके केन्द्र में चरित्रों के अन्तर्गत द्वन्दों की अपेक्षा उनका परिवेश अधिक रहा है। ऐसे उपन्यासों में 'त्याग-पत्र', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'गिरती दीवारें' और 'सेठ बांके मल'

को लिया गया है उद्देश्य प्रधान उपन्यासों में चित्रलेखा वया का घोंसला और साँप पथ की खोज जहाज का पंछी बूंद और समुद्र की चर्चा की गई है आंचलिक उपन्यासों मे, जिन्हें शोधकर्त्ता ने देश-प्रधान उपन्यास कहा है, 'बलचनमा' 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'बहती गंगा' और 'बाबा बटेश्वर नाथ' को लिया है। देशकाल प्रधान या ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत 'झाँसी की रानी', 'वैशाली की नगर वधू', 'एवं 'मुर्दों का टीला' को परिगणित किया गया है। वर्गीकृत अन्तिम अध्याय मे ऐसे उपन्यासों को चर्चा है जो अपनी शिल्प-प्रधानता या प्रयोग-धर्मिता के लिए ही विशेष रूप से चर्चित रहे हैं। इन उपन्यासो मे 'नदी के द्वीप', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'काठ का उल्लू और कबूतर', डूबते मस्तूल', चादनी के खण्डहर' एवं 'सोया हुआ जल' को लिया गया है। शोध-कर्त्ता के द्वारा वर्गीकृत इन उपन्यासों की इस विस्तृत चर्चा के कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं। सबसे पहले तो यह इससे शोध कर्त्ता के मूल उद्देश्य को समझने में सहायता मिलती है और दूसरे यह कि उसके कार्य की वास्तविक प्रकृति को सही तौर पर समझा जा सकेगा—इससे उसके कार्य की व्यापकता एवं स्तर का अनुमान भी कदाचित लगाया जा सके।

इतने बड़े और विशाल कार्य शोध-प्रबन्ध में विचार और दृष्टिकोण सम्बन्धी वैषम्य की चर्चा का कोई अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि विचारों की एक रूपता जड़ता की सूचक ही अधिक है और शोध की स्वभाविक दिशा एकदम इसके विपरीत होती है। इस शोध कर्त्ता के आगे कोई पूर्वाग्रह नहीं रहा है। कृतित्व और चिंतन दोनों ही धरातलों पर उसने स्थिति का बडा सार्थक विश्लेषण किया है और पक्षधरता की राह से भरसक बचते हुए भी विवाद ग्रस्त चीज़ों पर उसने अपना स्वतन्त्र अभिमत दिया है, जैसा कि 'सुनीता' और 'दिव्या' जैसी परस्पर विरोधी और विवादाक्रांत कृतियों की चर्चा से स्पष्ट है, और उसकी प्रवृत्ति बहुधा ही निष्कर्षों की ओर रही है।

लेकिन इतना सब होने पर भी कई तरह की भूले हैं, जिनके कारण इस ग्रंथ के बारे मे बनती हुई धारणा बुरी तरह से प्रभावित होती है और जो शोध की अपेक्षित गम्भीरता को साघातिक चोट पहुँचाती हैं। इस प्रकार की भूलों मे सबसे पहले हमारा ध्यान तथ्यात्मक भूलो की ओर जाता है। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'सेठ बाँके मल' के बारे में लिखा गया है, "इसमें एक वट वृक्ष का सजीव मानवीय करण किया गया है...." (पृ० सं० ७७) लेकिन ऐसा नही है। 'सेठ बाँके मल' में आगरा जिले की बोली में वहाँ के व्यवसायिक वर्ग की कथा है। वटवृक्ष का यह कथित मानवीय करण नागार्जुन के उपन्यास 'बाबा बटेश्वर नाथ' में हुआ है। इसी प्रकार का एक उदाहरण 'सुनीता' को लेकर दिया जा सकता है। उसका प्रकाशन वर्ष' ३४ दिया गया है—'किन्तु उनकी (जैनेन्द्र कुमार) ख्याति का आदि आधार १९३४ में प्रकाशित दूसरा उपन्यास 'सुनीता' है...." (पृ० सं० २०७) लेकिन उसी पृष्ठ पर ज़रा ही आगे 'गोदान' की तुलना के सिलसिले में उसका रचनाकाल'३५ बताया गया है : "यह विचित्र संयोग था कि 'सुनीता' के रचना-काल (१९३५) के पास (१९३६में) ही हिन्दी के महत्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' की भी रचना हुई...." (पृ० सं० २०७) स्खलन के यह उदाहरण निश्चय ही शोध-कर्त्ता की

लापरवाही के परिणाम हैं और इससे शोध के स्तर को असाधारण क्षति पहुँची है। इसी प्रकार की तथ्यात्मक भूलें कुछ अलग ढंग की भी हैं जैसे 'काँपता हुआ दरिया' और 'कितने चौराहे' को क्रमशः 'काँपता दरिया' और 'कई चौराहे' लिखा गया है। 'सुनीता' को चरित्र प्रधान उपन्यास मानने के समर्थक आलोचकों में शिवनाथ का भी नाम है। शोध प्रबन्ध की पाद टिप्पणी में उनके लेख को 'आलोचना'—११ में प्रकाशित लिखा गया है जब कि वह लेख 'आलोचना' के उपन्यास विशेषांक अंक १३ में प्रकाशित हुआ है। 'हिंदी गद्य साहित्य' के लेखक का नाम रामनंद तिवारी लिखा गया है, जबकि उसे रामचन्द्र तिवारी होना चाहिए था। (पृ० सं० २७३) 'दिव्या' का प्रकाशन-काल कहीं १९४५ दिया गया है और कहीं १९५४ लेकिन यह सम्भवतः मुद्रण सम्बन्धी असावधानी का उदाहरण है। शोध प्रबन्ध के पहले अध्याय 'उपन्यास की शिल्प विधि' में उपन्यास और कविता की तुलनात्मक चर्चा के सिलसिले में लिखा गया है, "प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासकारों ने चमत्कार चातुर्य के लिए काव्य-तत्व का उपयोग किया है...." (पृ० सं० ७३) इससे सम्बन्धित सातवीं पाद टिप्पणी में ऐसे उपन्यासों के नामों में 'इरावती' के साथ 'दिव्या' का नाम भी दिया गया है। 'दिव्या' का प्रकाशन १९४५ में हुआ है—फिर वह प्रेमचंद पूर्व उपन्यास कैसे हो गया ? यदि उनके आरम्भिक प्रयासों को छोड़ दिया जाए तो यशपाल का नाम ही प्रेमचंद की मृत्यु के बाद की घटना है। कहीं-कहीं पाद टिप्पणियों का क्रम भी ग़लत है यानी जो पाद टिप्पणी जहाँ होनी चाहिए वह वहाँ नहीं है—जैसे पृष्ठ ४७ पर टिप्पणी ५ है ही नहीं !

अंत में कुछ शब्द इस शोध-प्रबन्ध की भाषा को लेकर भी कहना चाहूँगा। इसमें जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, भाषा के वर्गीकरण पर बल देने वाले आलोचक शायद उसे शुद्ध भाषा का नमूना कहना चाहेंगे। लेकिन भाषा की यह तथा कथित शुद्धता एवं समास बहुलता निश्चय ही शोध-प्रबन्ध के प्रवाह में अवरोध उपस्थित करती है। 'चरितार्थार्थ', 'सुदिशोन्मुख' 'विश्वासोत्पन्न' एवं 'संवेदनाद् बोधन' जैसे शब्द-प्रयोग अपवाद मात्र नहीं हैं वे शोधकर्त्ता की सामान्य प्रवृत्ति के ही उदाहरण हैं जिनसे हिंदी की एक स्तरीय आलोचना-भाषा के अभाव की ध्वनि ही नहीं निकलती सम्भवतः ऐसा अनुमान भी होता है कि इसे शोध के स्तर में गंभीरता के लिए अनिवार्य भी समझा जाता है। लेकिन मेरा व्यवहारिक अनुभव इसके अनुकूल नहीं बैठता। बहुत से स्थलों पर यूं भी भाषा बड़ी लचर है, व्याकरण की दृष्टि से वह त्रुटिपूर्ण भी है और सबसे बड़ी बात तो यही है कि उसका कोई स्वर और निजी व्यक्तित्व ही नहीं है। अंग्रेजी उद्धरणों के अनुवाद की भाषा तो और भी प्रवाहहीन एवं दोषपूर्ण है। प्रसिद्ध विदेशी लेखकों एवं दार्शनिकों के नामों का भी हिंदी में अभी कोई स्तरीय और सर्वमान्य उच्चारण नहीं है, इस स्थिति पर क्षोभ ही प्रकट किया जा सकता है। यहाँ भी देकार्ते को 'डेस्कार्टेज' और प्रस्त को 'प्राउस्त' लिखा गया है !

परन्तु इस सारी चर्चा के बाद यदि मैं अपनी प्रतिक्रिया को दोहराने की कोई विवशता महसूस करूँ तो यही कहना चाहूँगा कि डॉ० सत्यपाल चुघ के इस शोध प्रबन्ध को मैंने बड़े श्रम और धैर्य से पढ़ा है और कम-से-कम मेरे देखने में अभी तक कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं आया

जो इतने नये और महत्वपूर्ण उपन्यासों की एकत्र और सुविस्तृत चर्चा में प्रवृत हुआ हो शोधकर्त्ता के अपरिमित श्रम और शोध-निष्ठा पर मैं उसे हार्दिक बधाई देना चाहूँगा।

—मधुरेश

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक
डॉ० धनंजय की आलोचना कृति

प्रकाशक : स्मृति प्रकाशन, इलाहबाद
संस्करण : प्रथम, १९७०
मूल्य : पाँच रुपये

आठ अध्यायों की यह छोटी सी पुस्तक प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की दो धरातलो पर समीक्षा प्रस्तुत करती है। पहला धरातल इतिहास की सापेक्षता का है जिसके अन्तर्गत ऐतिहासिक नाटक का स्वरूप, ऐतिहासिक नाटकों का पूर्वरूप और प्रसाद, प्रसाद का ऐतिहासिक दृष्टि कोण तथा उपलब्धियाँ और ऐतिहासिक नाटकों का संदर्भ आदि ये चार अध्याय परिकल्पित किये गये हैं। इनमें से प्रथम तीन तो पुस्तक के प्रारम्भ में एक के बाद एक कर के इसी क्रम में आते हैं, लेकिन चौथा और अन्तिम पुस्तक का समापन अध्याय है। प्रथम तीन और इस अन्तिम अध्याय के बीच दूसरे धरातल 'नाट्य शिल्प' की सापेक्षता में प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। उसे रचना तंत्र और नाट्य शिल्प, नाटकीय योजना और कथानक का गठन, पात्र : चित्रण का स्वरूप तथा गीति-तत्व और नाटक की समस्या आदि शेप चार अध्यायों में विस्तार दिया गया है। मूल्यांकन के इस दोहरे आधार को या तो साथ-साथ प्रत्येक अध्याय मे निभाया जाय और प्रसाद के नाट्यशिल्प के विभिन्न तत्वों में इतिहासतत्व के निर्वाह को परखा जाय और या फिर दोनों आधारों के अनुरूप पुस्तक को सीधे-सीधे दो खंडों में बाँट दिया जाय तभी उसकी योजना में दिखायी पड़ने वाला यह व्यतिक्रम दूर किया जा सकता है।

इतिहास और साहित्य दोनों ही अपने-अपने स्वरूपों में पुनर्गठन के परिणाम हैं। घटित होने के दूसरे ही क्षण प्रत्येक घटना अतीत के गर्भ में सागर में बूंद की भाँति समा जाती है। उसे घटते हुए जिन्होंने देखा है उनके अपने वर्णन एक दूसरे से भिन्न और विरोधी होते हैं। अत इन वर्णनों के आधार पर घटना के यथार्थ स्वरूप की कल्पना करके जो रूपरेखा तैयार की जाती है, वह उसका संभावित पुनर्गठन ही होता है और उसे ही इतिहास कहा जाता है। इतिहास का सत्य अथवा यथार्थ इस प्रकार एक सर्वथा निरपेक्ष यथार्थ न होकर एक सापेक्ष यथार्थ है जो इतिहासकार की अपनी दृष्टि के अनुसार तथ्यों के विभिन्न और परस्पर विरोधी वर्णनों के बीच कुछ को छोड़कर कुछ के तर्कपूर्ण चुनाव पर निर्भर करता है। यह दृष्टि चूंकि वर्तमान की सापेक्षता से बनती हैं अतः हर इतिहास एक सीमा तक समसामयिक ही हुआ करता है। वर्तमान ही उसे संदर्भित करता है। उसकी निरपेक्षता इतिहासकार की दृष्टि की निरपेक्षता के बराबर ही हो सकती है न कम न ज्यादा। इसके अतिरिक्त अतीत की पुनर्गठित

घटनायें एक दूसरे से कार्य-कारण सम्बन्धों की एक तर्कपूर्ण योजना द्वारा भी बँधी होती हैं और यह ऐतिहासिक यथार्थ की दूसरी सापेक्षता है। इस दोहरी सापेक्षता की कसौटी पर कस कर ही इतिहासकार अपनी आधारभूत सामग्री में से सत्यासत्य का निर्णय करके ऐतिहासिक यथार्थ का पुनर्निर्माण करता है। साहित्यिक यथार्थ भी ऐतिहासिक यथार्थ की भाँति एक पुनर्गठन ही हुआ करता है। साहित्यकार अपने तथा दूसरों के जीवन में आने वाली विभिन्न और परस्पर विरोधी अनुभूतियों का चयन करके अपनी दृष्टि तथा कार्य-कारण संबंधों की सापेक्षता में कल्पित चरित्रों का एक ऐसा रूपाकार तैयार करता है कि अनुभूति की प्रगाढ़ता के कारण कृत्रिमता सजीवता में बदल जाती है और जड़ता चेतना में। साहित्यकार की सामग्री उसके साक्षात्कार में आनेवाली वैयक्तिक अनुभूतियाँ हैं, जिन्हें वह जीवन के स्तर पर घटित करने की चेष्टा करता है, जब कि इतिहासकार की सामग्री अतीत की घटनाओं के चतुर्दिक चल पड़ने वाली वे समस्त प्रचलित परम्पराएँ और कहानियाँ हैं, जिनमें ऐतिहासिक यथार्थ एक दृष्टि और कार्य-कारण सम्बन्धों की योजना के अभाव में बिखरा रहता है। अतीत के साथ एक-रूपता का आभास यदि ऐतिहासिक यथार्थ का बल है, तो जीवन के स्तर पर होने वाली अनु-भूतियों के साथ एकरूपता का आभास साहित्यिक यथार्थ का। कभी-कभी संयोगवश ऐतिहासिक सामग्री के बीच जीवन के स्तर पर निर्मित साहित्यिक यथार्थ भी किम्वदन्तियों और कथाओं के अपरिमार्जित स्वरूप में सुरक्षित रह जाता है। वैयक्तिक जीवन के इस साहित्यिक यथार्थ का इतिहास के लिए कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि इतिहास जीवन को व्यष्टि के स्तर पर केवल उसी सीमा तक चित्रित करता है, जिस सीमा तक वह समष्टि के स्तर पर उसके चित्रण के लिए आवश्यक है। किन्तु साहित्य के लिए उसका दोहरा महत्व है। एक तो वैयक्तिक जीवन के स्तर पर अनुभूतियों का बना बनाया केन्द्रीकरण उसे मिल जाता है जिसमें थोड़े बहुत परिमार्जन के बाद आनुभौतिक एकरूपता का आभास उत्पन्न हो जाता है, और दूसरे समष्टिगत अतीत के रूपाकार की एक कड़ी होने के कारण अतीत से उसकी एक रूपता का आभास उसमें ऐति-हासिक यथार्थ के बल का भी संचार कर देता है। साहित्य की ऐतिहासिक कृतियों का यथार्थ इस प्रकार साहित्यिक यथार्थ में ऐतिहासिक यथार्थ का श्लेष प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक नाटकों के संदर्भ में साहित्य और इतिहास के पारस्परिक संबंधों को प्रदर्शित करने की इस पुस्तक में की गई चेष्टा उपर्युक्त वस्तुस्थिति का केवल परिधियों पर ही स्पर्श करती है। यही कारण है कि इतिहास की अनेक परिभाषाओं के बावजूद भी इतिहास का स्वरूप उभर कर सामने नहीं आ पाता। वह 'अर्थ, धर्म, काम मोक्ष के साधन' से लेकर 'अतीत के सत्यों की खोज' और 'घटनाओं के कारण तत्व का अध्ययन' तक है। घटनाओं के कारण तत्व का अध्ययन मानते हुए भी इतिहासकार को घटना की अन्तर्वाही शक्तियों को पकड़ने में असमर्थ अतएव उसके बाह्य स्वरूप तक ही सीमित बताया गया है। इतिहासकार के प्रयत्नों द्वारा संयोजित इस बाह्यता को अन्तरिकता प्रदान करके उसमें प्राण फूँकने का श्रेय नाटककार को दिया गया है। लेकिन ऐसा कहना लेखक के अन्यत्र कहे हुए अपने ही दूसरे कथन का खण्डन है जहाँ वह लिखता है "कोई घटना घटित हुई, यह बता कर ही इतिहास कार चुप नहीं रह जाता, बल्कि यह खोज भी करता है कि वह क्यों घटित हुई।" यह खोज

क्या घटनाओं की बाह्यता को आन्तरिकता प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं है ? यहाँ पर भेद वस्तुत: बाह्यता और आन्तरिकता का है ही नहीं। भेद तो समष्टि और व्यष्टि का है। समष्टि के दृष्टि कोण से अतीत का निरूपण करने वाले इतिहास के लिए व्यष्टि की गहनता में संग्रथित आनुभौतिक जीवन का कोई महत्व नहीं है। इतिहास वैयक्तिक स्तर पर घटने वाली घटनाओं का विवरण नहीं हुआ करता। व्यष्टि तत्व यदि इतिहासकार के लिए प्रासंगिक है तो समष्टि तत्व नाटककार के लिए।

लेखक ही की धारणा कि हिन्दी में ऐतिहासिक नाटकों का श्री गणेश १९वीं शताब्दी के पुनर्जागरण और सुधारवादी आन्दोलनों के प्रभाव में भारतेन्दु से प्रारम्भ होता है ठीक ही प्रतीत होती है। अवमानित, पददलित और टूटते हुए तत्कालीन सामाजिक ढाँचे में तिरस्कृत जीवन व्यतीत करने वाली भारतीय चेतना ने एक बार फिर पीछे मुड़कर देखा और अतीत के गौरवमय अंशों को देखकर उसका खोया हुआ आत्मविश्वास उसे पुनः प्राप्त होने लगा। आत्म बोध की इस प्रक्रिया में सुधारवादी आन्दोलन, राजनीतिक सक्रियता, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ तथा साहित्य-सर्जना एक साथ सहायक सिद्ध हो उठे। उद्देश्य की प्रबलता और पूर्व कल्पना के कारण इस समय की साहित्य-सर्जना कुछ पारदर्शी सी हो गयी है कृतियों की कलात्मकता उद्देश्य की औपदेशिकता को पूर्णतया ठेक कर अपने प्रथम उन्मेष में उसे 'कान्ता सम्मित' नहीं बना पायी। हिन्दी के प्रारम्भिक ऐतिहासिक नाटकों में यह बात विशेष रूप से दृष्टि गोचर होती है। प्रसाद में आकर पहले-पहल ऐतिहासिक नाटक अपने कलात्मक स्वरूप से मण्डित होकर सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं एवं समाधानों के साधन मात्र न होकर स्वय में एक साध्य बनते हैं। प्रसाद के पूर्व ऐतिहासिक नाटकों की कथा वस्तु मध्यकालीन इतिहास के राजपूती गौरव से प्रधानतया चुनी गयी किन्तु यह गौरव बुझती हुई दीपशिखा की आखिरी लौ का गौरव था। परास्त मनोवृत्ति की अन्तिम आभा। प्रसाद ने और गहराई में प्रवेश करके भारतीय इतिहास के उन विस्मृत पटलों को भी उधेड़ कर सामने रखने की चेष्टा की जो भारत की राष्ट्रीय चेतना का अपना युग था। भारतीय इतिहास की मध्यकालीनता को जन्म देने वाले मुस्लिम आक्रमणकारी अभी उसे पददलित न कर सके थे। यहीं नहीं उसने स्वयं सिकन्दर जैसे विश्व-विजेता और शक्ति तथा सत्ता के अद्वितीय केन्द्र रोम का तहस नहस कर डालने वाले हूणों के भी दांत खट्टे किये थे और अपने आत्म सम्मान की रक्षा की थी। अजात शत्रु की कूटनीति और चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य के राजनीतिक कौशल ने देश की सुरक्षा के ही नहीं अपितु सशक्त साम्राज्य स्थापना के सफल प्रयोग भी किये थे। हिन्दू भारत के उत्कर्ष, गौरव एवं पतन का अपना इतिहास है और यह मध्य काल परास्त गौरव की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत और प्रभावशाली है। प्रसाद ने भारतीय इतिहास के इस तथ्य को पकड़ा और ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने इसे प्रस्तुत करने की चेष्टा की, एक उपदेशक के रूप में नहीं बल्कि कलात्मक सौन्दर्य से युक्त एक सलोनी और हृदयग्राही कलाकृति के सृष्टा के रूप में। युगबोध की अतीत के ऐतिहासिक एवं अनुभूति के साहित्यिक यथार्थ के स्तर पर संश्लेषित सृष्टि ही प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का अद्भुत आकर्षण और नयापन है।

प्रसाद का ऐतिहासिक दृष्टिकोण इस प्रकार एक संश्लिष्ट दृष्टि कोण है। उसकी

कलात्मकता में व्यष्टि और समष्टि, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक यथार्थ, अतीत और वर्तमान सार तथा संदर्भ एक साथ ही अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं। एक के साथ दूसरे के प्रासंगिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही प्रसाद का दोहरापन है और यही उनकी कला की गरिमा। इतिहास और नाटकीयता दोनों ही उनकी कला में ऐसी घुल मिल गयी हैं कि उनके अस्तित्व की पृथकता का पता लगाना तक कठिन हो गया है। यही उनकी उपलब्धि है। ऐतिहासिक नाटकों के तुलनात्मक संदर्भ में रखकर देखने पर प्रसाद की यह विशेषता पग-पग पर स्पष्ट होती है। पुस्तक के अन्तिम अध्याय में लेखक ने इसी बात का एक सफल प्रयास किया है।

प्रसाद की कला-निरूपण के लिए लेखक ने बीच के जिन चार अध्यायों की सृष्टि की है, उनमें उसकी आलोचनात्मक दृष्टि का पैनापन और मूल्यांकन-क्षमता अपनी प्रौढ़ता के साथ सामने आयी है, लेकिन समीक्षा ऐतिहासिकता से कट कर साहित्यिक सी हो गयी है। ऐसा लगता है कि प्रसाद का ऐतिहासिक दृष्टि कोण उनकी रचना-शिल्प से पूर्णतया संपृक्त नहीं है और इसीलिए रचना-शिल्प का विवेचन करते समय लेखक उन रचनाओं की ऐतिहासिकता के विषय में सब कुछ भूल गया है। अच्छा होता यदि रचना-शिल्प के हर पहलू में ऐतिहासिकता के निर्वाह के लिए प्रसाद के प्रयत्नों को रेखांकित करते हुये पुस्तक का यह अंश लिखा जाता।

हिन्दी जगत में इस प्रकार की विषय-वैशिष्ट्य से युक्त पुस्तक का प्रवेश स्वागत का विषय है और इसके लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

—डॉ० ओमप्रकाश

मानस अनुशीलन :
सं० सुधाकर पाण्डेय

प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी काशी
संस्करण : प्रथम, २०२४ वि०
मूल्य : १६.७५

मानस-अनुशीलन मुख्यतः स्व० शम्भुनारायण के रामचरित मानस के पाठ शोध विषयक उन पाँच लेखों का संग्रह है जो समय-समय पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रंथ का प्रकाशन तीन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर किया गया प्रतीत होता है। एक, स्वर्गीय श्री चौबे जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना, मानस के विषय में सभा द्वारा किए गए कार्य का विवरण प्रस्तुत करना तथा स्वर्गीय चौबे जी द्वारा सम्पादित रामचरित मानस की भूमिका प्रस्तुत करना। ग्रन्थ में भूमिका एवं परिशिष्टों के रूप में तुलसी तथा रामचरित मानस के विषय में अन्य उपयोगी सामग्री भी प्रकाशित की गई है।

बात यों हुई कि सभा के रामचरित मानस के संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् काशिराज का प्रसिद्ध संस्करण प्रकाशित हुआ और उसमें स्वर्गीय चौबे जी विजयानन्द त्रिपाठी गीता

प्रेस तथा डा० माता प्रसाद गुप्त के संस्करणों की चर्चा **वैज्ञानिक और समीक्षात्मक** संस्करणों मे की गई थी। इस ग्रन्थ में (काशिराज संस्करण) सभा के संस्करण के विषय में 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका रखने का प्रयास किया गया है—यह टिप्पणी की गई की (का० सं० पृ० २४-२५)। यह टिप्पणी कुछ खटकने वाली और अनुदार थी। काशिराज तथा सभा के संस्करणो मे प्रायः एक ही शाखा की मानस की हस्तलिखित प्रतियों को आधार मान कर पाठ-शोध किया है।

'मानस-अनुशीलन में काशिराज की इस अनुदार टिप्पणी का उल्लेख किया गया है, (पृ० २०) तथा दोनों संस्करणों के वर्तनी भेद तथा पाठ प्रकाशित करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, कि जो उपलब्धियाँ काशिराज संस्करण की हैं वे सभा के संस्करण मे, जिसका सम्पादन स्वर्गीय चौबे जी ने किया है, पहले से विद्यमान हैं।

मानस-अनुशीलन की भूमिका में रायकृष्णदास का यह संकल्प सचमुच महनीय है— "..........**मानस की चारसौवीं जयन्ती के अवसर पर राष्ट्र को मानस का ऐसा संस्करण प्राप्त हो सके जो वैदिक संहिताओं की भाँति अक्षर-प्रत्यक्षर में बिन्दु-बिसर्ग तक में निर्भ्रान्त और निर्विवाद हो। बिना अत्युक्ति के मानस हिन्दी का वेद है, उसका ऐसा संस्करण निकाल कर ही हमें चैन लेना चाहिए।**" 'मानस' के प्रत्येक विद्यार्थी का यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि सभा के इस सत् संकल्प में यथाशक्ति अपना योगदान करे। प्रस्तुत समीक्षा मे **'मानस-अनुशीलन'** के साथ-साथ सभा द्वारा प्रकाशित मानस की भी समीक्षा इसी दृष्टि से की जा रही है।

ग्रन्थ के पहले निबन्ध का शीर्षक है—'मानस-अनुशीलन' जिसमें स्वर्गीय चौबे जी ने मानस की उन प्राचीन छपी हुई पोथियों, टीकाओं तथा शंका-समाधान विषयक पुस्तकों का ब्यौरा बड़े परिश्रम से तैयार करके प्रस्तुत किया है, जो उन्हें अपने दीर्घ अध्ययन काल में उपलब्ध हुई थीं।

दूसरा निबन्ध है—"मानस-पाठ-भेद"। इसमें प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के पाठ-भेद प्रकाशित किए गए हैं।

यह कार्य गीताप्रेस, काशिराज तथा डॉ० माता प्रसाद गुप्त के द्वारा भी किया गया है और मानस के संस्करण में ही पाठ-भेदों को स्थान दिया गया है। मानस के पाठ-भेद प्रस्तुत करने के पूर्व इस निबन्ध में कुछ पाठ-भेदों का अनुलोचन विस्तार पूर्वक किया गया है जिन पर यहाँ विचार कर लेना अपेक्षित है।

१—**बायस** पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥१।५। सभा 'बायस' का दूसरा पाठ 'पायस' भी है और 'पायस' इसलिए स्वीकार किया है 'बायस' और 'कागा' में पुनरुक्ति दोष आता है। काशिराज संस्करण में 'पायस' ही ग्रहीत है स्वर्गीय चौबे जी ने 'पायस' के स्थान पर 'बायस' पाठ की सटीकता पर अपने विचार व्यक्त किए हैं और अपने संस्करण में उसे ही स्वीकार किया है। मेरे विचार से 'पायस' के स्थान पर, 'बायस' पाठ ही अधिक युक्तियुक्त है। 'होंहि निरामिष कबहुँ कि कागा।' वस्तुतः एक लोकोक्ति के रूप में कवि ने प्रयुक्त किया है अति अनुरागा की 'बायस जैसे सम्भ्रान्त

पर्याय द्वारा की गई है। अनुराग तथा सम्मान मिलने पर दुष्ट अपनी कुटेंव नहीं छोड़ते इसकी संपुष्टि 'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा' इस लोकोक्ति के द्वारा की गयी है, अतः 'बायस' तथा 'कागा' की पुनरुक्ति सोद्देश्य है। गीता-प्रेस तथा डा० माता प्रसाद गुप्त ने भी 'बायस' पाठ ही स्वीकार किया है।

२—एहि बधि बेगि सुभट सब धावहु। खाउ भालु कपि जहँ तहँ पावहु॥ ६।३३। सभा

'एहि बधि' का दूसरा पाठ-भेद 'एहि बिधि' है। इस पाठ-भेद के विषय में निबन्ध में टिप्पणी है—'सभी बाजारू प्रतियों में 'एहि बिधि' पाठ है जिसका कोई युक्ति संगत अर्थ ही नहीं बैठता जो पूर्वापर अनुरूप हो।" लेखक का आशय है कि रावण की आज्ञा यह है कि एहि अर्थात् अंगद को मार कर शीघ्र ही दौड़ो और जहाँ-कहीं कोई भालू बन्दर मिले उसे खा डालो। इस लिए 'बधि' पाठ ही युक्ति संगत और पूर्वापर अनुरूप है। लेकिन बात यहाँ समाप्त नहीं होती इस युक्ति का पूर्वापर संबन्ध इस घटना से है—

कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी॥ डोलत धरनि सभासद खसे। चले भागि भय मारुत ग्रसे। अंगद ने आवेश में आकर इतनी जोर से दोनों भुजाओं को जमीन पर पटका कि धरती काँप गई, सभासद अपने आसनों से च्युत होगए, स्वयं रावण सिंहासन से गिरते-गिरते सँभला किन्तु अपने मुकुटों को न सँभाल पाया। गिरे हुए मुकुटों में से कुछ तो अंगद ने अपने शिविर की ओर फेंक दिए और कुछ रावण ने अपने शिर पर धारण कर लिए। इस खीजभरी मनःस्थिति में उसके मुँह से निकला—"धरहु कपिहि धर मारहु" किन्तु जैसे ही उसकी दृष्टि अपने योद्धाओं पर पड़ी उसने देखा कि वे तो 'भय-मारुत-ग्रसे' भागे चले जा रहे हैं। अतः रावण यहाँ स्थिति को सँभालते हुए आदेश देता है कि ठीक है इसी तरीके से सब योद्धा दौड़ें और जहाँ-कहीं भी बानर भालु मिलें उसको खा डालें। यदि 'एहि बधि' पाठ स्वीकार किया जाता है तो 'चले भागि भय मारुत ग्रसे' से कोई संबन्ध नहीं बैठता। इसलिए 'एहि बिधि' पाठ एकदम असंगत नहीं माना जा सकता। गीता प्रेस, काशिराज तथा डा० गुप्त ने 'एहि बिधि' ही स्वीकार किया है।

३—एक बार अति सैसव चरित किए रघुबीर॥ ७।७५। सभा

'अति सैसव' का दूसरा पाठ भेद 'अतिसय सब' है। इस विषय में टिप्पणी है—

'सैसव चरित = बाल लीला—इस अर्थ को न समझकर प्रतियों में 'अतिसय सब' या 'अतिसय सुखद' पाठ बिगाड़ा गया है। जब पाठ ही भ्रष्ट है तो अर्थ कहाँ से ठीक होगा।' (पृ० ४०) लेखक का तर्क है कि यह उक्ति भुसुंडि-गरुड़ संवाद की है। गरुड़ ने अपना अनुभव बतलाते हुए कहा था—'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संकट भारी॥' उसी को सान्त्वना देते हुए भुसुंडि अपना अनुभव बतलाते हैं कि जिस प्रकार आपको 'अति नर अनुसारी चरित' देखकर संशय उत्पन्न हुआ उसी प्रकार मुझे भी 'अति सैसव चरित' देखकर मोह हुआ। इसलिए 'अतिसय सब चरित' के स्थान पर 'अति सैसव चरित' ही अधिक संगत है।

लेखक का तर्क बहुत ही संगत है किन्तु 'अतिसय सब चरित' पाठ भी उतना असंगत नहीं है जितना वह प्रतीत हुआ है। इस पाठ के पक्ष में एक तर्क तो यह है कि देखि चरित

अति नर अनुसारी' में 'अति' क्रियाविशेषण विशेषण पद 'नर-अनुसारी' की विशेषता बतलाता है, किन्तु 'अति सैसव चरित' मे 'सैसव चरित' संज्ञा पद है इसलिए क्रियाविशेषण 'अति' का प्रयोग उसकी विशेषता बतलाने के लिए नहीं किया जा सकता। दूसरा तर्क है कि भुसुंडि ने जिस चरित की चर्चा गरुड़ से की है उसमें सैसव लीलाओं की अतिशयता नही है अपितु भगवत् चरित्र की अतिशयता है जिसमें राम की पकड़ में न आने के लिए कौए का उड़ना, सप्तावरण पार करने पर भी राम की भुजा का पीछा करना, व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिरना और राम के मुस्कराने पर उनके उदर में प्रविष्ट होकर 'बहु ब्रह्माण्ड में सौ-सौ वर्ष तक निवास करना और इस प्रकार एक-सौ-एक कल्प तक राम के उदरस्थ ब्रह्माण्डों निकाया' को देखना, एक-एक ब्रह्माण्ड में में ही भ्रमण करना और मुख से बाहर निकलना। विचित्रता यह है कि यह सब 'उभय घड़ी' मे ही घटित हुआ था। इस घटना में केवल शैशव चरित की ही 'अति' नही है अपितु 'सब' प्रकार की अति है, जिसे मन और वाणी से न समझा जा सकता न बखाना जा सकता है। भगवान् का ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों ही अचिन्त्य हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'अतिसय सब' ही अधिक संगत प्रतीत है। काशिराज और माताप्रसाद का पाठ 'अति सैसव' है जबकि गीता प्रेस का पाठ 'अतिसय सब' है।

'मानस के प्राचीन क्षेपक' शीर्षक निबन्ध में काशिराज की हस्तलिखित प्रति के क्षेपकों का प्रकाशन किया गया है। इस निबंध में अयोध्याकाण्ड के 'तापस-प्रकरण' को क्षेपक ही स्वीकार किया गया है। इस क्षेपक के विषय में लेखक ने अपनी सम्मति भी लिखी है। तापस-प्रकरण की शैली तुलसी की शैली से इतना अधिक मेल खाती है कि प्रक्षिप्त मानते हुए भी सभी संस्करणों में उसे स्थान मिला है। यह प्रकरण प्रक्षिप्त है यह तो घटनाक्रम पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है। ग्रामवधूटियों के वार्तालाप के बीच में आठ अर्द्धाली और एक दोहे का यह प्रकरण बिना किसी पूर्वापर प्रसंग के डाल दिया गया है। प्रक्षिप्त होते हुए भी यह कवि द्वारा लिखित नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता। बहुत सम्भव है किसी विशेष मनःस्थिति मे तपस्वी का यह चित्र कवि की चेतना में स्फुरित हुआ हो और उसकी लेखनी ने उसको वैसे-का वैसा अंकित कर दिया हो। मानस-अनुशीलनकार ने इस विषय में हनूमान जी द्वारा लिखित होने की सम्भावना पर विचार किया है और इस सम्भावना से वह कुछ-कुछ सहमत हुआ भी प्रतीत होता है, क्योंकि इसका निराकरण नहीं किया। तापस के रूप में राम से मिलने कौन आया ? इस विषय में उसने अनेक सम्भावनाओं—अग्नि, अगस्त्य का शिष्य, कामदगिरि—पर विचार किया है। अन्तिम सम्भावना स्वयं तुलसी के विषय में है। जिस समय राम कवि की जन्मभूमि के समीप से होकर गुजर रहे थे "तो अपने निवासस्थान के इन लोगों के दौडकर मिलते समय गोस्वामी जी ध्यानावस्थित हो गए और स्वयं भी मन से (ध्यान में) मिलने गए थे, उसका यथातथ्य वर्णन हनुमान जी ने लिख दिया, 'ताको गोसई जी ने नहीं मिटाया तात ग्रन्थ में रहि गया।"

गोस्वामी तुलसीदास के आत्म-निवेदन के विषय में लेखक ने दो शंकाएँ प्रस्तुत की हैं एक तो यह कि तपस्वी के लिए कवि ने कुछ ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग तुलसी जैसा निरभिमान भक्त अपने लिए कभी नहीं कर सकता दूसरा यह कि राम के साथ

चलनकाल निषादराज को उसने तब गले लगाया जब उसने प्रणाम किया। तुलसी जैसे किंकर के लिए इस 'अहं' की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

लेखक को निम्नलिखित अर्द्धाली का उपमान विधान भी दोषपूर्ण प्रतीत हुआ है—राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा।। उनकी शंका यह है कि परम रंक जनु पारस पावा' की उत्प्रेक्षा में तापस 'पारस' तथा राम 'परम रंक' से उपमित हो जाते है। लेखक के विचार से यह प्रक्रम भंग दोष है। मेरे विचार में—

—काव्य-दोष वाले तर्क का प्रत्याख्यान तो इस प्रकार किया जाता है कि यहाँ उपमा एकदेशीय है जिसका विधान भगवान् के वात्सल्य की अतिशयता सूचित करने के लिए किया गया है। अन्यथा—'चले जहाँ रावन ससि राहू' ३।२८।६ तथा सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं ।।२।१४२।२ जैसे प्रसंगों में इसमें भी भयंकर दोषों की कल्पना की जा सकती है। तपस्वी कौन है? इसका उत्तर खोजने में मानस-प्रेमियों को बहुत रस मिलता है और मिलता रहेगा किन्तु इसका निर्णयात्मक समाधान न अभी तक हो पाया है और न भविष्य में कभी हो सकेगा। स्वयं तुलसी ने इस तपस्वी के विषय में लिखा है—'कवि अलखित गति' अर्थात् कवि तुलसी के लिए इस तपस्वी की गति अलक्षित है। वह उसे दण्ड प्रणाम आदि करते हुए देख तो रहा है। किन्तु कह नहीं सकता कि ग्रामवासियों के बीच में वह कहाँ से आटपका और है कौन? जब स्वयं मानसकार इस तपस्वी को नहीं पहचान सका तब मानस के पाठकों के लिए उसका पहचानना असंभव ही है। तुलसी का भक्त रूप ही यदि अपने इष्ट के दर्शन करने के लिए तपस्वी का वेश धारण करके आया है तो उनके कवि को इस तथ्य का ठीक-ठीक ऐहसास नहीं है। लेखक के अपने निबन्ध में और किसी क्षेपक का विवेचन नहीं किया।

मानस के संवाद—रामचरित मानस के संवादों पर लिखा गया निबन्ध व्याख्यात्मक है। कवि ने चार संवादों का आयोजन किया है और 'मानस' के लम्बे रूपक में उनको 'घाट मनोहर चार' कहा है।

अन्य टीकाकारों के समान अनुशीलनकार ने इन संवादों पर ज्ञानघाट, कर्मकाण्ड घाट, भक्ति तथा प्रपत्ति घाट का आरोप किया है और सरोवरों के घाटों के समान उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाएँ इन घाटों की निर्धारित की हैं। मेरे विचार से चार संवादों का आयोजन कवि ने प्रबन्ध में नाटकीयता लाने के लिए, चरित्र के रहस्यों का उद्घाटन करके उन पर टिप्पणी करने के लिए तथा जब कोई श्रोता या वक्ता पात्र रूप में अपनी भूमिका अदा कर रहा है, तब उसका आख्यान किसी अन्य वक्ता के द्वारा कराने के उद्देश्य से किया है। उदाहरण के लिए मानस के मूल वक्ता शिव जी हैं किन्तु बालकाण्ड के प्रारम्भ में जब शिव—सती—उमा चरित्र का आख्यान किया जाता है तब उसके श्रोता-वक्ता भरद्वाज-याज्ञवल्क्य होते हैं, इसी प्रकार उत्तरकाण्ड में जब भुसुंडि-गरुड़ के चरित्र का आख्यान किया गया है तब उसके श्रोतावक्ता शिव-पार्वती होते हैं। किन्तु मानस के किसी भी अन्तःसाक्ष्य के आधार पर शिव-पार्वती संवाद को ज्ञान-घाट याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद को कर्मकाण्ड घाट इत्यादि नहीं माना जा सकता। मानस आरम्भ से ही एक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है इसलिए जिज्ञासु

पाठकों को केवल कवि के मंतव्य का आख्यान करने तक तृप्ति नहीं होती, वह अपनी परितृप्ति के लिए अपनी कल्पना का योग-दान भी उसमें करना चाहता है। यही बात मानस की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में परिलक्षित होती है। लिपिकारों ने कहीं लम्बे-लम्बे क्षेपक जोड़-कर, कहीं एक-दो चौपाइयों को जोड़कर कहीं किसी शब्द के स्थान पर अपनी मनपसन्द का शब्द बदल कर इस अनुराग की अभिव्यक्ति की है।

छंद-संख्या और विषयानुक्रमणी शीर्षक निबन्ध में लेखक ने परिश्रम पूर्वक प्राचीन प्रतियों के आधार पर दोहा-चौपाइयों तथा अन्य छन्दों की संख्या सोपानानुक्रम से तैयार की है। निबन्ध में कथाक्रम का संकलन भुसुंडि-गरुड़ सम्वाद में वर्णित प्रकरणों के अनुसार किया गया है। यह निबन्ध लेखक के कठिन अध्यवसाय का परिचायक है।

उक्त मूल निबन्धों के अतिरिक्त सम्पादक ने रामचरित मानस के विषय में उपयोगी सामग्री परिशिष्टों के रूप में दी है। परिशिष्ट घ में सभा तथा काशिराज संस्करणों के वर्तनी भेद तथा पाठ-भेद की सूची प्रस्तुत है। तुलसी पुस्तकालय भदैनी तथा सभा के पुस्तकालय में उपलब्ध मानस की १३१ हस्तलिखित प्रतियों का ब्यौरा मय छोटे-छोटे नमूनों के दिया गया है। मानस विद्यार्थियों के लिए यह लाभकारी है।

ग्रन्थ के सफल सम्पादन के लिए श्री सुधाकर पाण्डेय धन्यवाद के पात्र हैं। स्वर्गीय चौबे जी के प्रति उनका भक्तिमय अनुराग स्पृहणीय है। स्वर्गीय शम्भुनारायण चौबे के असामयिक निधन के कारण अपने संस्करण की भूमिका तैयार नहीं कर सके थे। उसके अभाव में 'मानस-अनुशीलन' के निबन्ध ही उनके अध्यवसाय और सम्पादन-विधि का कुछ अनुमान देते हैं।

—शम्भुनाथ पाण्डेय

रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स एक्ट के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

१.	प्रकाशक का नाम	:	हिन्दुस्तानी
२.	प्रकाशन की तिथि	:	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३.	मुद्रक का नाम	:	पियरलेस प्रिन्टर्स, इलाहाबाद
४.	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
५.	पता	:	पियरलेस प्रिन्टर्स, १ बाई का बाग इलाहाबाद
६.	प्रकाशक	:	श्री उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७.	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
८.	पता	:	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९.	संपादक का नाम	:	श्री बालकृष्ण राव-प्रधान संपादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा-सहायक संपादक
१०.	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
११.	पता	:	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२.	स्वामित्व	:	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मैं उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिलकुल ठीक है।

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष